डॉ० परममित्रशास्त्रिकृत

हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि

भाषावैज्ञानिक

अपभ्रंश भाषा का

संपादक
रमानाथ पाण्डेय

हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि

अब तक सम्भवतया हिन्दी में विशुद्ध रूप से अपभ्रंश भाषा और व्याकरण पर कोई उल्लेख्य पुस्तक प्राप्त नहीं थी। यहाँ पहली बार हिन्दी में ऐसा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पुरानी भाषा के विकास में अपभ्रंश के योगदान पर विचार करते हुये अपभ्रंश व्याकरण का अध्ययन करके उससे आधुनिक भाषाओं का विशेषतया हिन्दी का विकास दिखाया गया है। इस कारण हिन्दी भाषा और व्याकरण की दृष्टि से भी अपभ्रंश का अध्ययन अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण माना जायेगा। प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य उद्देश्य इन उपेक्षित पक्षों की पूर्ति है।

अपभ्रंश-भाषा का समुचित ज्ञान हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों से ही होता है। हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के लिए 120 सूत्र दिये हैं। अपभ्रंश सूत्रों के अलावा प्राकृत प्रकरण के द्वितीय पाद के धात्वादेश भी वस्तुतः अपभ्रंश के ही सहकारी रूप में है जबकि उन्होंने शौरसेनी के लिए 260-286, मागधी के लिये 287-302, पैचाशी के लिए 303-324 और चूलिका पैशाची के लिए 325-328 ही सूत्र दिये हैं। अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश पर इतना विस्तार से नहीं लिखा है। यद्यपि मार्कण्डेय ने अवश्य अपभ्रंश पर विस्तार से लिखा है, किन्तु व्याकरण का ज्ञान हेमचन्द्र का ही सबसे अधिक परिपूर्ण दीख पड़ता है। इन्होंने प्राकृत व्याकरण के आठवें अध्याय के 120 सूत्रों में अपभ्रंश का ज्ञान दिया है। इसमें भी अन्तिम दो सूत्र सामान्य प्राकृत भाषा पर लिखा है। अवशिष्ट 118 सूत्रों को व्याकरण के विभिन्न रूपों में विकसित किया गया है।

ISBN 81-85970-19-X

डॉ० परममित्रशास्त्रिकृत

हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि

(अपभ्रंश भाषा का भाषावैज्ञानिक अध्ययन)

संपादक

डा० रमानाथ पाण्डेय

रिसर्च एसोसियेट

बौद्ध-विद्या विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली - 7

परममित्र प्रकाशन

डी पॉकेट-214, दिलशाद गार्डेन

दिल्ली - 110095, (भारत)

1999

प्रकाशक :
परममित्र प्रकाशन
डी-पॉकेट, 214 दिलशाद गार्डेन, दिल्ली-110095

शाखा :
5818/6, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर
दिल्ली- 110007
टेलिफोन : 2917538, 2295900
पंडरा, राँची (बिहार)
टेलिफोन : 510298

प्रथम संस्करण -1999

© लेखकाधीन

मूल्य : 500.00

मुद्रक : त्रिवेणी ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

ISBN 81-85970-05-X

Laser Typsetting :
P.M COMPUTERS
5818/6, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007, Phone : 2917538, 2295900

समर्पण

पूज्यनीया प्रातःस्मरणीया
त्यागमयीमूर्ति स्वर्गीया
श्रीमती सोनफूल देवी
के पवित्र चरणों में
सश्रद्ध समर्पित

परममित्र

संपादकीय

भारतीय आर्यभाषा को विकास की दृष्टि से प्राचीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक तीन भागों में विभक्त किया गया है। आर्यभाषा के इन तीनों रूपों में से प्राकृत का सम्बन्ध मध्यकालीन आर्यभाषा से है। वस्तुतः भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से एक भाषा का युग तभी तक माना जाता है जब तक कि वह सामान्य लोकभाषा के रूप में अथवा जीवित भाषा के रूप में लोगों द्वारा प्रयुक्त होती है, उसमें साहित्यिक रचना हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। ज्यों ही सामान्य लोकभाषा के रूप में जनता द्वारा किसी भाषा का प्रयोग बन्द हो जाता है, त्यों ही उस भाषा का युग समाप्त हो जाता है, चाहे उस भाषा में साहित्यिक रचना शताब्दियों तक होती रहे। मध्यकालीन आर्यभाषा को भी तीन युगों में विभक्त किया गया है—

पाली युग (500 ई० पू० से 1 ई० तक), प्राकृत युग (1 ई० से 500 ई० तक) तथा अपभ्रंश युग (500 से 1000 ई० तक)। इन तीनों रूपों में से अन्तिम रूप अपभ्रंश भाषा का है जो आधुनिक सभी भारतीय आर्यभाषाओं का मूल स्रोत माना जाता है। हिन्दी का तो अपभ्रंश से बहुत गहरा सम्बन्ध है। वस्तुतः हिन्दी भाषा का सम्यक् एवं यथार्थ स्वरूप समझना अपभ्रंश के अध्ययन के बिना अत्यन्त ही कठिन है।

अपभ्रंश भाषा के विषय में विशद रूप से समुचित ज्ञान हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों से ही होता है। उन्होंने अपने **प्राकृत व्याकरण** के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के 329वें सूत्र से 448वें सूत्र तक अपभ्रंश भाषा एवं व्याकरण के नियमों का निर्देश किया है और प्रयोगों के उदाहरणार्थ अपभ्रंश दोहों को उद्धृत भी किया है। **कुमारपाल चरित** के अष्टम सर्ग में उनके द्वारा रचित श्लोक भी अपभ्रंश भाषा का वैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। हेमचन्द्र (1088-1172 ई०) जैनों के आचार्य थे तथा सिद्धराज एवं कुमार पाल जैसे राजाओं के गुरु।[1] वे संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश

के महान् विद्वान् थे। उन्होंने अपने काल तक प्राप्त विविध स्रोत सामग्री पाणिनि की **अष्टाध्यायी** और वररूचि के **प्राकृत प्रकाश** आदि के आधार पर अपने विशद ग्रन्थ की रचना की। अपने प्राकृत व्याकरण में उन्होंने प्राकृत के अन्य भेदों महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची की चर्चा करने के पश्चात् अन्त में अपभ्रंश का निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश में प्रयुक्त देशी शब्दों के परिचयार्थ देशीनाममाला की भी रचना की है जो कि अत्यन्त उपादेय है।

अपभ्रंश को अपशब्द भी कहते हैं—अपशब्द का अर्थ है—जो शब्द संस्कृत व्याकरण से असिद्ध है, जिन शब्दों के ऊपर संस्कृत व्याकरण के विधि विधान का कोई प्रभाव परिलक्षित न हो उन्हें अपभ्रंश अथवा अपशब्द कहते हैं; जैसे—गौः शब्द है। इस शब्द के गावी, गोपी, गोपोतलिका आदि जितने भी रूपान्तर हैं, वे सब अपभ्रंश माने जाते हैं। यही परम्परा अन्य अपभ्रंश शब्दों के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। पतञ्जलि आदि संस्कृत-वैयाकरणों के अनुसार संस्कृत से भिन्न सभी प्राकृत भाषायें अपभ्रंश के अन्तर्गत ही स्वीकार की गयी हैं किन्तु प्राकृत वैयाकरणों के मतानुसार अपभ्रंश-भाषा प्राकृत-भाषा का ही एक अवान्तर भेद है। **प्राकृत चन्द्रिका** के अनुसार अपभ्रंश-भाषा के 27 प्रकार माने गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक डा० परममित्र शास्त्री ने हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि का निर्धारण करते हुये अपभ्रंश भाषा का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से सूक्ष्म एवं समुचित विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी इस कृति में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपभ्रंश भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्गम स्रोत है। यह लगभग 5, 6 सौ वर्षों तक जनता की भाषा रही सम्भवतया 500 ई० से लेकर 1000 ई० तक अविकल रूप से यह जनभाषा रही। यह काल भारत का संक्रान्ति काल है। अपभ्रंश के विकास में अनेक उतार चढ़ाव आये, इसको सांस्कृतिक महत्त्व मिला। यद्यपि यह मुख्यतया निम्न वर्गों एवं मध्यम वर्गों की भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। बौद्ध सम्प्रदाय के सिद्धों ने, जैनियों ने तथा शैवों ने भी इसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आन और शान पर मरने वाले राजपूतों को तो यह ललकारती ही थी, इतना ही नहीं प्रेमाभिव्यक्ति भी इस भाषा में प्रचुर मात्रा में हुई। 1000ई० के पश्चात् यह परिनिष्ठित रूप में परिणित होकर परिष्कृत एवं

ग्राम्य अपभ्रंश इन रूपों में विभक्त हो गयी है। हेमचन्द्र ने इन दोनों अपभ्रंशों का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है वह परिष्कृत अपभ्रंश है जिसका समय 1100 ई० से 1200 ई० तक माना जा सकता है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश है। आधुनिक हिन्दी की तरह यह अपने समय में सर्वत्र मान्य थी। अपभ्रंश ही एक ऐसी विभाजक रेखा है जो भाषा की दृष्टि से पुरानी एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं की कड़ी जोड़ती है इसी से न० भा० आ० के शब्दों के विकास का पता चलता है। वस्तुतः हिन्दी भाषा के रचना विधान का तो सम्पूर्ण ढ़ाँचा अपभ्रंश से समानता रखता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि अपभ्रंश के शब्दों की ध्वनि प्राकृत से बहुत कुछ समानता रखती है किन्तु उसका झुकाव आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक है। अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट और पुरानी हिन्दी के समान है अतः अपभ्रंश एवं हिन्दी ध्वनियों में काफी समानता है।

प्रकाशित अपभ्रंश-साहित्य के पुस्तकों में डॉ० हरमन याकोबी ने 1918 ई० में **भविसयत्त कहा** तत्पश्चात् **सनत्कुमार चरिउ** को विद्वतापूर्ण भूमिका के साथ संपादित किया जिसमें अपभ्रंश का सामान्य परिचय प्राप्त होता है। तदनन्तर स्व० डा० पी० डी० गुणे द्वारा संपादित **भविसयत्त कहा** विचार गर्भित प्रस्तावना के साथ बड़ौदा से प्रकाशित हुआ। मुनि जिन विजय जी तथा पं० नाथूराम प्रेमी ने जैन साहित्य के भण्डारों से अपभ्रंश साहित्य का अन्वेषण कर विभिन्न लेख लिखे। इन्हीं की प्रेरणा से श्री आदिनाथ उपाध्याय, डॉ० हीरालाल जैन, डा० पी० एल० वैद्य, डा० हरिवल्लभ भयाणी आदि विद्वानों ने अपभ्रंश पर विभिन्न प्रकार के शोधात्मक कार्य किये जिसके परिणाम स्वरूप परमप्पयासु, योगसार, णामकुमार चरिउ, करकंडु चरिउ, पाहुड़ दोहा, जसहर चरिउ, महापुराण, पउमचरिउ, पउमसिरिचरिउ, सन्देशरासक जैसी अनेक पुस्तकों का महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ सम्पादन किया गया। इसी क्रम में स्वर्गीय डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का गवेषणात्मक लेख 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में छपा जो बाद में **सन्देशरासक** की भूमिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ। कालान्तर में प्राच्य क्षेत्र के **बौद्धगान व दोहा** एवं **कीर्तिलता** पर डा० हरप्रसाद शास्त्री ने अत्यन्त उपयोगी कार्य किये, इसी सन्दर्भ में पं० राहुल सांकृत्यायन

की सम्पादित **सरह दोहांकोश** की भूमिका तथा डॉ० बाबूराम सक्सेना का **कीर्तिलता** का हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादन एवं इसके द्वितीय संस्करण में भाषा वैज्ञानिक विवेचन भी इस क्षेत्र के प्रशंसनीय कार्य कहे जा सकते हैं।

प्राकृत व्याकरणों के संपादित संस्करण एवं उनकी भूमिकाओं में डॉ० पिशेल का **ग्रामेटिक डर प्राकृत स्पार्कन** में प्राकृत व्याकरण पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिसका हिन्दी अनुवाद **प्राकृतभाषाओं का व्याकरण**, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित किया गया जो अपभ्रंश भाषा पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। डॉ० पिशेल के अतिरिक्त ग्रियर्सन, एल० नीति दोलचि, डॉ० पी० एल० वैद्य, भट्टनाथ स्वामी आदि का उन व्याकरणों के संपादित संस्करण विस्तृत भूमिकाओं के साथ प्रकाशित हुये हैं, इस संदर्भ में डा० चाटुर्ज्या की **उक्तिव्यक्ति प्रकरण** की भूमिका भी अत्यन्त उपादेय कही जा सकती है।

विविध भाषा वैज्ञानिकों ने भाषाओं के अध्ययन के प्रसंग में अपभ्रंश पर भी दृष्टिपात किया है जिनमें मुख्य रूप से डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का **द ओरिजिन एण्ड डेवलपमैन्ट आव द बंगाली लैंग्वेज** डा० बाबूराम सक्सेना का **इवोल्यूशन आव अवधी**, डा० जार्ज ग्रियर्सन का **लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया** तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा का **हिन्दी भाषा का इतिहास** आदि कार्य भी उपयोगी कहे जा सकते हैं। इसी क्रम में टर्नर, व्लाख, याकोबी, एवं महन्दाले इत्यादि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश सम्बन्धी उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश पर मुख्यतया हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों को आधार मानकर स्वतन्त्र एवं साक्षात रूप से प्रकाश डालने वाले पुस्तकों का अभाव है तथा हिन्दी में तो विशुद्ध रूप से अपभ्रंश भाषा और व्याकरण पर कोई विशेष उल्लेख्य ग्रन्थ देखने को नहीं मिला। डॉ० नामवर सिंह का **हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान**, डॉ० भोला शंकर व्यास का **प्राकृत पैंगलम् का भाषा शास्त्रीय और छन्दः शास्त्रीय अध्ययन** अपभ्रंश पर विचार अभिव्यक्त करते हैं किन्तु डॉ० नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक में भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का मात्र परिचयात्मक ज्ञान करवाया है। डॉ० भोलाशंकर

व्यास ने अवहट्ठ पर ही विशेष रूप से बल दिया है तथा छन्दः शास्त्रीय अध्ययन की ओर उनका झुकाव अधिक है। डॉ० श्री तगारे का अंग्रेजी में लिखित **अपभ्रंश व्याकरण** यद्यपि महत्वपूर्ण है किन्तु उनका ध्यान अपभ्रंश शब्दों के विकासात्मक अध्ययन पर ही टिका हुआ है। डॉ० वीरेन्द्र श्री वास्तव का **अपभ्रंश भाषा का अध्ययन** इस सम्बन्ध में अवश्य एक प्रशंसनीय कार्य है किन्तु उन्होंने भी मात्र ध्वन्यात्मक, रूपात्मक एवं अर्थात्मक दृष्टि से ही मुख्यतया अपभ्रंश भाषा पर विचार प्रस्तुत कियां है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम स्तुत्य प्रयास डॉ० परममित्र शास्त्री का रहा है जिन्होंने **सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण** नामक पुस्तक में सर्वप्रथम अपभ्रंश विषयक गम्भीर एवं विश्लेषणात्मक कार्य प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सन् 1967 ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुयी थी। उन्होंने अपनी पुस्तक में सूत्रशैली और हेमचन्द्र के व्याकरण को दो भागों में समाविष्ट किया है जिसके प्रथम भाग में क्रमशः व्याकरण शास्त्र, संस्कृत के सूत्रबद्ध व्याकरण, पालि का सूत्रबद्ध व्याकरण, प्राकृत का सूत्रबद्ध व्याकरण, प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्र और उनकी कृतियाँ, अपभ्रंश और देशी की समुचित चर्चा की गयी है। पुस्तक के दूसरे भाग में ध्वनि प्रकरण, कारक प्रकरण, क्रिया प्रकरण, कृदन्त प्रकरण और रचनात्मक प्रत्यय आदि पर सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। पुस्तक के परिशिष्ट में धात्वादेश दिये गये हैं। डा० शास्त्री ने अपनी पुस्तक के प्रत्येक अध्यायों में इस बात का यत्न किया है कि विषय-वस्तु का ऐतिहासिक क्रम से विश्लेषणात्मक तत्त्व प्रस्तुत करते हुये सहज एवं सुबोध रूप में उपलब्धियाँ स्पष्ट की जायें।

डॉ० शास्त्री की यह कृति **हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि** उनकी उपर्युक्त पुस्तक का ही कुछ हद तक परिवर्तित, परिमार्जित एवं परिवर्धित रूप कहा जा सकता है। तथापि इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पुस्तक में आचार्य हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों पर स्वतन्त्र, नवीन एवं वैज्ञानिक दृष्टि से गवेषणात्मक चिन्तन किया गया है और साथ ही अपभ्रंश भाषा एवं व्याकरण पर विभिन्न दृष्टियों से समुचित प्रकाश डाला गया है। यह पुस्तक समग्र रूप से चौदह अध्यायों में विभाजित

है जिनमें भारतीय आर्यभाषा, प्राकृत, अपभ्रंश भाषा, अपभ्रंश और देशी, प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश व्याकरण, व्याकरण प्रस्तुत करने की विधि, ध्वनि विचार, रूप विचार, अव्यय, रचनात्मक प्रत्यय, क्रियापद, धातुसाधित संज्ञा एवं वाक्य रचना पर गम्भीर विवेचन किया गया है। पुस्तक के अन्त में उपसंहार है जिसमें विवेच्य विषय को उपसंहृत किया गया है। परिशिष्ट में हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों में उद्धृत दोहों में आये हुये शब्दों का शब्द कोश भी दिया गया है।

पुस्तक के प्रकाशन में अनेक उतार चढ़ाव आये। यद्यपि इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपि मुझे परम पूज्य शास्त्री जी ने 1991 ई० में ही दे दी थी तथा इसका प्रकाशन भी उसी समय आरम्भ हो गया था यहाँ तक कि लगभग 250 पृष्ठ छप चुके थे किन्तु अचानक लैटरप्रेस के बन्द हो जाने से इस कार्य में व्यवधान उत्पन्न हो गया। पुनः इसकी कम्पोजिंग कम्प्यूटर से करवानी पड़ी। इसके साथ ही प्रूफ रीडिंग आदि कार्य भी दुबारा करना पड़ा। इस प्रकार इसे पुस्तकाकार रूप प्रदान करने में लगभग आठ वर्ष लग गये। जो भी हो आज इसे इस रूप में देखकर मुझे अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है जिन्हें शब्दों से अभिव्यक्त कर पाने में असमर्थ हूँ।

आभार प्रदर्शित करना यद्यपि मात्र औपचारिकता ही है तथापि पूज्य एवं सहृदय जनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना परम कर्तव्य मानना चाहिये। सर्वप्रथम मैं अपने स्वर्गीय पिताश्री परम पूज्य डॉ० रघुनाथ पाण्डेय के प्रति नतमस्तक होना अपना परम पावन कर्तव्य समझता हूँ जिनके आशीर्वाद से ही मेरी रूचि साहित्य, कला एवं अध्यात्म के प्रति बचपन से रही। प्रस्तुत पुस्तक के मूल लेखक एवं मेरे श्वसुर अतः पिताश्री डॉ० परममित्र शास्त्री के प्रति तो मैं अपनी कृतज्ञता को भी अभिव्यक्त करने में असमर्थ हूँ। इन्होंने अपनी मूल्यवान कृति का संपादन कार्य मुझ जैसे व्यक्ति को दिया यही उनका मेरे प्रति आशीर्वाद है जिसे मैं जन्म जन्मान्तर तक विस्मृत नहीं कर सकता। संस्कृत साहित्य के लोकविश्रुत विद्वान् गुरुवर स्वर्गीय प्रो० व्रजमोहन चतुर्वेदी (संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) के प्रति विशेष रूप से विनत हूँ, जिनका साहित्यिक चिन्तन आरम्भ से

ही इस पथ पर पाथेय रहा है। इसके अतिरिक्त राजनीति शास्त्र के प्रख्यात विद्वान् प्रो० महेन्द्र प्रसाद सिंह (प्रो० राजनीति शास्त्र, दिल्ली विश्वविद्यालय), भूगोल विभाग के विश्रुत विद्वान् प्रो० रमेश चन्द्र धुस्सा (अयोवा, यू० एस० ए०) एवं प्रो० शिवनारायण शास्त्री (प्रो० संस्कृत विभाग, करोड़ी मल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) का इस पुस्तक के संपादन के लिये जो समय-समय पर प्रेरणा और उत्साह मिलता रहा है, उसे अभिव्यक्त कर उनके महत्व को घटाना नहीं चाहता। पुस्तक के कम्पोजिंग तथा टाइप सैटिंग के लिये श्री राहुल गुप्ता एवं श्रीमती विद्या मिश्र भी धन्यवाद के पात्र हैं। इनके अतिरिक्त दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के कर्मचारियों का भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर एतत्सम्बन्धी पुस्तकें उपलब्ध करवाने में सहायता की।

दिल्ली **रमानाथ पाण्डेय**

20 अक्टूबर 1998

संदर्भ

1. **कुमारपाल चरित** डा० पी० एल० वैद्य का संस्करण भूमिका, पृ० 23 तथा पिशेल, पृ० 76

– – – – –

आमुख

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के लिये मध्य भारतीय आर्यभाषाओं का अध्ययन परमावश्यक है, विशेषतः अपभ्रंश का अध्ययन तो अत्यावश्यक है। शनैः-शनैः अपभ्रंश का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने लगा है। अपभ्रंश आधुनिक सभी भारतीय आर्यभाषाओं का आधार स्वरूप है। हिन्दी मैं जो अयोगात्मकता है उसका बहुत कुछ स्रोत अपभ्रंश ही है। संस्कृत संश्लिष्ट भाषा है, पालि और प्राकृत भी बहुत कुछ मात्रा में उससे अपना पिंड नहीं छुड़ा पातीं, किन्तु अपभ्रंश ने उससे अपने को मुक्त कर लिया है। इस दृष्टि से हिन्दी का अपभ्रंश से बहुत अधिक सामीप्य है। हिन्दी भाषा का समुचित रूप समझने के लिये अपभ्रंश का अध्ययन आवश्यक है।

अब तक मुझे हिन्दी में विशुद्ध रूप से अपभ्रंश भाषा और व्याकरण पर कोई उल्लेख्य ग्रन्थ देखने को नहीं मिला। **डॉ० नामवर सिंह** का **हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान** और **डॉ० भोला शंकर व्यास** का **प्राकृत पैंगलम् का भाषा शास्त्रीय और छन्दः शास्त्रीय अध्ययन** अवश्य अपभ्रंश पर प्रकाश डालते हैं। **डॉ० नामवर सिंह** ने भाषा और साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का मात्र परिचयात्मक ज्ञान करवाया है। **डॉ० भोलाशंकर व्यास** ने अवहट्ट पर ही विशेष दृष्टि डाली है और छन्दः शास्त्रीय अध्ययन पर ही विशेष बल दिया है। **डॉ० श्री तगारे** का अंग्रेजी में लिखित अपभ्रंश व्याकरण मूल्यवान् अवश्य है किन्तु उनका ध्यान अपभ्रंश शब्दों के विकासात्मक अध्ययन पर विशेष है।

विशुद्ध भाषा और व्याकरण की दृष्टि से अपभ्रंश का और विशेषतया हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों को आधार मानकर अध्ययन अभी तक हिन्दी में नहीं हुआ है। यहाँ पहली बार हिन्दी में ऐसा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पुरानी भाषा के विकास में अपभ्रंश के योगदान पर विचार करते हुये अपभ्रंश व्याकरण का अध्ययन करके, उससे आधुनिक भाषाओं का विशेषतया हिन्दी का, विकास दिखाया गया है। इस कारण हिन्दी भाषा और व्याकरण की

दृष्टि से भी अपभ्रंश का अध्ययन अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना जायेगा। प्रस्तुत पुस्तक का मुख्य उद्देश्य इन उपेक्षित पक्षों की पूर्ति है।

अपभ्रंश भाषा का समुचित ज्ञान **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों से ही होता है। **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश के लिये 120 सूत्र दिये हैं। अपभ्रंश सूत्रों के अलावा प्राकृत प्रकरण के द्वितीय पाद के धात्वादेश भी वस्तुतः अपभ्रंश के ही सहकारी रूप में हैं जबकि उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद में शौरसेनी के लिये 260-286, मागधी के लिये 287-302, पैशाची के लिये 303-324 और चूलिका-पैशाची के लिये 325-328 ही सूत्र दिये हैं। अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश पर इतने विस्तार से नहीं लिखा है। **मार्कण्डेय** ने अवश्य अपभ्रंश पर विस्तार से लिखा है, इससे अपभ्रंश भाषा के विस्तार और विकास का पता चलता है। अपभ्रंश भाषा का मुख्य तीन भेद–नागर, उपनागर और ब्राचड़ करके कुछ लोगों ने 27 क्षेत्रीय बोलियों का उल्लेख किया है। **मार्कण्डेय** ने अपभ्रंश भाषा की सीमा का ज्ञान अधिक कराया है, किन्तु व्याकरण का ज्ञान **हेमचन्द्र** का ही सबसे अधिक परिपूर्ण दीख पड़ता है। इन्होंने प्राकृत व्याकरण के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के 120 सूत्रों में अपभ्रंश का ज्ञान दिया है। इसमें भी अन्तिम दो सूत्र सामान्य प्राकृत भाषा पर लिखा है। अवशिष्ट 118 सूत्रों को व्याकरण के निम्न रूपों में विभक्त किया है। सूत्र 329, 396 से 400 तक स्वर व्यंजन विकार की ध्वनि प्रक्रिया, सूत्र 331 से 354 (410-442) शब्द रूपावली विधान, सूत्र 330, 344 से 346 सामान्य नियम, सूत्र 332 से 339, 342, 347 अकारान्त पुल्लिंग, सूत्र 340, 341, 343 इकारान्त, उकारान्त पुल्लिंग, सूत्र 348 से 352 स्त्रीलिंग, सूत्र 353, 354 नपुंसक लिंग, सूत्र 355 से 381 सार्वनामिक रूपावली, सूत्र 382 से 389 तिङन्त रूपावली, सूत्र 390 से 395 धात्वादेश, सूत्र 401, 404 से 409, 414 से 420, 424 से 428, 439, 444-अव्यय; सूत्र 402, 403, 407, 409 से 413, 421 से 423, 434, 435 इतर आदेश, सूत्र 429 से 433, 437 तद्धित प्रत्यय; सूत्र 438 से 443 कृत् प्रत्यय, सूत्र 445 लिंग; सूत्र 446 सामान्य स्वरूप।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों में उद्धृत दोहों को देखने से प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने कई बोलियों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। **पिशेल** (प्राकृत व्याकरण 28) ने भी इस बात की ओर संकेत किया था। स्पष्टतः हेमचन्द्र ने कहीं भी किसी अपभ्रंश की बोली का उल्लेख नहीं किया है जैसा

कि परवर्ती लेखक मार्कण्डेय तथा अन्य ग्रन्थकारों ने किया है। सावधानी से **हेमचन्द्र** के नियमों का अध्ययन करने से पता चलता है कि इनकी अपभ्रंश व्याकरण में कई उपबोलियों का समन्वय है। इस बात की पुष्टि अपभ्रंश व्याकरण के प्रथम सूत्र 329 से होती है––

प्रायो ग्रहणात् यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति।

उदाहरणस्वरूप प्राकृत और अपभ्रंश में ऋ की जगह, अ, आ, इ, ए और ओ परिवर्तन होता था, कभी कभी ऋ की भी रक्षा की जाती थी––तृणु, सुकृदु, 341, 394, और 448–– गृहन्ति, गृह्णेप्पिणु। **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश में हर नियम को पूर्ण व्यवस्थित नहीं माना है। कभी-कभी अपभ्रंश में अनावश्यक र का आगम भी हो जाता है––8/4/399; ब्रासु प्रयोग भी देखा जाता है जो कि व्यास शब्द की जगह प्रयुक्त हुआ है। यह किसी बोली का संकेत करता है। संभवतः यह पैशाची बोली का रूप था। 8/4/360–धुं, त्रं, 8/4/327––तुध, 8/4/393––प्रस्सदि, 8/4/391––ब्रोप्पिणु, ब्रोप्पि और कभी कभी ब्रासु की जगह ऋ भी लिखा जाता था। **हेमचन्द्र** ने जो इस प्रकार के विधान किए हैं उनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने दूसरी बोलियों के शब्दों का विधान किया है। उनके सूत्र–**अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां-ग-घ-द-ध-ब-भाः** (8/4/396) के अनुसार अपभ्रंश भाषा में क, ख, त, थ, प, फ, क्रमशः ग, घ, द, ध, ब और भ में बहुधा बदल जाता है। नियम 8/4/446 भी जिसमें कहा गया है कि अपभ्रंश के अधिकांश नियम शौरसेनी के समान ही हैं, वे अपभ्रंश के अन्य नियमों के विरुद्ध हैं। पूर्वोक्त नियम अपभ्रंश के जिन तत्वों को बतातें हैं वे उनके अन्य सूत्रों से मेल नहीं खाते।

हेमचन्द्र की प्राकृत भाषाओं के साथ उनकी कुछ विशेषताओं का अवलोकन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वे परस्पर कभी इतनी विरुद्ध प्रतीत होती हैं कि एक भाषा में उनकी उपस्थिति संभव प्रतीत नहीं होती। **पिशेल** महोदय पूर्वोक्त विशेषताओं को पैशाची के अंतर्गत मानते हैं। **हेमचन्द्र** ने कुछ सामान्य विशिष्टताओं के साथ-साथ कुछ क्षेत्रीय गुणों को भी अपना लिया है। उन्होंने विकल्प करके अपभ्रंश में प्राकृत के बहुत से रूपों को ग्रहीत किया है। अपभ्रंश के उद्धृत कुछ दोहों में वस्तुतः प्राकृत की कुछ विशेषताओं को भी अपवाद रूप से सम्मिलित कर लिया है; उदाहरण स्वरूप सूत्र 8/4/

447 में लिखा है कि प्राकृतादि भाषा लक्षणों का व्यत्यय अपभ्रंश में भी होता है जैसे मागधी में तिष्ठ का चिष्ठ होता है, वैसे ही प्राकृत, पैशाची और शौरसेनी में भी होता है। जैसे अपभ्रंश में विकल्प करके रेफ का निम्न भाग लुप्त होता है वैसे ही मागधी में भी होता है—**शद-माणुश मंश-भालके कुम्भ शहश्र वशाहे शंचिदे इत्याद्यन्यदपि द्रष्टव्यम्**। **मार्कण्डेय** ने भी थोड़े थोड़े भेद के साथ अपभ्रंश भाषा के तीन भेद किए हैं--(1) नागर, (2) व्राचड़ और (3) उपनागर। इस भेद को **क्रमदीश्वर** ने भी स्वीकार किया है। मुख्य अपभ्रंश नागर है। **मार्कण्डेय** के अनुसार पिंगल की भाषा नागर है। व्राचड़ नागर अपभ्रंश से निकली हुई बताई गई है जो कि **मार्कण्डेय** के अनुसार सिंध देश की बोली है—**सिन्धुदेशोद्भवो व्राचड़ोऽपभ्रंशः**। इसके विशेष लक्षणों में से **मार्कण्डेय** ने दो बताए हैं—च और ज के आगे इसमें य लगाया जाना और ष तथा स का श में बदल जाना। ध्वनि के वे नियम जो मागधी के व्यवहार में लाए जाते थे और जिन्हें **पृथ्वीधर** ने सकार की भाषा ध्वनि के नियम बताए हैं, अपभ्रंश में भी लागू बताए जाते हैं। इसके अलावा आरम्भ के न और द की जगह ट और ड का हो जाना एवं भृत्य शब्दों को छोड़कर झकार वर्ण को जैसे तैसे रहने देना—इसके विशेष लक्षण हैं। नागर और व्राचड़ भाषाओं के मिश्रण से उपनागर निकलती है। 'शाक्की' या 'शक्की' को भी अपभ्रंश भाषा में सम्मिलित किया गया है जिसे **मार्कण्डेय** संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रण समझते हैं। यह एक प्रकार की विभाषा मानी गई है। **पुरुषोत्तम** ने उपनागर की क्षेत्रीय बोलियों का भी उल्लेख किया है; जैसे वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौड़ी और कुछ प्रदेश की बोलियाँ जैसे टक्क, बरार, कुंतल, लाटी; औड्री, पांड्य, सिंहल आदि। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा की बोलियाँ सिन्ध से लेकर बंगाल तक बोली जाती रही होंगी। **हेमचन्द्र** ने मुख्य उपबोलियों का उल्लेख न करके एक ही प्रकार की अपभ्रंश के अंतर्गत सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अन्वेषण करने पर हम देखते हैं कि **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश शौरसेनी का प्रतिनिधित्व करती है। यह एक समय आधुनिक हिन्दी की तरह भारत में सर्वत्र साहित्यिक भाषा थी। पूर्वी अपभ्रंश के बहुत से रूप यद्यपि इनके नियमों के अन्तर्गत नहीं आते तथापि यही एकमात्र आदर्श व्याकरण है जो सबका प्रतिनिधित्व करता है। उस समय छपाई के अभाव में इतना ही

संभव था। कुछ गुजराती विद्वान् **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश को शौरसेनी अपभ्रंश न कहकर गौर्जर अपभ्रंश कहना अधिक उचित समझते हैं। इस पर सम्यक् विचार प्रस्तुत पुस्तक के अपभ्रंश प्रकरण में किया गया है।

पुस्तक के शीर्षक देखने से विदित होता है कि यह दो भागों में विभक्त सा है। एक है—हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि का रूप—इसमें भारतीय आर्यभाषाओं का क्रमिक विकास दिखाया गया है जिसमें वैदिक, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का भाषा विषयक निर्देश है। उसके बाद—अपभ्रंश और देशी पर विचार विमर्श किया गया है। इसमें मेरी यह धारणा रही है कि देशी शब्द की सम्यक् व्याख्या करके, उसका निरीक्षण और परीक्षण करके **देशी नाममाला** के शब्दों से **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों में प्रयुक्त देशी शब्दों की तुलना की जाये। इसके बाद जिन-जिन प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है, उनका मूल्यांकन किया है। पुस्तक का दूसरा भाग है—भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—इसमें अपभ्रंश व्याकरण का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस तरह ये दोनों विभक्त होते हुये भी अविभक्त हैं। एक दूसरे के पूरक हैं।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश पर विचार करते समय मैंने अन्य प्राकृत वैयाकरणों के अपभ्रंश सूत्रों का भी सहारा लिया है। **षडभाषा चन्द्रिका** में मौलिकता का अभाव होते हुये भी लेखक ने संस्कृत **सिद्धान्त कौमुदी** की तरह विषय विभाजन किया है। इससे विषय वस्तु निर्देश करने में सहायता मिलती है। लेखक ने **हेमचन्द्र** की तरह अपभ्रंश दोहों का उदाहरण नहीं दिया है। अतः **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण की तरह मौलिकता एवं परिपूर्णता अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। शब्दों पर विचार करते समय मैंने ऐतिहासिक विकास भी दिखाया है। अपभ्रंश शब्दों का तुलनात्मक विवेचन जहाँ संस्कृत एवं प्राकृत से किया गया है वहाँ अपभ्रंश से हिन्दी शब्दों का क्रमिक विकास भी दिखलाया गया है। अपभ्रंश साहित्य से भी उदाहरण लिये गये हैं। इससे अपभ्रंश व्याकरण की परिपूर्णता लाने का प्रयत्न किया गया है। **हेमचन्द्र** ने जिन अपभ्रंश दोहों का उदाहरण दिया है वे अधिकांशतः पश्चिम अपभ्रंश साहित्य की रचनायें हैं। मैंने यत्र तत्र पूर्वी अपभ्रंश में रचित **दोहाकोश** के शब्दों का उद्धरण भी लिया है।

अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ माना जाता है। व्याकरण पर विचार करते समय अवहट्ठ के उदाहरणों का भी अवलम्बन लिया है, विशेषकर उस समय जब अपभ्रंश से हिन्दी का विकास दिखाया गया है। मुझे **पिशेल** के **प्राकृत व्याकरण** एवं **तगारे** के **हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश** ने इस दिशा में कार्य करने में प्रचुर सहायता दी है। मैं उन लोगों के प्रति अपना विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी और सरस्वती पुस्तकालय वाराणसी के अधिकारियों का मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अप्राप्य पुस्तकें उपलब्ध करवायीं।

जब मैंने इस विषय पर कार्य करने की इच्छा, आदरणीय आचार्य **प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा** से की, तो उन्होंने सहर्ष स्वीकृति प्रदान करते हुये मुझे उत्साहित किया था। उन्होंने जो निर्देशन और प्रदर्शन किया उसके लिये मैं श्रद्धावनत हूँ। वस्तुतः उन्हीं की प्रेरणा से यह प्रबन्ध प्रस्तुत हो सका है। कार्यों में व्यस्त रहते हुये भी प्रबन्ध की जो रूप रेखा उन्होंने दी है उसके लिये औपचारिक कृतज्ञता ज्ञापित करना धृष्टता होगी। किन्तु सत्य बात तो यह है कि यह प्रबन्ध पूर्ण ही नहीं होता यदि परम आदरणीया त्यागमयीमूर्ति श्रद्धेया प्रातः स्मरणीया स्वर्गीया माँ श्रीमती सोनफूल देवी का आशीर्वाद न होता अतः मैं उसे सश्रद्ध समर्पित कर रहा हूँ।

राँची **परममित्र शास्त्री**

1991

संकेत चिह्न

√	=	धातु चिह्न
*	=	कल्पित रूप
>	=	उत्पन्न करता है
<	=	उत्पन्न हुआ है या बना है
प्रा० भा० आ०	=	प्राचीन भारतीय आर्य भाषा
आ० भा० आ०	=	आधुनिक भारतीय आर्य भाषा
उ० पु०	=	उत्तम पुरुष
अप०	=	अपभ्रंश
अ० पु०	=	अन्य पुरुष
अ० मा०	=	अर्द्धमागधी
अशो०	=	अशोक का शिलालेख
आ०	=	आर्ष
पा०	=	पालि
प्रा०	=	प्राकृत
प० अप०	=	पश्चिमी अपभ्रंश
उक्ति०	=	उक्ति व्यक्ति प्रकरण
म० भा० आ०	=	मध्य भारतीय आर्यभाषा
म० पु०	=	मध्यम पुरूष
महा०	=	महाराष्ट्री प्राकृत
मा०	=	मागधी
वै०	=	वैदिक
शाह०	=	शाहबाज गढ़ी
शौ०	=	शौरसेनी
शौ० अप०	=	शौरसेनी अपभ्रंश
सं०	=	संस्कृत
हेम०	=	हेमचन्द्र व्याकरण
हि० ग्रा० अप०	=	हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश

विषय-सूची

क्रम	पृष्ठ
संपादकीय	v-xi
आमुख	xii-xvii
संकेताक्षर	xviii

प्रथम अध्याय

भारतीय आर्य भाषा	**1-20**
भारत में आर्यों का आगमन	**1-8**
भारतीय आर्य भाषाओं के भेद	1-3
(i) बहिर्वर्ती	
(ii) अन्तर्वर्ती	
आर्यों की प्राचीनतम रचनायें	**3-8**
ऋग्वेद	
अन्य वेद तथा उसकी भाषा	
बुद्ध और महावीर काल की संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विकास पर विचार	**8-13**
वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर	14-16
संस्कृत जनता की भाषा थी या नहीं	16-19
संदर्भ	19-20

द्वितीय अध्याय

प्राकृत	**21-82**
मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश	**21-52**
(1) पुरानी प्राकृत या पालि	

(2) मध्य प्राकृत
(3) परवर्ती प्राकृत या अपभ्रंश
वैयाकरणों की विभिन्न प्राकृत 24-26
प्राकृत शब्द के अर्थ तथा विभिन्न प्रयोग 26
प्राकृत वैयाकरणों की प्राकृत संबंधी व्युत्पत्ति 27-30
आधुनिक विद्वानों के प्राकृत सम्बन्धी विचार 30-31
शिलालेखी प्राकृत 31-36
प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग 37-42
पालि शब्द का अर्थ 42
पालि किस काल तथा किस प्रदेश की भाषा थी 43-45
संस्कृत से पालि का भेद 45-47
अशोक के शिलालेखों की भाषा 48-52
प्राकृत का उत्तर कालीन विकास **52-78**
पैशाची का चूलिका पैशाची से भेद 56
प्राकृत या महाराष्ट्री 59-63
महाराष्ट्री की कुछ मुख्य विशेषताएँ 63-64
जैन महाराष्ट्री की विशेषताएँ 64-65
शौरसेनी प्राकृत की मुख्य विशेषतायें 65-68
मागधी की मुख्य विशेषताएँ 68-70
अर्ध मागधी की विशेषताएँ 71-73
अर्ध मागधी की व्याकरणिक कुछ मुख्य विशेषताएँ 73-76
पैशाची की विशेषता 76-78
चूलिका पैशाची की प्रमुख विशेषतायें 78
संदर्भ 79-82

तृतीय अध्याय

अपभ्रंश भाषा	**83-170**
अपभ्रंश विषयक निर्देश	**83-111**
पतंजलि	83
भर्तृहरि तथा अन्य वैयाकरणों की दृष्टि में अपभ्रंश	83-85
काव्यों में अपभ्रंश शब्द के प्रयोग	85-87
भरत	87-88
भामह	88-89
दण्डी	89
आभीर आदि शब्द पर विचार	90-98
रूद्रट के अनुसार अपभ्रंश	98
कुवलय माला कहा—देशी भाषा का अपभ्रंश के अन्तर्गत समाहार	98-99
भाषात्रय के अन्तर्गत अपभ्रंश का स्थान	99-100
षट्भाषा के अन्तर्गत अपभ्रंश का स्थान	100-102
राजशेखर द्वारा वर्णित अपभ्रंश	102-106
नमिसाधु के प्राकृतमेवापभ्रंशः पर विचार	106-109
लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय द्वारा वर्णित बोलियाँ	109-111
अपभ्रंश का काल	**111-120**
चन्द्रधर शर्मा और राहुल सांकृत्यायन के अनुसार	116-119
हेमचन्द्र के परवर्ती आचार्यों की अपभ्रंश रचनाएँ	119-120
अपभ्रंश का स्वरूप	**120-158**
जनता की भाषा के रूप में	123-126
हर्ष के बाद अपभ्रंश का स्वरूप	126-127
आधुनिक भाषावैज्ञानिकों के अनुसार अपभ्रंश	127-132

अपभ्रंश का विभाजन 132-138
(i) दक्षिणी अपभ्रंश
(ii) पूर्वी अपभ्रंश
(iii) पश्चिमी अपभ्रंश
राजपूत युग—गुजर शब्द की उत्पत्ति 138-144
शौरसेनी अपभ्रंश का फैलाव 144-145
हेमचन्द्र का अपभ्रंश गुर्जर या शौरसेनी 145-153
हेमचन्द्र की अपभ्रंश का पूर्वी बनारसी बोली से तुलना 153-155
हेमचन्द्र द्वारा वर्णित अपभ्रंश का स्वरूप 155-158
संदर्भ 159-170

चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश और देशी 171-200

देशी शब्द की व्याख्या 171-186
संस्कृत तद्भव से तुलना 183-186
क्या देशी ही अपभ्रंश भाषा थी 186-188
क्या भाषा को देशी कहने का प्रचलन है 189-191
अपभ्रंश के देशी आदेश तथा देशी नाममाला से तुलना 191-195
संदर्भ 196-200

पंचम अध्याय

प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश व्याकरण 201-214

वररूचि 201-202
चंड 202-205
हेमचन्द्र 205-208
त्रिविक्रम लक्ष्मीधर और सिंहराज 208-209
त्रिविक्रम और हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की तुलना 209-210

लक्ष्मीधर 210-211
सिंहराज 211
मार्कण्डेय 211-213
आधुनिक प्राकृत वैयाकरण 213-214
संदर्भ 214

षष्ठ अध्याय

व्याकरण प्रस्तुत करने की विधि 215-228
अपभ्रंश ध्वनि की प्रमुख विशेषतायें 216-218
य ध्वनि तथा य श्रुति का प्रयोग 217-218
व श्रुति का प्रयोग 218
शब्द रूप 219-222
सर्वनाम शब्द रूप 221-222
क्रिया रूप-रचना 222-225
प्राचीन वैयाकरणों द्वारा कथित भाषा और उसकी प्रमुख बोलियाँ 225-228
संदर्भ 228

सप्तम अध्याय

ध्वनि विचार 229-268
अपभ्रंश की ध्वनियाँ 229-231
स्वर 229-230
व्यंजन 231
स्वर विकार 231-244
अन्त्य स्वर 233-236
उपधा स्वर 237-238

संयुक्त स्वर	238-242
स्वर लोप	242-243
(क) आदि स्वर लोप	
(ख) मध्य स्वर लोप	
(ग) अन्त्य स्वर लोप	
स्वरागम	243-244
(क) आदि स्वरागम	
(ख) मध्य स्वरागम, स्वरभक्ति	
(ग) अन्त्य स्वरागम	
स्वर परिवर्तन	244
व्यंजन विकार	**244-267**
स्वरीभवन	
महाप्राण करण	
शब्दों को कोमल करने की प्रवृत्ति	247-253
द्वित्व व्यंजन	253-254
वर्ण विपर्यय	254
वर्ण विक्षेप (मध्य वर्णागम)	255
सम्प्रसारण	256-257
संयुक्त व्यंजन विकार	257-259
शब्दान्तर्गत संयुक्त व्यंजन	260
(i) सावर्ण्य भाव	260
(ii) असावर्ण्य भाव	261
संयुक्त व्यंजन की विकार युक्त प्रक्रिया	264-266
व्यंजन द्वित्व का सरलीकरण	266-267
संदर्भ	267-268

अष्टम अध्याय

रूप विचार	**269-329**
लिंग परिवर्तन	271-272
वचन	272-273
शब्द रूप	**273-287**
अकारान्त शब्दों के रूप	278-279
इकारान्त तथा उकारान्त रूप	279-281
स्त्रीलिंग	281
स्त्रीलिंग के विभिक्त चिह्न	282-284
ईकारान्त स्त्रीलिंग के नाम रूप	285
नपुंसक लिंग	285-287
परसर्ग	**287-298**
(1) करण परसर्ग—'सहुँ'	
(2) सम्प्रदान परसर्ग—केहिं, रेसिं, तेहिं, तण आदि	
(3) अपादान परसर्ग—होन्तउ	
(4) 'ट्ठिउ' परसर्ग	
(5) संबन्ध परसर्ग—केरअ, केर आदि	
(6) अधिकरण परसर्ग	
(7) 'केहिं' परसर्ग	
सर्वनाम	**299-324**
सार्वनामिक विशेषण	**324-326**
संदर्भ	326-329

नवम अध्याय

अव्यय	**330-347**
(1) रीति वाचक अव्यय	331
(2) स्थान वाचक	331-332
(3) कालवाचक	332
(4) परिमाणवाचक	332
(5) सम्बन्ध वाचक	333
(6) विविध अव्यय	333-338
संख्या वाचक शब्द	**338-347**
(1) गणनात्मक संख्या वाचक विशेषण	338-344
(2) क्रमात्मक संख्या वाचक विशेषण	344-345
(3) समानुपाती संख्या वाचक विशेषण	345-346
गणनात्मक संख्या शब्द	346-347
संदर्भ	347

दशम अध्याय

रचनात्मक प्रत्यय (तद्धित प्रत्यय)	**348-358**
(1) प्रारम्भिक प्रत्यय	348-350
(2) परवर्ती प्रत्यय	350-356
हेमचन्द्र की अपभ्रंश के कुछ प्रमुख उपसर्ग	**356-358**
संदर्भ	358

एकादश अध्याय

क्रियापद	**359-406**
धातु–प्रत्यय–प्रेरणार्थक–विकारयुक्त प्रक्रिया	**359-367**

समापिका क्रियाओं के रूप	362
असमापिका क्रियाओं के. रूप	362
कुछ मूल और विकरण युक्त रूप	365
विकार युक्त प्रक्रिया	367
संयोजक स्वर	**368-371**
धातु रूप–रूपावली	**371-396**
वर्तमान काल	373-381
आज्ञा प्रकार एवं विध्यर्थक	382-388
भविष्यत्काल	389-393
भूतकाल	393
विधि प्रकार	394-396
कर्मवाच्य रूप	397-399
प्रेरणार्थक क्रिया	400-402
नामधातु	402-403
संदर्भ	404-406

द्वादश अध्याय

धातु साधित संज्ञा (कृदन्त प्रकरण)	**407-429**
अपूर्ण या वर्तमान कालिक कृदन्त	409-410
कर्मवाच्य–भूत कालिक कृदन्त	410-413
विध्यर्थ कृदन्त	413
असमापिका या पूर्वकालिक क्रिया	413-415
हेत्वर्थ कृदन्त	415-416
शब्द सिद्धि	**416-427**
कृत् प्रत्यय	416-417

धात्वादेश 417-419
धातु पाठ 420-427
संदर्भ 428-429

त्रयोदश अध्याय

वाक्य रचना **430-437**
(क) संबन्ध कारक के विशिष्ट प्रयोग 431
(ख) करण कारक के विशिष्ट प्रयोग 432
(ग) अधिकरण कारक के विशिष्ट प्रयोग 433
(घ) निर्विभक्तिक प्रयोग 433
क्रियार्थक प्रयोग 433
कर्मवाच्य का भूत कालिक कृदन्तज प्रयोग 434-435
निषेधात्मक प्रयोग 435
वाक्य गठन सम्बन्धी अन्य विचार 435-437
संदर्भ 437

चतुर्दश अध्याय

उपसंहार **438-442**

परिशिष्ट

शब्दकोश **445-478**
प्रमुख सन्दर्भ ग्रन्थ **479-491**

प्रथम अध्याय

भारतीय आर्य-भाषा

भारत में आर्यों का आगमन

भारत में आर्यों का आगमन कब हुआ, ये आर्य कहाँ से आए थे, यह अब भी विवादास्पद है। सामान्यतया यह मान सा लिया गया है कि 2000 ई० पू० या उससे कुछ पहले से लेकर 1500 ई0 पू० तक भारत के उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेशों के भागों में आर्यगण आने लगे थे। यह सिद्धान्त भी स्थापित किया गया है कि आर्यों का झुंड कई दलों में आया था। मुख्यतया दो बार दो दलों में भारत-आगमन का सिद्धान्त स्थापित किया गया है। इस मत की स्थापना प्रथम **श्री हॉर्नले** ने की। अनन्तर **ग्रियर्सन**[1] ने कुछ संशोधनों के साथ आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया। **डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी** ने भी **ग्रियर्सन** के कुछ सिद्धान्तों का परिमार्जन कर इस मत की पुष्टि की है।[2] इन विद्वानों ने आधुनिक आर्य भाषाओं को दो वर्गों में विभक्त किया है—1. बहिर्वर्ती शाखा और 2. अन्तर्वर्ती शाखा।

भारतीय आर्यभाषाओं के भेद

बहिर्वर्ती शाखा के अन्तर्गत पूर्वी हिन्दी, बंगला, मराठी आदि हैं तथा अन्तर्वर्ती शाखा के अन्तर्गत पश्चिमी हिन्दी, गुजराती, आदि। **ग्रियर्सन** ने दर्दी भाषा को बहिर्वर्ती भाषा के अन्तर्गत रखा है। इस तरह **ग्रियर्सन** के मत के अनुसार आर्य भाषा के दो भेद

हुए। मध्य देशीय भाषा–शौरसेनी प्राकृत एवं संस्कृत आदि एक प्रकार की भाषा हुई, और असंस्कृत भाषाएँ–मागधी आदि दूसरे प्रकार की भाषाएँ थीं। इन भेदों का यह कभी भी मतलब नहीं था कि ये दोनों विभाजन दो भिन्न वर्ग की जुदा-जुदा भाषाएँ थीं। वस्तुतः ये दोनों एक ही परिवार की भाषाएँ थीं। फिर भी दोनों में उच्चारण सम्बन्धी भिन्नताएं पाई जाती हैं।

(1) बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर-पश्चिमी तथा पूरब की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ विद्यमान है परन्तु अन्तर्वर्ती शाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गये हैं। यथा–कश्मीरी-अछि, सिंधी-अखि, बिहारी (मैथिली-भोजपुरी) आँखि, किन्तु हिन्दी-आँख।

(2) बहिर्वर्ती उपशाखाओं में विशेषतया पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Eapenthesis) वर्तमान है।

(3) बहिर्वर्ती उपशाखा में अइ > ऐ, अउ > औ का ए और ओ रूप दिखाई देता है।

(4) संस्कृत के च्, ज् पूर्वी भाषाओं में त्स-स् त या द्ज-ज में बदल जाता है।

(5) र्, त्स् तथा ड्, ड़ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बर्हिः उपशाखाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

(6) बहिर्वर्ती उपशाखाओं की भाषाओं में म्व > म तथा अन्तर्वर्ती उपशाखाओं में म्व > वँ में बदल जाता है।

(7) बहिर्वर्ती उपशाखाओं में श, स, ष का परिवर्तित रूप मागधी में श दीख पड़ता है।

(8) महाप्राण वर्णों के अल्प प्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट दीख पड़ती है। इस प्रकार बहुत से उदाहरणों के आधार पर **डॉ० ग्रियर्सन** ने भारतीय आर्य भाषाओं को दो उपशाखाओं में विभक्त किया है।

हम देखते हैं कि भारत की वर्तमान तथा इनकी पूर्वज भाषाओं के साक्ष्य के आधार पर इस मत की पुष्टि की गई है

कि भारत पर आर्यों के लगातार दो आक्रमण हुए। दो वर्गों में आक्रमणकारी आर्यों की दो विभिन्न भाषाएँ थीं, फिर भी उन दोनों भाषाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था। ये दोनों आक्रमण एक साथ न होने के कारण लम्बी अवधि में दोनों वर्गों के आर्यों के जुदा-जुदा रहने के कारण दोनों की भाषाओं में अन्तर का हो जाना स्वाभाविक था। प्रथम आक्रमणकारियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और यहाँ अनार्यों को परास्त कर पंजाब एवं मध्य देश में जा बसे। इन आर्यों के साथ इनकी भाषा भी आ गयी थी। दूसरे वर्ग के आर्यों ने जब भारत पर आक्रमण उसी पश्चिमी दिशा से किया तब इनकी मुठभेड़ पूर्वागत आर्यों से हुई। इन पूर्वागत आर्यों को अपना स्थान छोड़कर तीन दिशाओं की ओर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा—पूर्व, दक्षिण तथा पीछे पश्चिम। बाद के आए हुए आर्यगण मध्यदेश में बस गए। पंजाब की सप्त सिंधु आदि नदियाँ तथा गंगा और यमुना का कांठे भाग इनका निवास स्थान हुआ। यहीं पर वेदों की रचना हुई। इनमें **ऋग्वेद** सबसे प्राचीन माना जाता है। शौरसेनी प्राकृत तथा संस्कृत यहीं की भाषाएँ थीं। इस तरह ये आर्यगण उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश से आगे बढ़कर सप्त सिंधु (आधुनिक पंजाब) में अपना आधिपत्य स्थापित कर शनैः शनैः पूर्व की ओर बढ़ते गए। मध्यदेश, काशी, कोशल, मगध, विदेह, अङ्ग-बङ्ग तथा कामरूप आदि स्थानों में अनार्यों को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया। शनैः शनैः आर्यों ने समस्त उत्तरा पथ में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इसके बाद आर्यों ने अपना प्रवेश दक्षिण भारत में भी करना प्रारम्भ किया।

आर्यों की प्राचीनतम रचनायें

आर्यों की प्राचीनतम रचना **ऋग्वेद** है। वेद को संहिता भी कहते हैं। इसके विषय में कहा जाता है कि यह विभिन्न ऋषि परिवारों के सूक्तों का संग्रह है। इस संकलन का नाम **ऋक् संहिता** या **ऋग्वेद संहिता** पड़ा। वेदाध्ययन परायण ऋषियों ने श्रुति परम्परा से **ऋक् संहिता** को अविरल रूप से सुरक्षित रखा। इससे हम

भारत के प्राचीनतम आर्यों के विषय में जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो पाते हैं। इस रचना के आधार पर इस काल को इतिहास लेखकों ने 'पूर्व वैदिक काल' कहकर पुकारा है। इसके बाद तीन और संहिताएं लिखीं गयीं—**यजुः संहिता, साम संहिता** और **अथर्व संहिता**। इस काल को कुछ इतिहास लेखकों ने 'उत्तर वैदिक काल' कहकर पुकारा है। इस प्रकार वेद हमें संहिताओं अर्थात् संकलनों के रूप में मिलता है। आज वेद की 4 संहिताएं गिनने की चाल है।

छान्दोग्य उपनिषद् 7, 1, 2, में **नारद सनत्कुमार** को यह बताते हुए कि—मैंने सब विद्याएं पढ़ी हैं, गिनाता है—**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं**—भगवन्, मैं ऋग्वेद को पढ़ाता हूं, यजुर्वेद को, सामवेद को, चौथे आथर्वण को और पाँचवे इतिहास पुराण को जो कि वेदों का वेद है.....। **आचार्य कौटिल्य** ने लिखा है (अर्थशास्त्र 1, 3,)—**सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदो चेति वेदाः—साम, ऋक्** और **यजुर्** वेद ये त्रयी हैं, ये तथा **अथर्ववेद** और इतिहास वेद, ये वेद हैं।

'ऋच्' या ऋचा का अर्थ है पद्य, 'साम' का अर्थ है गीत। गीत का भी पढ़ना आवश्यक है। 'यजुष्' का अर्थ है पूजा वाक्य। वे वाक्य गद्य में हैं, उन्हें गद्य काव्य का संदर्भ कहा जा सकता है। कुछ ऋचाएं मिलकर एक सूक्त बनती हैं। 'सूक्ति' का अर्थ अच्छी उक्ति, सुभाषित, कविता आदि है। **ऋग्वेद** में हजार से कुछ अधिक सूक्त हैं जिन्हें दस मण्डलों में बाँटा गया है। सब मिलाकर उनमें साढ़े दस हजार ऋचाएं हैं। **साम वेद** में **ऋक् संहिता** की लगभग तिहाई है, और उसमें बहुत से साम ऐसे हैं जो **ऋक् संहिता** में आ चुके हैं। **यजुः संहिता** और भी छोटी है। वह 40 अध्यायों में बँटी है, जिनमें सब मिलाकर लगभग दो हजार यजुष् हैं। ऋचाओं, सामों और यजुषों के लिए साधारण शब्द 'मन्त्र' हैं।

प्रत्येक सूक्त या अध्याय के आरम्भ में प्रायः यह उल्लेख रहता है कि उसकी अमुक ऋचा या यजुष् का अमुक ऋषि और

अमुक देवता है। प्रत्येक ऋचा का छन्दस् अर्थात् वृत्त भी लिखा रहता है। देवता का अर्थ है विषय—जिसके विषय में या जिसे सम्बोधित कर ऋचा कही गई हो। बहुत सी ऋचाओं में अनेक ऋषियों के नामों का उल्लेख भी उसी तरह रहता है, जिस तरह हिन्दी के पुराने कवि कविता में अपने नाम का उल्लेख कर देते थे। **ऋक् संहिता** के पहले मंडल के पहले पचास सूक्त तथा समूचा आठवाँ मंडल **कण्व** वंश के ऋषियों का है। दूसरा **गृत्समद**, तीसरा **विश्वामित्र**, चौथा **वामदेव**, पाँचवाँ **आत्रेय**, छठा **बार्हस्पत्य** और सातवाँ **वसिष्ठ** वंश का। नौवें मण्डल में एक ही देवता—**सोमपवमान** के विषय में विविध ऋषियों के सूक्त हैं, और दसवाँ तथा पहले का शेषांश (51.191 सूक्त) विविध ऋषियों के और विविध विषयक हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में प्राचीनतम साक्ष्य **ऋग्वेद** है। **ऋग्वेद** के सूक्तों की **बृहत् संहिता** की भाषा वस्तुतः पुरोहितों से सम्बन्ध रखने वाली परम्परा मूलक भाषा है। वस्तुतः **ऋग्वेद** की रचना एक समय में नहीं हुई थी। इसकी रचना विभिन्न समयों में तथा विभिन्न स्थानों में हुई थी। कुछ सूक्तों की रचना निस्सन्देह पंजाब में हुई थी। इसके अतिरिक्त कुछ सूक्तों की रचना उस प्रदेश में हुई थी जिसको कि ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरुओं और पांचालों का निवास स्थान माना गया है। **ऋग्वेद** में बहुत से जनसमूहों का समन्वय माना जाता है। इन्हीं लोगों के योग से कुरुओं और पांचालों की उत्पत्ति मानी गई है। कुछ विद्वानों का कहना है[3] कि **ऋग्वेद** के छठे मंडल की रचना आर्यों के भारत में प्रवेश करने से पहले हुई थी। किन्तु अभी तक यह विचार प्रामाणिक नहीं माना जा सका है। फिर भी विभिन्न रूपों और विभिन्न स्थानों में रचना होने के कारण **ऋग्वेद** की भाषा में भिन्न-भिन्न स्थानीय बोलियों का मेल दिखाई देता है। पंडितों ने विशद विचार मंथन के बाद में स्थानीय बोलियों की विशेषताओं को निर्धारण करने का निष्कर्ष निकाला है। प्रथम स्थापना है कि—'दो स्वरों के मध्य में रहने वाले ध्, भ्, ड् और ढ् का ह्, क्त और व्ह् के रूप में विवृत उच्चारण, ल् का र् में परिवर्तन, सार्वनामिक

तृतीया बहुवचन के एभिः का नाम रूपों में प्रवेश एवं कुछ स्थानीय बोलियों के यत्र तत्र शब्द रूपों का लिया जाना निश्चित रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। **डॉ० कीथ** का कहना है कि कहीं-कहीं इस प्रकार के उद्धृत शब्द ऋग्वेदीय शब्द रूपों के समान ही प्राचीन हो सकते हैं, जैसे ल से युक्त शब्द और 'जज्झती' जिसका ज्झ आर्य भाषा के (Gzh) स्थानीय 'क्ष' का रूप है। इसके विपरीत ऐसे शब्द रूप भी देखने को मिलते हैं जो वर्ण-विज्ञान की दृष्टि से **ऋग्वेद** में साधारणतया प्राप्त रूपों से अधिक समुन्नत हैं। इन रूपों के विषय में यह कहा जा सकता है कि संभवतः ये परिवर्तन अनार्यों के सम्मिश्रण से हुए हों। यह भी संभावना की जा सकती है कि कुछ शब्द समाज के निम्न वर्ग से लिए गए हों जैसे 'कृत' के साथ-साथ प्रयुक्त 'कर' में और 'कर्त' के साथ-साथ प्रयुक्त कार में हम अनियमित मूर्धन्य वर्णों को पाते हैं। इसी प्रकार के अनियमित उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तनों के उदाहरण और भी हैं जैसे—कृच्छ में प्स् के स्थान में छ्, ज्योतिष् में द् य् के स्थान में ज्य, शिथिर में झ के स्थान में इ, बृश के स्थान में बुस् इत्यादि। यद्यपि इन स्थानीय बोलियों के विशिष्ट स्थानों का निर्देश करना असम्भव है तथापि **ऋग्वेद** में रेफोच्चारण की प्रवृत्ति का सम्बन्ध स्वभावतः ईरान से है। आगे चलकर ल् का प्रयोग पूर्वीय भारत का सम्बन्ध बताता है। इसी तरह 'सूरेदुहिता' शब्द के प्रयोग में ए संभवतः az का स्थानीय प्रभाव है, जैसा कि पूर्वी प्राकृत में परिलक्षित भी होता है।

आर्यों की भिन्न-भिन्न शाखायें समय-समय पर भारत में आई थीं, और प्रत्येक शाखा की बोली एक-दूसरे से कुछ भिन्न थी। यह भिन्नता प्रारम्भ में नाममात्र की थी। उनके सूक्तों, स्तवों एवं गेय गीतों में एक प्रकार की साधु भाषा विकसित हो चुकी थी, यही उनकी समस्त साहित्य निधि थी जो हमें **ऋग्वेद** तथा **अथर्ववेद** में मिलती है। जब आर्य लोग प्रथम बार पंजाब में आकर बस गए तो यह स्वाभाविक था कि उनकी भाषा का सम्बन्ध फारस तक की भाषा से रहा हो। उन दोनों की भाषा में साम्य अवश्य होगा। यह भी संभव है कि सीमांत प्रदेशों की बोलियाँ (अर्थात्

पश्चिम भारतीय आर्य की बोलियाँ) कुछ विषयों में ईरान की बोलियों से साम्य रखती हों। **प्रो० आत्वान् मेय्ये** ने **ऋग्वेद** की साहित्यिक भाषा के मूल को, पश्चिम प्रदेश की आर्य भाषा की बोली बताया है। इस मूल वैदिक भाषा में केवल 'र' ध्वनि ही थी जैसा कि ईरानी (पारसीक तथा आवेस्ता) में पाई जाती है और भारोपीय 'र' और 'ल' दोनों के लिए केवल 'र' ध्वनि का उपयोग होता था। शब्दों के भीतर घोषवत् महाप्राण ध, भ और घ रहने से उनके 'ह' में निर्बलीकरण का इस भाषा में आधिक्य है। जैसे—भारत-ईरानी रूप यजामधई ''yazamadhi'' वैदिक भाषा में यजामहे हो जाता है जबकि अवेस्ता में यजामइदे ''yazamaide'' रूप होता है। र और ल ध्वनि का प्रश्न प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की बोलियों की विभिन्नता का द्योतक है। पश्चिम की एक बोली में 'ल' न रहकर केवल र था, दूसरी ओर संस्कृत और पालि में 'र' और 'ल' दोनों ध्वनियाँ थीं, तीसरी ओर पूर्वी बोली में 'र' की जगह केवल 'ल' ध्वनि ही पाई जाती थी। यह रूप मागधी और अर्धमागधी में पाया जाता था। यही बोली **अशोक** काल की पूर्वी प्राकृत (जो जैनों की अर्धमागधी प्राकृत का प्राचीन रूप माना जाता है) उत्तर काल में मागधी प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसमें 'र' न रह कर केवल 'ल' था। इस प्रकार भारतीय आर्य भाषा के एक शब्द 'श्रील' के तीन भिन्न-भिन्न रूप हुए—'श्रीर' (अवेस्ता का स्त्रीर) 'श्रील' तथा 'श्ली-ल' बने। पूर्वोक्त रूपों पर विचार करने से पता चलता है कि भारत में आर्यों के आगमन के समय ही कई विभाषायें बन चुकी थीं। भारत में आर्यों के आगमन के समय ही आर्य लोग कई सूक्त-स्तव तथा अन्य काव्य-रचनायें अपने साथ लाए भी थे। यह परम्परा आगे भी चलती रही। अनार्यों के साथ सम्पर्क बढ़ जाने पर जब अनार्य आर्यों से घुल-मिल गए तो अनार्यों ने भी इस साहित्यिक साधु भाषा में स्तुति-रचना करने का प्रयत्न किया होगा। अलिखित कण्ठस्थ साहित्यिक रचनायें आगे बढ़ी होंगी और उसका एक विस्तृत रूप हो गया होगा। शनैः शनैः इन सभी की रक्षा के लिए पुरोहितों का एक वर्ग हो गया जिसने वनों एवं उपवनों में आश्रम बनाकर छोटी-छोटी पाठशालायें निर्मित कीं। इसमें

बैठकर पौरोहित्याभिलाषी आर्य युवकगण व्यवस्थित रूप से सूक्त-स्तव आदि कण्ठस्थ करते थे और कर्मकाण्ड आदि सीखते थे। यह भी संभव हो सकता है कि इस पाठशाला के निर्माण में सुसभ्य द्राविड़ों का भी हाथ रहा होगा। अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए यह आवश्यक था कि वे इस कार्य में योगदान देते। किन्तु जब तक यह भाषा अलिखित रही होगी तब तक यह स्वाभाविक था कि भाषा में अलक्षित रूप से परिवर्तन होता रहा हो और सामान्य लोगों को पता भी नहीं चल पाया हो। बाद में चलकर कुछ ऋषि-मुनियों ने इस चीज को परिलक्षित किया होगा और स्वरों का विधान किया होगा जिससे कि ऋचाओं के उच्चारण में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का विधान किया। इसी कारण आगे चलकर ऋषियों ने ऋचाओं को अपरिवर्तित बनाए रखने के लिए इन नियमों पर विशेष बल दिया। और इस समय तक वैदिक भाषा परिनिष्ठित हो चुकी थी। सुसंस्कृत एक आदर्श भाषा हो चुकी थी। किन्तु प्रारम्भिक काल में वैदिक भाषा की विभाषायें जरूर होंगी जैसा कि पहले इस ओर लक्षित किया जा चुका है।

बुद्ध और महावीर काल की संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के विकास पर विचार

अब वैदिक भाषा साधु भाषा हो चली थी। लेखन पद्धति भी अब तक प्रचलित हो गयी थी। **डॉ० बटे कृष्ण घोष**[4] ने इस पर विशद विवेचन किया है। भारत में आगमन के पश्चात आर्यो की उपभाषाओं ने भी अपना विकास करना आरम्भ कर दिया था। इस काल को हम 'उत्तर वैदिक' काल कह सकते हैं। अब आर्य भाषा पूर्व प्रान्त की ओर आगे बढ़ी। नेपाल की तराई में इसी समय **बुद्ध** का जन्म हुआ था। आगे उन्होंने अपना धर्म प्रचार आधुनिक बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में किया था। अब तक आर्य भाषा विदेह (उत्तर बिहार) तथा मगध (दक्षिण बिहार) तक फैल चुकी थी। इस समय के बीच इस भाषा में बड़े भारी-भारी

परिवर्तन हुए थे। अब तक वैदिक कर्मकाण्ड की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसमें रूढ़िवादिता आ गई थी। **बुद्ध** भगवान ने उसी के खिलाफ अपनी आवाज उठाई थी। वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया था। निष्कर्ष यह कि बुद्ध के 600 ई० पू० तक वैदिक सभ्यता की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उसमें विविध साहित्य रचे जा चुके थे। अर्थात् 1000 ई० पू० से 600 ई० पू० तक ब्राह्मण ग्रन्थ निर्मित हो चुके थे। उससे भारत की भाषागत स्थिति का ज्ञान होता है। पता चलता है कि उस समय आर्य भाषा मुख्यतया तीन भागों में विभक्त थी—(1) उदीच्य या उत्तरीय अर्थात् पश्चिमोत्तरीय, (2) मध्य देशीय यानी मध्य देश की भाषा और (3) तीसरा प्राच्य यानी पूरब की भाषा। **कौषीतकि ब्राह्मण** में एक जगह उल्लेख है कि उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी जानकारी से बोली जाती है। भाषा सीखने के लिए, लोग उदीच्य जनों के पास ही जाते हैं। जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा रखते हैं। **तस्माद् उदीच्यां प्राज्ञतरा वाग् उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्, योवा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रुसन्त इति।। सांख्यायन** या **कौषीतकि ब्राह्मण** (7-8)। कहने का मतलब यह कि इस समय तक समस्त उत्तर भारत में आर्य भाषा फैल चुकी थी यानी अफगानिस्तान से लेकर बंगाल तक। जैसा कि अभी लिखा जा चुका है कि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश तथा उत्तरी पंजाब 'उदीच्य' प्रदेश की बोली अत्यन्त विशुद्ध गिनी जाती थी। उसको लोग आदर्श भाषा मानते थे। प्राच्य उपभाषा में संभवतः आधुनिक अवध, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार गिना जाता था। इसे 'व्रात्य' लोग बोलते थे जो कि अटनशील आर्यों की एक उपजाति थी। ये लोग वैदिक ब्राह्मण धर्म की व्यवस्था को नहीं मानते थे। प्राच्य या पूरब के लोगों को आर्य लोग असुर, राक्षस या झगड़ालू वृत्ति वाला कहा करते थे। पश्चिम के आर्य इन्हें प्रेम की दृष्टि से नहीं देखते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है कि व्रात्य लोग उच्चारण में सरल वाक्य को भी कठिन बताते हैं और वे यद्यपि वैदिक धर्म में दीक्षित नहीं हैं तथापि वे दीक्षा पाये हुओं की भाँति भाषा बोलते हैं :

अदुरुक्त वाक्यम् दुरुक्तमाहुः; अदीक्षिता दीक्षित वाचम् वदन्ति– (ताण्ड्य या पञ्चविंश ब्राह्मण 17-41)। इस पर **डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी** ने अनुमान लगाया है कि वैदिक धर्म और संस्कृति के संस्थापक मध्यदेशीय तथा उदीच्य आर्यों की भाँति आर्य भाषा के संयुक्त व्यंजनों और अन्य ध्वनयात्मक विशेषताओं का उच्चारण व्रात्य एवं प्राच्य लोग सरलता से नहीं कर सकते थे। यह भी हो सकता है कि प्राच्य भाषा में संयुक्त व्यंजन समीकृत हो गए हों। मध्य देश की भाषा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः यह भाषा मध्यम मार्ग अपनाती थी। इसमें न तो उदीच्यों की तरह रूढ़िवादिता थी और न तो प्राच्यों की तरह शिथिल सा स्खलित ही। प्रसिद्ध वैयाकरण **पतञ्जलि** ने अपने **महाभाष्य** में ब्राह्मण साहित्य की कथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि असुर लोग संस्कृत शब्द अरय, की जगह 'अलयों' या 'अलवो' का उच्चारण करते थे। इससे पता चलता है कि उस समय पश्चिम वालों को पूरब वालों के 'र' की जगह 'ल' उच्चारण का पता चल गया था।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के विकास काल की द्वितीय अवस्था प्राकृत के समय पूर्वी भाषा में 'र' को 'ल' हो जाने का पश्चिम वालों से भिन्नता का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक और बात का ज्ञान होता है। वह है 'र' और 'ऋ' के बाद आने वाले दन्त्य वर्ण का मूर्धन्यीकरण हो जाना। जैसे कृत, अर्थ, अर्ध प्राच्य भाषा में 'कट' 'अट्ठ' 'अड्ढ' हो गए; जबकि मध्यदेशीय में वे बिना मूर्धन्यीकरण के 'कत' (या कित), 'अत्थं' और 'अद्ध' हो गए। उदीच्य में ये शब्द बहुत समय तक कृत, अर्थ और अर्ध बने रहे और जब अन्त में 'र्' का समीकरण हो भी गया तो भी दन्त्यों का मूर्धन्यीकरण नहीं हो सका।[5]

इस तरह हम देखते हैं कि **बुद्ध** के समय तक ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। **ऋग्वेद** की भाषा के लगातार विकास का अनुसरण हम उत्तरकालीन अन्य वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ-साथ लौकिक संस्कृत

तक प्राप्त कर सकते हैं। **डॉ० कीथ** का कहना है कि वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में वैदिक भाषा का बराबर क्रमिक विकास पाया जाता है। यह भी स्पष्ट है कि 'भाषा' ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा से अभिन्न न होते हुए भी, उससे घनिष्ठतया सम्बद्ध है। इतना होने पर भी उत्तर भारत में कुछ आर्येतर भाषाएँ भी प्रचलित थीं जो कि धीमे-धीमे समाप्त हो रही थीं जैसे पालि जातकों में वर्णित 'चाण्डालों' की भाषा प्रचलित थी किन्तु साथ-साथ वे अभिजात ब्राह्मणों की भाषा भी सीखते थे।

डा० चटर्जी[6] ने **बुद्ध** के समय में आर्यभाषा की भाषागत स्थिति का चित्रण यों किया है—

(1) तीन प्रादेशिक बोलियाँ—(अ) उदीच्य (ब) मध्यदेश तथा (स) प्राच्य विभागों की बोली। उदीच्य अब भी वैदिक के निकटतम थी, जबकि प्राच्य उससे सर्वाधिक दूर चली गई थी। इन सभी पर अनार्य प्रभाव पड़ता आ रहा था।

(2) 'छान्दस' या आर्ष या प्राचीन कविता की भाषा, जो प्राचीनतम आर्य भाषा का साहित्यक रूप थी और जिसका ब्राह्मण लोग पाठशालाओं में अध्ययन करते थे।

(3) छान्दस को अपेक्षाकृत एक नवीन रूप, अथवा मध्यदेश तथा प्राच्य की प्रादेशिक भाषाओं के उपादानों से युक्त उदीच्य का एक पुराना रूप कहा जाता था। यह ब्राह्मणों में प्रचलित परस्पर व्यवहार तथा शिक्षण की शिष्ट भाषा थी, उनके द्वारा वेदों की भाष्य टीका तथा धार्मिक कर्मकाण्ड एवं दार्शनिक विवेचनों के लिए प्रयुक्त होती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें यही भाषा मिलती है।

इस प्रकार वैदिक भाषा का परिनिष्ठित रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में पाते हैं। यह एक प्रकार से वैदिक भाषा का साहित्यिक रूप था। इस भाषा पर धीमे-धीमे द्रविड़, किरात और मुण्डा भाषा के शब्दों का भी प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा था। वैदिक भाषा की रक्षा तथा अध्ययन के लिए वेदाङ्गों की रचना की गई थी। **वेदाङ्ग 6** थे—शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष।

वस्तुतः आर्य भाषा दो प्रकार से फैल रही थी। प्रथम बोल-चाल की बोलियों की सीमाएं फैल रही थीं और संस्कृत धार्मिक और बौद्धिक जीवन की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी। यद्यपि बौद्धों और जैनियों ने प्रादेशिक भाषाओं को अधिक महत्व दिया था, उसी में अपनी रचनाएं और धार्मिक प्रचार कर रहे थे। फलतः प्रादेशिक भाषाएं संस्कृत से दूर होती जा रही थीं। इतना होने पर भी संस्कृत की महत्ता कम नहीं हुई। इसका विकास दिनानुदिन बढ़ता ही गया। वैदिक भाषा के साहित्य सुसमृद्ध हो जाने पर उसने परिनिष्ठित रूप धारण कर लिया। धीमे-धीमे उसके रूपों में जब बाहुल्य आने लगा तब स्वभावतः वह भाषा जनता से दूर हो चली। ऐसी परिस्थिति में पुनः उदीच्य और धीमे-धीमे मध्य देश की भाषा ने विकास कर संस्कृत का रूप धारण किया। इस संस्कृत शब्द का नामकरण प्रचलित भाषा या सामान्य भाषा के अर्थ में पवित्र वेद की भाषा से भिन्नता बताने के लिए किया गया। यह वैदिक भाषा से अभिन्न होते हुए भी वस्तुतः भिन्न थी। इस भिन्नता का पता **यास्क** के **निरुक्त** से तथा **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी** से चलता है। पहले साहित्यिक वेद की भाषा तथा जनता की भाषा में भेद था। पहले के लिए छन्द या निगम शब्द और दूसरे के लिए भाषा या लौकिक शब्द प्रयुक्त होता (निरुक्त—1/4 और 2/2; अष्टाध्यायी—3/1/108) था। **पतञ्जलि** ने अपने 'शब्दानुशासन' के आरम्भ में ही इसका भेद स्पष्ट कर दिया है। दोनों प्रकार की भाषाओं के विषय में उसने व्याख्या दी है। उसने केवल संस्कृत के लिए लौकिक शब्द का ही प्रयोग नहीं किया है अपितु उसने वैदिक भाषा के विषय में भी व्याख्या की है। **पतञ्जलि** का कहना है कि वैदिक भाषा का ज्ञान वेद के अध्ययन से ही हो सकता है। प्रचलित शब्दों का ज्ञान तो भाषा के प्रयोग से होता है।[7]

किन्तु प्रश्न उठता है कि यह जनता की भाषा किस प्रकार संस्कृत विशिष्ट नाम में परिणत हो गयी। इसका ज्ञान हमें संस्कृत भाषा के इतिहास से न होकर संस्कृत व्याकरण से प्राप्त होता है। 'संस्कृत' अर्थात् वह भाषा जिसका संस्कार किया गया हो।

भाष्यकार ने संस्कृत शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है। **यास्क** ने एकाध जगह संस्कृत शब्द का प्रयोग किया है (निरुक्त 1/12)। इससे पता चलता है कि संस्कृत का काम पवित्रता या व्याकरणिक विश्लेषण था जिसने पुरानी भाषा को आदरणीय संस्कृत-पवित्र के अर्थ में परिवर्तित कर दिया। वस्तुतः भाषा का संस्कार (संस्कृत) **यास्क** से बहुत पहले हो चुका था। **यास्क** का समय पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। **पाणिनि** ने सर्वत्र भाषा शब्द का प्रयोग किया है। भाषा के लिए संस्कृत शब्द का प्रयोग **रामायण** में पाया जाता है।[8] प्रतीत होता है कि इस समय तक आर्यों की प्रादेशिक भाषाएँ अधिक सुसमृद्ध होती जा रही थीं, उससे भिन्नता दिखाने के लिए संस्कृत नामकरण किया गया हो। इस पुरानी भाषा के पवित्रीकरण का कारण यह भी हो सकता है कि निम्न वर्ग के लोगों की भाषाओं का स्वच्छन्दतापूर्वक घोल-मेल न हो सके। भाषा की पवित्रता सुरक्षित रहे। यह बहुत संभव था कि अनार्यों के बहुत से शब्द तथा प्रादेशिक भाषाओं के बहुत से शब्दरूप इसमें घुल-मिल रहे थे। अतः रूढ़िवादी वैयाकरणों ने पुराहितों की पवित्रता को सुरक्षित बनाए रखने के लिए और दोषों से मुक्त रखने के लिए भाषा का संस्कार यानी संस्कृत किया।[9] **पाणिनि** ने संस्कृत व्याकरण का रूप हमेशा के लिए निश्चित कर दिया। इसका व्याकरण बँध जरूर गया। फिर भी इसमें विकासशीलता थी। इसका प्रमाण समय के अनुसार बदलता हुआ इसका वाक्य विन्यास है। **पाणिनि** के समय में लौकिक या प्रचलित संस्कृत का भारतीय-आर्य प्रादेशिक बोलियों में संभवतः वही स्थान रहा होगा, जो आधुनिक काल में हिन्दी का है। सर्वत्र साधारण जनता संस्कृत समझ लेती थी, भले ही वह पूरब भारत क्यों न रहा हो—जहाँ से प्राकृत उद्भूत हुई थी। पुराने संस्कृत नाटकों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत में और निम्न वर्ग तथा स्त्री पात्र प्राकृत में बोलता था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राकृत के विकास काल के समय में भी सामान्यतया संस्कृत व्यवहार की भाषा थी।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर

इस प्रकार पुरानी भाषा के दो भेद हुए–(1) 'वैदिक' जिसे छान्दस भी कहते हैं और (2) दूसरा 'लौकिक' जिसे संस्कृत कहते हैं। पहला दूसरे से अर्थ में भिन्नता रखता है। पुरानी भाषा की रक्षा वेद में की गई है–मुख्यतया **ऋग्वेद** में। हम पहले बता चुके हैं कि यह भारत की सबसे पुरानी भाषा का रूप है। हमारे भाषा सम्बन्धी अध्ययन में एक बात ध्यान देने की है कि पद्य और गद्य के बीच में भाषा सम्बन्धी संक्रांति काल है जिसमें बहुत से शब्द कई दृष्टियों से परिवर्तित हो गए थे। बहुत से नए शब्द अभिव्यक्ति और अस्तित्व की दृष्टि से सामने आ गए थे। वैदिक भाषा के अन्तिम चरण का प्रतिनिधित्व **उपनिषद्** और पुराने सूत्र करते हैं। **भण्डारकर**[10] आदि विद्वानों ने इस काल की संस्कृत भाषा के विकास के समय को तीन कालों में विभक्त किया है। यह काल **ब्राह्मण** से लेकर **पाणिनि** तक का काल माना गया है। इसे कुछ लोगों ने मध्य संस्कृत काल कहकर भी पुकारा है। वैदिक और क्लासिकल संस्कृत की विभाजक रेखा **यास्क** माने जाते हैं। **यास्क** का समय क्लासिकल संस्कृत के लिए पृष्ठाधार माना जाता है। लगातार संस्कृत के विकास के समय से ही यह प्रतीत होने लगता है कि संस्कृत के व्याकरण के नियम जटिल होते जा रहे थे।[11] जब ब्राह्मण का गद्य काल आता है तब बहुत ही कृत्रिम सूत्र शैली की वृत्ति बढ़ती हुई नजर आने लगती है। इसी शैली में दर्शन तथा व्याकरण शास्त्र लिखे गए थे। इस काल में परिभाषा का महत्व अधिक बढ़ता जा रहा था।[12] थोड़े में अधिक कहने की वृत्ति बढ़ रही थी।

पुरानी भाषा पुरानी संस्कृत के रूप में आई और यह दो भाषाओं के रूप में दीख पड़ने लगी। यद्यपि इससे हम सहमत नहीं हैं कि परिनिष्ठित संस्कृत कृत्रिम भाषा थी और न तो हम यही कह सकते हैं कि संस्कृत व्याकरण का नियम संस्कृत के विकास में बाधक रहा और इसे अगतिशील भाषा बना दिया। छान्दस भाषा लौकिक या प्रचलित संस्कृत से उच्चारण, ध्वनि और कुछ

खास नियमों में भिन्नता रखती है। वैदिक भाषा में उच्चारण ध्वनि पर विशेष ध्यान दिया गया। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में इसका विशेष ख्याल रखा जाता था। **पाणिनि शिक्षा** में कहा गया है:

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्तरतोऽपराधात्।।

वैदिक भाषा में कभी शब्द ध्वनि भी परिवर्तित हो जाती है—ल-ड में भी बदली है—अग्निमीळे > अग्निमीले। गोनाम् तथा गवाम् दोनों रूप मिलता है। (अष्टाध्यायी 7-1-57); कर्ता ब० व० में—असस् का जनासः, ब्राह्मणासः और अस् का विसर्ग देवाः, ब्राह्मणाः। कर्म के एक वचन में 'उ' का दो रूप होता है—तन्वम् > तनुवम्, प्रभ्वम् > प्रभुवम् (अष्टा० 6/4/86); इसके विपरीत परवर्ती संस्कृत में इन् या ता प्रत्यय पाया जाता है। तृतीया एक वचन में प्रायः आ अथवा या जोड़ दिया जाता है—उरुया, मध्वा (उरुणा और मधुना रूप के रहते हुए भी) वाहवा और नावया (वाहुना और नावा की जगह पर), स्वप्नया (स्वप्नेन के रहते हुए भी) इसी तरह बहुत से उदाहरण हैं (अष्टा० 7/1/39); तृतीया बहुवचन के अन्त में अत् का भिस् या एभिस् में परिणत हो जाता है—रुद्रेभिः, पूर्वेभिः और कभी-कभी एस् भी पाया जाता है—रुद्रेः (अष्टा० 7/1/10)। यह ध्यान देने की बात है कि भिस् या एभिस् तृ० ब० व० का रूप है। कभी-कभी षष्ठी एक वचन का प्रत्यय छोड़ दिया जाता है जैसा कि **परमे व्योमन** (व्योम्नि के रहते हुए भी) और यह कभी आ में भी बदल जाता है—नाभउ के लिए नाभा-प्रयोग। कर्ता कारक ब० व० शब्द नपुंसक लिंग में अ का आ में परिवर्तन—जैसे कि—'विश्वानि धनानि' के लिए 'विश्वा धनानि' पाते हैं। वेद मन्त्रों में जनयिता के लिए जनिता, शमयिता के लिए शमिता पाते हैं (अष्टा० 6/4/53, 54); विद्भः के लिए विद्भ, एव के लिए एवा (अष्टा० 6/3/136); आत्मना के लिए त्मना, अष्टपदी के लिए अष्टापदी आदि बहुत से उदाहरण हैं। इस तरह के बहुत से उदाहरण वैदिक भाषा की विशेषता या गुण वैदिक प्रकरण में **पाणिनि** ने

अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी** ने वैदिक और लौकिक संस्कृत का स्पष्ट भेद दिखाया है।

वैदिक शब्दों का अर्थ लौकिक संस्कृत में स्पष्टतया परिवर्तित हो गया है। जैसा कि 'कवि' शब्द के अर्थ की व्याख्या **सायण** और **यास्क** ने की है। यह सामान्यतया वेद में—वह जो कि वस्तुओं की प्रकृति को जानता हो का अर्थ व्यक्त करता था (अग्निर्होता कवि क्रतः—ऋग्वेद 1/1/1) बाद में यह शब्द कविता रचने वाले को कहा गया। यही 'कवि' शब्द पूर्वकालीन उपनिषदों में कृषक के भाव में ही व्यक्त हुआ है—**दुर्गम् पथस्तत् कवयो वदन्ति**—(कठो० 2/4/14)। 'मृग' शब्द वेद में सामान्य जानवरों के लिए प्रयुक्त होता था बाद में यह खास हिरण जानवर के लिए प्रयुक्त होने लगा—**मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः**—**ऋग्वेद**-x 180।

संस्कृत जनभाषा थी या नहीं

किन्तु एक विवादास्पद विषय रह ही जाता है कि क्या संस्कृत जनता की भाषा थी अथवा यह सामान्य साहित्यिक भाषा ही थी जिसमें कि हिन्दुओं की पवित्र रचनायें रची गयीं। अधिकांश पाश्चात्य आलोचक इस बात से कभी भी सहमत नहीं होते कि संस्कृत कभी भी विस्तृत पैमाने पर जनता की भाषा रही हो। उन लोगों का कहना है कि ऐसी भाषा जो कि सख्त व्याकरण के नियमों और ध्वनियों से जकड़ दी गई हो वह सर्वसाधारण जनता के द्वारा बोलने के व्यवहार में कैसे लायी जा सकती है। उन लोगों का कहना है कि यह बहुत अधिक संभावना है कि संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत ही सर्वसाधारण जनता के व्यवहार की भाषा रही हो। समाज की अशिक्षित जनता जिनकी कि समाज में अधिकता होती है, संस्कृत उनकी मातृभाषा नहीं हो सकती क्योंकि संस्कृत शब्दों का शुद्ध उच्चारण बिना व्याकरण के ज्ञान अथवा अच्छी शिक्षा के बिना सामान्य जनता इसे ठीक तरह से नहीं बोल सकती। अगर संस्कृत जनभाषा थी भी तो वह सुशिक्षित लोगों की भाषा थी। निस्सन्देह संस्कृत के समृद्धि काल में यह जनभाषा थी। यद्यपि

यह समाज के उच्च वर्ग के सुशिक्षित समाज तक ही सीमित थी। मुख्यतया यह ब्राह्मणों की भाषा थी। समाज के तीन वर्ग जो समान्यतया द्वि-जातीय कहलाते थे और जिन्हें यज्ञोपवीत तथा वेद पढ़ने का अधिकार था, संभवतः संस्कृतभाषी थे। **उपनिषद्** की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय लोग दार्शनिक वाद-विवादों में मुख्यतया भाग लेते थे। **जनक** के राजदरबार में प्रायः ऐसा होता था। इसमें सन्देह नहीं कि यह शास्त्रार्थ वाली संस्कृत प्रणाली भारत की बहुत पुरानी चीज है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त लोग भी जो किसी सम्मानित पद पर थे, वे संस्कृत अच्छी तरह से बोल सकते थे। **रामायण** में **हनुमान** ने **सीता** से संस्कृत में बातचीत की थी। **महाभाष्य** में वर्णन आया है कि सूत भी संस्कृत बोलने में समर्थ होते थे। **एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति ? सूत आह–आयुष्मन्नाहं प्राजितेति।**[13] अन्तः और बाह्य साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा शताब्दी के आरम्भ काल में संस्कृत जनभाषा थी। इसका रूप आधुनिक हिन्दी की तरह रहा होगा। भाषा शब्द जो कि 'भाष्' धातु से बना है जिसका अर्थ बोलना होता है–यह बताता है कि एक समय में संस्कृत भी ग्रीक और लेटिन की तरह जनभाषा थी। **डा० कीथ** का कहना है कि **पाणिनि** ने संस्कृत के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया है। उसका स्वाभाविक अर्थ 'बोलचाल की भाषा' ही है। इसके अतिरिक्त **पाणिनि** ने ऐसे नियमों का विधान किया है जो कि बोलचाल की भाषा से सम्बन्ध न रखते हों तो, निरर्थक हो जाते हैं।[14] **निरुक्त** में भाषा के विषय में जो उदाहरण दिए गऐ हैं उससे भी पता चलता है कि एक समय में यह अवश्य जीवित जनभाषा थी। **यास्क** ने संस्कृत को जनभाषा के रूप में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि कुछ वैदिक शब्दों (कृदन्त) का प्रयोग भाषा या तत्कालीन प्रचलित जनभाषा की धातु क्रिया रूपों के समान प्रयुक्त होते हैं–**भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः कृतो भाष्यन्ते-निरुक्त** 2-2। क्रियात्मक रूपों के बारे में **यास्क** अपना मन्तव्य देते हैं कि कम्बोज वाले 'शवति' क्रिया को

'गच्छति' के अर्थ में प्रयोग करते हैं। जबकि आर्य लोग इसे शव मुर्दा के अर्थ में प्रयोग करते हैं तो उत्तर वाले संज्ञा रूप 'दात्र' को छुरी के अर्थ में प्रयोग करते हैं।[15] **पतञ्जलि** ने भी **यास्क** की तरह **महाभाष्य** में संस्कृत के प्रान्तीय शब्दों का उद्धरण दिया है।[16]

इस प्रकार हम देखते हैं कि **पाणिनि** और **यास्क** के समय ही संस्कृत केवल जन-भाषा नहीं थी, अपितु यह भी निश्चित प्रमाण मिलता है कि उन लोगों के बाद भी वार्तिककार **कात्यायन** के समय में भी यह जनभाषा थी, किन्तु इस समय यह शिष्टों की भाषा भी हो चली थी। **पाणिनि** की त्रुटि दिखाते हुए **कात्यायन** का कहना है कि सम्बोधन में नाम और नामन् दोनों रूप होते हैं। द्वितीया और तृतीया शब्दों के पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में उपाध्याय, आर्य, क्षत्रिय और मातुल शब्दों के उपाध्यायी, आर्या, क्षत्रिया और मातुलानी रूप नित्य न होकर विकल्प से होते हैं। इन सभी चीजों से पता चलता है कि यह भाषा कभी बोलचाल की भाषा रही होगी।[17] **प्रभात चन्द्र चक्रवर्ती**[18] ने भी अपने प्रबन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है कि संस्कृत मृतभाषा नहीं थी। यह कभी जनता में प्रचलित रही होगी भले ही यह सीमित रूप में रही हो और ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में यह जनभाषा रही होगी। **पाणिनि, यास्क** और **कात्यायन** ने उदीच्य और प्राच्यों के विशिष्ट प्रयोगों का उल्लेख किया है। ये सभी साक्ष्य निश्चित रूप से उपर्युक्त प्रतिपादन की पुष्टि करते हैं। वस्तुतः भाषा का आदर्श वह भाषा है जिसे शिष्ट लोग बोलते हैं और शिष्ट वे लोग हैं जो विशेष शिक्षण के बिना ही शुद्ध भाषा (संस्कृत) बोलते हैं। व्याकरण का प्रयोजन हमें शिष्टों का परिज्ञान कराना है, जिससे उनकी सहायता से पृषोदर जैसे शब्दों के, जो व्याकरण के साधारण नियमों के अन्दर नहीं आते, विशुद्ध रूपों को जान सकें। **डा० कीथ** के शब्दों में हम कह सकते हैं कि निश्चित रूप में कभी उच्च और कभी निम्न वर्गों की भाषा से निष्पन्न ये शब्दान्तर हमें इस मुख्य स्थिति का स्मरण दिलाते हैं कि भारत के किसी भी

समय में भाषा के कई रूप वस्तुतः व्यवहार में प्रचलित थे। वे भाषा के रूप समाज के वर्गों के अनुसार परस्पर भिन्न होते थे। वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत का जहाँ एक ओर प्रचार था, वहीं दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाएँ भी प्रचलित थीं। अनार्य भाषाएं भी बोली जाती थीं। इन सभी का परस्पर में आदान-प्रदान भी होता रहता था। मुण्डा और द्रविड़ परिवार की भाषाओं का भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इन प्रभावों से प्रभावित होने के कारण वैदिक एवं संस्कृत के उच्चारण में परिवर्तन होता था। इस प्रकार आर्य भाषा अपने विभिन्न स्वरूपों एवं बोलियों के रूप में, पश्चिम में गान्धार से लेकर पूर्व में विदेह एवं मगध तक तथा उत्तर में हिमालय के प्रदेश से लेकर मध्य भारत के वन प्रदेश तक तथा पश्चिम के सागर के तट की ओर गुजरात से होकर दक्षिण में लगभग 600 वर्ष ई० पू० तक प्रतिष्ठित हो गई। इसके पश्चात् वह बंगाल में, दाक्षिणात्य में तथा सुदूर दक्षिण भारत में फैली। प्राकृत और संस्कृत के रूप में आर्य भाषा समस्त भारत में और भारत से बाहर भी फैलने लगी। आगे चलकर महाकाव्यों और काव्यों की रचना में संस्कृत ने कृत्रिमता का रूप धारण किया; कुछ लोगों के बुद्धि विलास का साधन मात्र रह गई। समाज के विशिष्ट वर्गों की भाषा हो गई और प्रादेशिक भाषाओं का विकास बढ़ चला। प्रादेशिक भाषाओं में उपदेश देने वाले कई धार्मिक नेता हुए। इससे प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ; प्राकृत सर्व साधारण की भाषा बनी।

संदर्भ

1. **भारत का भाषा सर्वेक्षण**—पृ० 221—अनु० डॉ० उदय नारायण तिवारी, प्रकाशन—सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश।

2. **दि ओरिजिन एण्ड डेवलप्मेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज**—पृ० 24,—**हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास**—पृ० 167 पर डा० तिवारी ने दोनों के मतों का संक्षेप में स्पष्ट विभेद दिखाया है।

3. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**–पृ० 4–डा० कीथ, अनु० डा० मंगलदेव शास्त्री–प्रकाशन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी।

4. **लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टू संस्कृत**–पृ० 48–69–डॉ० बटेकृष्ण घोष–कलकत्ता, 1936।

5. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी**–पृ० 73–डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या।

6. वही, (पृ० 75)।

7. वेदान्नो वैदिकाः सिद्धालोकाच्च लौकिकाः–महाभाष्य–1/1/1 पस्पशाह्निक।

8. .... मानुषीमिह संस्कृताम् 'द्विजातिरिव संस्कृताम' **वाल्मीकि रामायण्** सुन्दर काण्ड–XXX, 17-18।

9. **फिलोसोफि ऑफ संस्कृत ग्रामर**–पृ० 17।

10. **विल्सन फिइलोलोजिकल लेक्चर्स**–पृ० 30।

11. **संस्कृत साहित्य का इतिहास**–पृ० 4–डा० कीथ।

12. 'अर्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः'।

13. **महाभाष्य**–अ० 1/4 पस्पशाह्निक।

14. **संस्कृत भाषा का इतिहास**–पृ० 11–अनु० डा० मंगलदेव शास्त्री।

15. 'शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्य्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्ये प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।'

16. 'हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेवत्वार्य्याः प्रयुञ्जते', **महाभाष्य** 1/1/1

17. भण्डारकर, JBRAS. XVI-273 और **मैकडोनेल वैदिक ग्रामर**–पृ० 307 नं० 2।

18. द **लिंग्विस्टिक स्पेकुलेसन्स ऑफ हिन्दूज**--पृ० 272–कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1933।

द्वितीय अध्याय

प्राकृत

प्राचीन भारत की भाषाएँ मुख्यतया तीन वर्गों में विभक्त की जाती हैं—1. संस्कृत, 2. प्राकृत और 3. अपभ्रंश। इन भाषाओं पर हम दो तरह से विचार कर सकते हैं। या तो हम परम्परा की विचारधारा से सहमत हों और प्राकृत तथा अपभ्रंश का सम्बन्ध संस्कृत से जोड़ें या हम आधुनिक दृष्टिकोण से सहमत हों और संस्कृत से भिन्न इसकी सत्ता स्वीकृत करें। संस्कृत को हम प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अन्तर्गत रख सकते हैं।

प्राचीन भारत की बोलियों का प्रतिनिधित्व पुराने साहित्य में सुरक्षित है। इसका ज्ञान हमें (क) ऋग्वेद की भाषा एवं (ख) परवर्ती वैदिक ग्रंथों से होता है। परवर्ती संस्कृत का ज्ञान हमें (ग) महाकाव्यों की भाषा तथा (घ) परिष्कृत संस्कृत साहित्य की भाषा से होता है, जिसके आधार स्तम्भ—**पाणिनि, पतञ्जलि, कालिदास** तथा अन्य हैं।

मध्यकालीन भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश

मध्यकालीन भाषा का प्रतिनिधित्व पालि और प्राकृत करती हैं। इससे सभी काल की बोलियों की तुलना होती है और उनके ध्वन्यात्मक परिवर्तन का बोध होता है। यह परिवर्तन व्याकरण के कुछ गुणों पर भी हुआ है जो कि पुरानी भाषा से अपनी भिन्नता रखती थी। यह काल 1100 ई० तक माना जाता है। उसके बाद फिर भाषा की ध्वनियों में परिवर्तन होने लगा। उस ध्वन्यात्मक परिवर्तन ने आधुनिक भाषा को जन्म दिया। मध्यकाल का ज्ञान

हमें विभिन्न स्रोतों से होता है। इसके आधार हैं शिलालेख एवं साहित्यिक रचनायें। शिलालेखों में प्रसिद्ध **अशोक** के शिलालेख हैं, दक्षिण पालि साहित्य या हीनयान बौद्ध साहित्य, जैन साधुओं की प्राकृत, कविता, गीत, काव्य और नाटक तथा प्राकृत व्याकरण से भी हमें इसका ज्ञान होता है। मध्यकाल के अन्तर्गत परवर्ती प्राकृत यानी अपभ्रंश का काल भी आता है। इसका वर्णन 12वीं शताब्दी में **हेमचन्द्र** ने किया था। यह वस्तुतः नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का उद्‌गम स्रोत बताने वाली भाषा है। पुरानी हिन्दी का सबसे पुराना साहित्य 12वीं शताब्दी का **पृथ्वीराज रासो** है।

मध्यकाल को भी हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(1) पुरानी प्राकृत या पालि (2) मध्य प्राकृत (3) परवर्ती प्राकृत या अपभ्रंश।

(1) **पुरानी प्राकृत या पालि**—पुरानी प्राकृत के अन्तर्गत

(क) तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व मध्यकाल के शिलालेख से लेकर द्वितीय शताब्दी ईसा के बाद तक का काल आता है। समय और काल के अनुसार बहुत सी बोलियाँ इसके अन्तर्गत प्रचलित हुई। इसी में **हीनयान** साधुओं की पालि और दूसरी बौद्ध रचनाएं हुयीं जैसे कि **महावंश** और **जातक** हैं।

(ख) जातकों या **बुद्ध** की जन्म कथाओं और पद्यों (गाथाओं) की भाषा जिनमें गद्यों की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक है।

(ग) पुराने जैन सूत्रों की भाषा।

(घ) पूर्वकालीन नाटकों की प्राकृत जैसे कि **अश्वघोष** की रचना।

(2) **मध्य प्राकृत**—मध्य प्राकृत के अन्तर्गत।

(क) महाराष्ट्री (दक्षिण) गीतों की भाषा।

(ख) दूसरी प्राकृत यानी शौरसेनी, मागधी आदि जैसा कि **कालिदास** और अन्य लोगों के नाटकों तथा व्याकरंणों में पाई जाती है।

(ग) परवर्ती जैन पुस्तकों की भाषाएँ।

(घ) पैशाची—जिसमें कि **बृहत्कथा** लिखी गई। इस भाषा का ज्ञान हमें वैयाकरणों द्वारा होता है।

(3) **परवर्ती प्राकृत या अपभ्रंश**—लोक प्रचलित बोलियों के आधार पर भी प्राकृत की रचना हुई थी। वे बोलियाँ नियमों में नहीं बांधी जा सकी थीं। इसका विकास निरन्तर होता रहा और ये अपभ्रंश के नाम से पुकारी गयीं। भाषा शास्त्र की शब्दावली में अपभ्रंश का अर्थ होगा विकास को प्राप्त की हुई भाषा। जैसे प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं के साहित्यिक भाषा हो जाने से मध्य युगीन भारतीय आर्यभाषाएँ प्राकृत को महत्वपूर्ण स्थान मिला था, उसी प्रकार जब मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषाएँ प्राकृत साहित्यिक रूप धारण कर जन सामान्य की भाषाओं से दूर हो गयीं तो अपभ्रंश को महत्व दिया गया। इस तरह जन साधारण की बोली की परम्परा निरन्तर जारी रही। आगे चल कर जब अपभ्रंश की भाषा भी लोक भाषा नहीं रह गई, साहित्यिक रूढ़ता धारण कर जनता से दूर हो चली, तो देशी भाषाओं—हिन्दी, गुजराती आदि का उदय हुआ। वास्तव में प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषा—इन तीनों के आरम्भ काल में एक ही अर्थ थे—जैसे-जैसे इनका साहित्यिक रूप बना, वैसे-वैसे उनका रूप भी बदलता गया।

परम्परा के अनुसार प्राचीन भारत की भाषाएँ तीन वर्गों में मुख्यतया विभक्त की गई हैं। वे हैं—

1. संस्कृत, 2. प्राकृत और 3. अपभ्रंश।

दण्डी[1], **भामह**[2] और **भोजराज**[3] सभी ने तीन भेद किये हैं। **रुद्रट**[4] ने इसकी संख्या बढ़ाकर 6 कर दी है। उसने मागधी, शौरसेनी और पैशाची को भी जोड़ दिया है। यह भेद तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। प्राकृत के विभिन्न प्रकार मागधी, शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि होते हुए भी इन सभी में बहुत कम भेद था।

वैयाकरणों की विभिन्न प्राकृत

प्राकृत के नाम से वैयाकरणों ने बहुत सी प्राकृत भाषाओं को समझा है। उनमें सबसे पुराने **प्राकृत प्रकाश** के लेखक **वररुचि** हैं। उसने 4 प्राकृतों का उल्लेख किया है—(1) महाराष्ट्री, (2) शौरसेनी, (3) मागधी और (4) पैशाची। 12 वीं शताब्दी के जैन वैयाकरण **हेमचन्द्र** ने तीन और प्राकृतों का उल्लेख किया है।

वररुचि ने अपभ्रंश का उल्लेख नहीं किया है। संभवतः उसने इसे प्राकृत से भिन्न माना हो। कुछ कवियों ने अपभ्रंश को देश भाषितया जनता की भाषा कहा है। **दण्डी** ने अपने **काव्यादर्श** में कहा है—'अपभ्रंश काव्यों में आभीर आदि की भाषा है' उसने प्राकृत से महाराष्ट्री का उल्लेख किया है जो कि उत्कृष्ट प्राकृत थी। शौरसेनी, गौडी और लाटी प्राकृत—मागधी का दूसरा नाम गौडी भी था। किन्तु उसने लाटी से क्या अर्थ लिया है? यह स्पष्ट नहीं होता। **वररुचि** और **दण्डी** के अनुसार प्राकृत के 4 भेद होते हैं—1. महाराष्ट्री, 2. शौरसेनी, 3. मागधी और 4. पैशाची। **हेमचन्द्र** ने इसके 6 भेद किए हैं 1. महाराष्ट्री, 2. शौरसेनी, 3. मागधी 4. अर्धमागधी या आर्ष, 5. पैशाची और चूलिका पैशाची, 6. अपभ्रंश। **लक्ष्मीधर** ने यही भेद किया है। **लक्ष्मीधर** का कहना है कि पैशाची भाषा विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती है—पाण्ड्य, केकय, बाहलीक, सह्य, नेपाल, कौन्तल, सुदेश, भोट, गान्धार, हेव (हिमवत्) और कन्नौज। **भरत** ने 7 भाषाओं का उल्लेख किया है। उसने प्राच्या, अवन्ती और वाह्लीका को भी जोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त उसने नाटकों में प्रयुक्त होने वाली विभाषाओं का भी उल्लेख किया है—शबर, आभीर, चाण्डाल, सचर, द्रविड़, औड्रज, वनेचर। **साहित्य-दर्पणकार** ने (14वीं शताब्दी) शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, प्राच्या, अवन्तिका, दाक्षिणात्या, शाकारी, बाहलीकी, द्राविडी, आभीरी और चाण्डाली प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है। **प्राकृत लंकेश्वर,** ने उदीची, महाराष्ट्री, मागधी, मिश्र, अर्धमागधी, शाकाभीरी,

श्रावस्ती, द्राविडी, औद्रिय, पाश्चात्या, प्राच्या, वाहलीका, रनतिका, दाक्षिणात्या, पैशाची, आवन्ती और शौरसेनी का नाम गिनाया है। **प्राकृत चन्द्रिका** ने महाराष्ट्री, आवन्ती, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाहलीकी, मागधी, दाक्षिणात्या और अपभ्रंश का ही वर्णन केवल नहीं किया है अपितु 27 प्रकार के अपभ्रंशों का भी चित्रण किया है, जैसे—व्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, वारवर, आवन्त्य, पाञ्चाल, टक्क, मालव, कैकय, गौड, औड्र, द्वे, पाश्चात्य, पाण्ड्य, कुन्तल, सिंहल, कलिंग, प्राच्य, करणाटक, काञ्च, द्राविड, गुर्जर, आभीर, मध्यदेशीय और वैडाल। यह ध्यान देने की बात है कि क्षेत्रीय या ट्राइव लोगों का विभाजन सन्तोषप्रद नहीं है। **वररुचि** के परवर्ती वैयाकरणों ने प्राकृत पर बढ़ती हुई क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव देखा था। उन लोगों ने यह भी देखा था कि प्राकृत शब्दों के उच्चारण पर भी क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव पड़ रहा है। जैसा कि हम जानते हैं इन वैयाकरणों के समय प्राकृत भाषा मृत हो चुकी थी और इसमें किसी भी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं है कि लेखक-गण एक-दूसरे की रचनाओं पर ही निर्भर करते थे। इसी कारण वे लोग वास्तविक रूप से भाषाओं का सूक्ष्म रूप बताने में असमर्थ हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ परवर्ती लेखकों ने वस्तुतः न० भा० आ० भाषाओं के पूर्ववर्ती रूप के क्रमिक विकासों को ही दिखाया है।

शिलालेखों और आधुनिक बोलियों के अध्ययन करने से पता चलता है कि वैयाकरणों ने जो विभाजन किया है वह वस्तुतः वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। यह ध्यान देने की बात है कि शिलालेखों और बोलियों से महाराष्ट्री, मागधी और शौरसेनी की विशेषता का पता चलता है। व्याकरणिक पद्धति की दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। **य** श्रुति का प्रयोग हम सर्वत्र पाते हैं। यह कहा जाता है कि व्यंजन **य** का विस्तार किया जाता है तब महाराष्ट्री में **अ**-ध्वनि सुरक्षित रहती है किन्तु अर्धमागधी में **य** पाया जांता है। यह नियम आधुनिक मराठी में है ही नहीं। परन्तु महाराष्ट्र के शिलालेखों में

यह पाया जाता है—नाग = नाय (नाना घट), राजा = राया (नाना घट वासिम) आदि। जैसा कि मागधी में र, ल में परिणत हो जाता है। किन्तु यह नियम बिहार और बंगाल की बोलियों में सर्वत्र नहीं पाया जाता। संभवतः इस परिवर्तन के नियम की प्रवृत्ति पूर्वी बोलियों के नाटकीय मागधी में प्राप्त होती है। कुछ भाषा वैज्ञानिक विशेषतायें परवर्ती प्राकृत में या अपभ्रंश में प्राप्त होती हैं। बहुत परवर्ती काल के शिलालेखों में भी यह प्रवृत्ति देखी जाती है। पञ्चदश के लिए पमदरश का प्रयोग हाथी गुम्फा के शिलालेख में देखा जा सकता है (लगभग प्रथम शताब्दी के अन्त में), पालि—पन्नरस, प्राकृत—पण्णरस, पण्णरह, हिन्दी—पनरह—पन्द्रह (पन्दरह)। यह शिलालेखी रूप तेर, चोद, अठार, (नागार्जुन कोण्ड दूसरी सेनचुरी)।

प्राकृत शब्द के अर्थ तथा विभिन्न प्रयोग

विद्वानों ने प्राकृत शब्द के अर्थ दो तरीके से किये हैं। प्राकृत का एक अर्थ है जनता की मूल भाषा और दूसरा अर्थ लिया जाता है वे भाषायें जो प्रकृति से ली गई हों। प्रकृति का अर्थ है—संस्कृत। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि प्राकृत का अर्थ होता है जनता की भाषा, उनका कहना है कि यह कभी भी संस्कृत से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती क्योंकि संस्कृत का अर्थ होता है संस्कार किया गया, परिष्कार किया गया अर्थात् सुसंस्कृतों की भाषा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत ही, जनता की भाषा प्राकृत से परिष्कृत करके ली गई है। जैसा कि संस्कृत पंडितों की, विद्वान् लेखकों द्वारा ग्रहीत सुसंस्कृतों की भाषा थी। स्वभावतः प्राकृत उन लोगों की भाषा हुई जो पढ़े-लिखे नहीं थे यानी स्त्रियों और बच्चों की भाषा हुई। यह उन सामान्य जनता की भाषा हुई जो संस्कृत नहीं जानते थे। सांख्य दर्शन के अनुसार—प्राकृत का अर्थ है जो प्रकृति से लिया गया हो—यानी मूल तत्त्व। इस तरह प्राकृत का सामान्य अर्थ होता है—स्वाभाविक, सामान्य या प्रांतीय भाषा।

प्राकृत वैयाकरणों की प्राकृत संबंधी व्युत्पत्ति

यह बहुत सामान्य तरीके की प्राकृत का अर्थ हुआ (जैसे—शौरसेनी—पाउड, महाराष्ट्री—पाउअ)। कुछ लोग प्राकृत का अर्थ परिष्कृत संस्कृत से परिष्कार किया हुआ मानते हैं। अलंकार शास्त्री[5] और परवर्ती प्राकृत वैयाकरण प्राकृत को संस्कृत प्रकृति से लिया गया—परिष्कार की गई भाषा मानते हैं। परवर्ती काल के वैयाकरण एवं अलंकारशास्त्रियों ने प्राकृत को संस्कृत से लिया गया माना है। कतिपय प्राकृत-व्याकरणों में प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति इस तरह की गई है—

प्रकृतिः संस्कृतं, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

(हेम० प्रा० व्या०)

प्रकृतिः संस्कृतं तत्रभवं प्राकृतं उच्यते। (प्राकृत सर्वस्व)

प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्

(प्राकृत चन्द्रिका)

प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।

(षड्भाषा चन्द्रिका)

प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः। (प्राकृत संजीवनी)

इन व्युत्पत्तियों का तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द प्रकृति से बना है, 'प्रकृति' का अर्थ है संस्कृत भाषा, संस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है—वह प्राकृत भाषा। यह व्याख्या बौद्धिक जरूर है फिर भी इस व्याख्या में ऐतिहासिक तथ्य का अभाव है। व्यावहारिक दृष्टि से हम संस्कृत को ही मूल आधार मानकर उसी से प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति तथा सिद्धि करते हैं। प्राकृत के 95 प्रतिशत शब्दों की व्युत्पत्ति का पता संस्कृत से चलता है। दूसरा कारण यह है कि प्राकृत के कुछ वैयाकरण **हेमचन्द्र** और **क्रमदीश्वर** इसे संस्कृत व्याकरण का पूरक बनाते हैं और तीसरा कारण यह है कि सभी प्राकृत के व्याकरण संस्कृत में लिखे गए हैं। ये सभी तथ्य प्रमाणित करते हैं कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है।

पूर्वोक्त विचार के विपरीत यह तर्क उपस्थित किया जाता है, यह ठीक है कि प्राकृत के 95 प्रतिशत शब्द संस्कृत से उत्पन्न हैं किन्तु उन 5 प्रतिशत शब्दों का क्या होगा जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से नहीं होती। संस्कृत शब्द रूप वस्तुतः आधार शिला है क्योंकि वही पुराने भारतीय रूपों का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु कभी-कभी कुछ पुराने भारतीय मुख्य शब्द रूपों के लिए प्राकृत शब्द रूपों की व्याख्या आवश्यक हो जाती है जो कि संस्कृत में बिल्कुल नहीं मिलते। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राकृत जनता की मूल भाषा थी और उसके बहुसंख्यक शब्द परिष्कृत प्राकृत में ले लिए गए। क्या इस कारण यह परिभाषा बना दी जाए कि ये शब्द—**प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्** हैं।

प्राकृत वैयाकरणों की प्राकृत की व्युत्पत्ति सम्बन्धी परिभाषाओं को सहज ही स्वीकार नहीं किया जा सकता, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं। **डा० पी० एल० वैद्य**[6] का विचार है कि यह उचित नहीं जान पड़ता कि प्राकृत की उत्पत्ति के विषय में प्राकृत के वैयाकरण लोग अपना मन्तव्य दें। उन वैयाकरणों का मुख्य काम भाषा को सुबोध बनाना था, जिस भाषा में विस्तृत साहित्य प्राप्त थे। भाषा में एक-रूपता बनाए रखने के लिए, भाषा का ज्ञान कराने के लिए—उदाहरणस्वरूप स्त्रियों, बच्चों आदि के लिए भाषा को सुगम्य एवं सरल बनाने के लिए व्याकरण लिखा जाता था। यह सही है कि प्राकृत भाषा के व्याकरण का ढांचा संस्कृत व्याकरण के आधार पर बनाया गया जिनमें मुख्यतः **पाणिनि, कातन्त्र, कलाप** और **हेम** आदि हैं। इन्हीं वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावलियों का भी प्रयोग किया गया। ऐसा करते समय वे प्रायः प्रकृति शब्द का प्रयोग करते थे जो कि उत्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त न होकर आधार (Base) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ था। अच्छा होगा हम **हेमचन्द्र** की उस व्याख्या को ध्यान में रखें जो कि—**प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्** कहा गया है। यदि यहाँ हम प्रकृति शब्द की तुलना करें तो यह स्पष्टतया आधार (Base) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

(1) **प्रकृतिः शौरसेनी—वररुचि,** x-2

अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची लक्षणं प्रवर्तयितव्यम्। भामहवृत्ति x-2

(2) **प्रकृतिः शौरसेनी, वररुचि,** xi-2

(3) **प्रकृतिः संस्कृतं, वररुचि,** xii-2

इस सम्बन्ध में **हेमचन्द्र** के व्याकरण का भी कुछ हिस्सा देखने लायक है—

(क) संस्कृतानन्तरं च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमान भेद- संस्कृतयोनेरेव तस्य लक्षणं न तु देशस्येति ज्ञापनार्थम्।

हेमचन्द्र-8/1/1

(ख) गोणादयः शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारा बहुलं निपात्यन्ते। हेमचन्द्र-8/2/174

(ग) एते चान्यैर्देशीषु पठिना अपि अस्याभिर्धात्वादेशी कृताः, विविधेषु प्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति। वज्जरन्तो कथयन्। वज्जरिअव्वं कथयितव्यम्। इति रूपसहस्राणि सिद्धयन्ति। संस्कृत धातुवच्च प्रत्ययलोपागमादिविधिः। हेमचन्द्र-8/4/2

पूर्वोक्त उद्धरणों से अब यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के विषय में **प्रकृतिः संस्कृतम्** वाली उक्ति को बहुत महत्व दिया जाए। फिर भी प्राकृत के उन 95 प्रतिशत शब्दों की उपेक्षा हम नहीं कर सकते जिनकी कि व्युत्पत्ति संस्कृत से की जाती है। मेरा कहने का मतलब यह है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्राकृत भाषाओं को संस्कृत से उत्पन्न माना ही जाय। वस्तुतः यह जनता की मूल भाषा थी। वैयाकरणों ने इसे संस्कृत भाषा से सुव्यवस्थित किया और विद्वानों ने इसे साहित्यिक भाषा का रूप दिया। यह सुसंस्कृत वर्ग की भाषा हो गई। प्राकृत वैयाकरणों ने इसी कारण परिनिष्ठित संस्कृत भाषा के आधार पर, प्राकृत भाषा के लिए व्याकरणिक पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग किया।

मूल प्राकृत भाषायें कालान्तर में समय पाकर विभिन्न बोलियों में परिणत होकर दूसरे प्रकार की ध्वनियों में परिणत हो गई। इन बोलियों में साधारणतः महाराष्ट्री प्राकृत परिनिष्ठित भाषा हो गई जो कि **वररुचि** और **हेमचन्द्र** की प्राकृत में प्रधान है और यही साहित्यिक प्राकृत हुई। अन्य प्राकृत बोलियाँ समय पाकर परिष्कृत हुईं। इन बोलियों के अधिक विस्तार हो जाने के कारण धीमे-धीमे इनकी उप बोलियाँ भी हो चलीं। समय पाकर उनमें से कुछ बोलियाँ प्रधान हो चलीं। उन्होंने परिष्कृत रूप धारण कर लिया। ये प्राकृत विभिन्न भाषाओं के रूप में जानी जाने लगीं—शौरसेनी, मागधी, पैशाची, अर्ध मागधी, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश आदि। यह भी सर्वविदित ही है कि अपभ्रंश की भी विभिन्न बोलियाँ हुईं।

प्राकृत वैयाकरणों के मन में प्राकृत व्याकरण के विषय में बहुत पहले से ही परस्पर विरोधी विचार दीख पड़ते हैं। वे दो वर्गों में विभक्त दीख पड़ते हैं। पूर्वीय प्राकृत वैयाकरण के पुराने लेखक **शाकल्य, भरत** और **कोहल** बहुत उत्तम वैयाकरण हैं। उनका सर्वोत्तम प्रतिनिधि **वररुचि** है। इसका अनुसरण **क्रमदीश्वर, लङ्केश्वर, रामशर्मा तर्कवागीश** और **मार्कण्डेय कवीन्द्र** करते हैं। पश्चिमी वैयाकरणों के अच्छे प्रतिनिधि **वाल्मीकि** हैं जिनके सूत्रों की उपलब्धि **लक्ष्मीधर** की **षड्भाषा चन्द्रिका** में विस्तृत रूप में है। **वाल्मीकि** के अनुयायियों में **त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंहराज** और दूसरे लोग भी हैं। **हेमचन्द्र** इसी की शिक्षा का अनुसरण करता है। किन्तु वे अपने संस्कृत व्याकरण की मुख्य पारिभाषिक शब्दावलियों का ही प्रयोग करते हैं। **भामह** कश्मीरी होते हुए भी किसी का अनुसरण नहीं करते।

आधुनिक विद्वानों के प्राकृत सम्बन्धी विचार

हम देखते हैं कि प्राकृत की उत्पत्ति के विषय में परस्पर विरोधी विचारधाराएं हैं। पारम्परिक विचारधारा के लोग विस्तृत रूप में प्राकृत भाषा की प्रकृति संस्कृत को मानते हैं। पुराने आचार्य

गण प्रायः इसी विचार के हैं। किन्तु आधुनिक विचारधारा के लोग प्राकृत भाषा को स्वाभाविक भाषा मानते हैं। उनका कहना है कि प्राकृत वह भाषा है जो प्रकृति से निकली हो। इस दृष्टि से प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत कहीं अधिक कृत्रिम थी। संस्कृत का संस्कार किया गया था और बिना किसी रूप परिवर्तन के प्राकृत में प्राकृत की प्रकृति की स्वाभाविकता की रक्षा की गई थी। प्राकृत के बारे में कहा जाता है कि यह सामान्य जनता की भाषा थी। (प्राकृत जनानां भाषा)। **सर जार्ज ग्रियर्सन** ने प्राकृत को वैदिक भाषा से पूर्ववर्ती भाषा माना है। पुरानी विचारधारा का खण्डन करते हुए उन्होंने प्राकृत को जनप्रिय बताते हुए मूल भाषा माना है। संस्कृत से उत्पन्न नहीं। अनुमान किया गया है कि यह प्राकृत भाषा वैदिक भाषा से परवर्ती न होकर, पुरानी प्रारम्भिक काल की भाषा थी और साथ ही साथ जनता की भाषा में प्रचलित भी थी। पुरानी प्राकृत के रूपों को ग्रहण करती हुई संस्कृत विकसित हुई। प्राकृत आगे चलकर भी बोलचाल की भाषा रही जबकि संस्कृत मृत भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी।

शिलालेखी प्राकृत

कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि प्राकृत की उत्पत्ति शिलालेखी प्राकृत से हुई है। शिलालेखी प्राकृत वैदिक प्रान्तीय बोलियों से उत्पन्न हुई हैं, जिसे कि उन लोगों ने पुरानी या प्राइमरी प्राकृत कहा है (2000 ई० पू० से 5000 ई० पू० तक का काल) यह वैदिक काल से भी पूर्व का काल है। यह प्राकृत वेद और पुरोहितों की भाषा के साथ-साथ बढ़ी। उन लोगों का कहना है कि वैदिक भाषा के साथ-साथ यह प्राकृत भी प्रचलित रही। उनका कहना है कि मन्त्रों की रचना के समय भी यह भाषा लोक में प्रचलित थी। वैदिक भाषा के समान ही उस समय सामान्य जनता की भाषा प्रारम्भिक प्राकृत या विभिन्न प्रान्तीय बोलियां प्रचलित थीं। यही प्रारम्भिक प्राकृत का परिष्कृत रूप वैदिक संस्कृत है (1500 ई० पू०), यह वैदिक संस्कृत भी साहित्यिक भाषा ही थी, जनभाषा

(कथ्य भाषा) नहीं। शिलालेख की प्राकृत (500 ई० पू० से 100 ई० पू० तक का काल) पालि से निरन्तर विकसित होती रही और तब वैदिक संस्कृत से परिनिष्ठित संस्कृत की रचना हुई। शिलालेखी प्राकृत से साहित्यिक प्राकृत बनी और इस साहित्यिक प्राकृत का काल 100 ई० से 500 ई० तक का काल मान सकते हैं। इसके बाद जनभाषा क्षीण होती गई। यद्यपि इसके बाद भी पुस्तकें लिखी जाती रहीं। अपभ्रंश का काल 500 ई० से 1000 ई० तक का समय माना जाता है। इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार पहले प्रारम्भिक (प्राइमरी) प्राकृत थी या विभिन्न प्रांतीय वैदिक बोलियां थीं जिससे कि शिलालेखी प्राकृत निकली और शिलालेखी प्राकृत से साहित्यिक प्राकृत भाषा विकसित हुई। यह प्राकृत 5वीं और छठी शताब्दी की है। हम यह कह सकते हैं कि **मृच्छकटिकम्** के रचयिता **शूद्रक** के समय में यह प्राकृत जनता में अच्छी तरह से प्रचलित थी क्योंकि इस नाटक में प्राकृत की सभी बोलियों का अच्छी तरह से दिग्दर्शन कराया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि जब आर्य प्रजाएं विजेता की हैसियत से भारत में आयीं तब उनकी भाषा को अनेक आर्येतर प्रजाओं की भाषा से मुकाबला करना पड़ा और उसके बाद ही आर्यभाषा ने भारत में अपनी सांस्कृतिक जड़ जमा ली। वैदिक काल से लेकर ब्राह्मण काल तक आर्यभाषा इस प्रकार की सांस्कृतिक स्पर्धा में पूर्णतया विजेता रही। इस काल की आर्यभाषा भारतीय आर्यभाषा की प्रथम भूमिका है। इस काल के बाद आर्यभाषा का स्थल और काल की दृष्टि से गतिशील विकास होता रहा और इस विकास के साथ ही आर्य भाषा की दूसरी भूमिका आरम्भ होती है, यह भूमिका है—प्राकृत। जब आर्य पूर्व प्रजाएं अपनी भाषा छोड़कर इन आत्रन्तुक आर्यों की भाषा को अपनाने लगी होगी और वह भी भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न काल में, तब अनेक तरह की प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ होगा और इस धारणा से हम अनेक तरह की प्राकृत पाने की आशा रख सकते हैं। किन्तु जब हम प्राकृत साहित्य की ओर दृष्टि डालते हैं तब भिन्न परिस्थिति उपस्थित होती है। प्राप्त प्राकृतों में प्राचीनतम

प्राकृत जैसे कि **अशोक** के शिलालेख और ऐसे कुछ नमूनों को छोड़कर उत्तरकालीन प्राकृत साहित्य में विशेषतः एक ही तरह की प्राकृत हमको मिलती है। शिष्ट संस्कृत साहित्य के नमूने पर ही अधिकतर शिष्ट प्राकृत साहित्य उपलब्ध होते हैं। प्राकृत साहित्य की शैली सर्वत्र एक ही तरह की है, चाहे वह पूर्व की हो या पश्चिम की अथवा दक्खिन की ही क्यों न हो। सर्वत्र एक ही शिष्ट सामान्य शैली की प्रक्रिया हमें प्राप्त होती है। प्राकृत का अन्तिम छोर है—अपभ्रंश काल। यह नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के उद्‌गम का सूचक है। किन्तु इस अपभ्रंश साहित्य में भी आधुनिक न० भा० आ० भाषाओं की तरह पूरब और पश्चिम शैली का भेद नहीं पाया जाता।

इस प्रकार हम निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राकृत वस्तुतः जनता की मूल भाषा थी। इसी को **सेठ हरगोविन्द दास** ने **पाइय सद्द महण्णवो** की भूमिका में प्राकृत की व्याख्या इसी तरह की है—

प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम् या
प्रकृतीनां साधारणं जनानामिदं प्राकृतम्।

उन्होंने लक्षणा की अपेक्षा मुख्यार्थ पर ही विशेष बल दिया है। **अकृत्रिम स्वादुपदां जैनीं वाचमुपास्महे** (हेम० काव्यानुशासन)। **श्री सेठ** ने अपने मत की पुष्टि में **नमिसाधु,**[7] **सिद्धसेन**[8] **वाक्पतिराज**[9] और **राजशेखर**[10] को भी उद्धृत किया है। विचार करने से प्राकृत के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल पाते हैं—

(1) प्राप्त शिलालेख गिरनार, जौगड और मानसेर से कम से कम दो बोलियों का पता चलता है जिसमें एक तो मगध की मुख्य मध्य बोली है। यहीं से उसका उद्‌भव हुआ। यह वैदिक काल की प्रारम्भिक प्राकृत या प्रान्तीय बोलियों में से एक थी।

(2) प्राकृत में बहुत से ऐसे देशी शब्द हैं जो न तो परिनिष्ठित संस्कृत में हैं और न वैदिक संस्कृत में ही प्राप्त होते हैं। वे वैदिक

काल की बहुत सी प्रान्तीय बोलियों से ली गई हैं, इसे हम प्रारम्भिक प्राकृत कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इन देशी शब्दों को परिनिष्ठित या वैदिक संस्कृत से उत्पन्न मानकर, इन्हें तद्भव कहा है जो कि वस्तुतः बड़ी कठिनाई से, इन दोनों में इसकी समता पाई जा सकती है।

(3) तीसरा उन लोगों का यह कहना है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं मानी जा सकती क्योंकि बहुत से शब्द और अभिव्यक्तियाँ प्राकृत की ऐसी हैं जो कि संस्कृत में नहीं पाई जातीं किन्तु वे केवल वैदिक संस्कृत में ही मिलती हैं।

(4) चौथा कुछ लोगों का यह मत है कि हम प्राकृत को वैदिक संस्कृत से भी उत्पन्न नहीं मान सकते क्योंकि वैदिक संस्कृत के बहुत से ऐसे शब्द और उच्चारण हैं जो कि प्राकृत में पाए जाते हैं और उसी तरह प्राकृत के भी बहुत से रूप और शब्द ऐसे हैं जो कि वैदिक संस्कृत में भी पाए जाते हैं। तालु दन्त्य के लिए कृत=कड, वृत=बुड, मृत=मड। दन्त्य न मूर्धन्य ण में परिवर्तित हो जाता है जबकि ष् और र पूर्व में हो– उष्ण, ऋण आदि या दन्त्य ध्वनि स् मूर्धन्य ध्वनि ष् में परिवर्तित हो जाती है। दन्त्य के स्थान पर मूर्धन्य में परिवर्तित हो जाने की प्रवृत्ति वैदिक और लौकिक संस्कृत में देखी जाती है। यह बताता है कि उस समय प्रारम्भिक प्राकृत भी थी जिसका कि यह प्रभाव है। प्राकृत के बहुत से ऐसे शब्द हैं जो कि वैदिक संस्कृत में नहीं पाए जाते उदाहरणस्वरूप देशी शब्द और संस्कृत के बहुत से रूप और शब्द ऐसे हैं जो कि प्राकृत में नहीं पाये जाते।

(5) पाँचवा यह कहना है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत में भिन्नताएँ होते हुए भी दोनों में बहुत कुछ समता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि वैदिक संस्कृत और प्राकृत (शिलालेखी प्राकृत) का सम्बन्ध भगिनि––बहन (Sister language) का सा है जो कि विभिन्न प्रान्तीय वैदिक बोलियों से या प्रारम्भिक प्राकृत

से निकली है। प्रारम्भिक (प्राइमरी) प्राकृत इन दोनों भाषाओं से अवश्य पूर्व की होगी या उन्हीं के साथ प्रचलित रही होगी।

वैदिक संस्कृत और प्राकृत में निम्नलिखित समताएं हैं––

1. सन्धि के नियमों में शिथिलता और स्वर भक्ति (स्वरेण भक्तिः–स्वर भक्तिः) वैदिक संस्कृत और प्राकृत में समान पाई जाती है। संस्कृत में यह चीज नहीं पाई जाती है। उदाहरणस्वरूप– भार्या--भारिया, क्लिष्ट–किलिट्ठ आदि रूप प्राकृत में पाए जाते हैं। उसी तरह वैदिक संस्कृत में भी स्वर्गः–सुवर्गः,–तन्वः–तनुवः, –स्वः–सुवः आदि मिलते हैं।

2. जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि विभिन्न प्राकृत और वैदिक संस्कृत में समता है। उनके खास रूप संस्कृत में नहीं हो सकते। उदाहरण–आहो का वैदिक आस् (पुत्राहोदेवास), आए का वैदिक आए, एहि का वैदिक एभिः (देवेभिः, बहुहि)।

3. प्राकृत ध्वनियों में कुछ ऐसे खास शब्द हैं जिनका कि वैदिक संस्कृत से पता चलता है किन्तु वे परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं पाए जाते हैं। पाशो वैदिक पश्, ता, जा, से वैदिक तात्, यात् आदि और एत्थ से का वैदिक इत्था से।

4. प्राकृत और वैदिक संस्कृत में ऋ, उ में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण–ऋतु–उउ, **ऋग्वेद**–कृत–कुउ।

5. दोनों प्राकृत और वैदिक संस्कृत में संयुक्त व्यंजन में से एक लुप्त हो जाता है और अवशिष्ट स्वर अगर ह्रस्व है तो दीर्घ कर दिया जाता है। दुर्लभ–दूलह आदि।

6. दोनों भाषाओं में शब्द के अन्तिम व्यंजन को हटा दिया जाता है। उदाहरण–तावत्–ताव, यशस्–जश, वैदिक–पश्चात्–पश्चा, उच्चात्–उच्चा, नीचात्–नीचा।

7. दोनों जगह संयुक्त व्यंजन के र् या य् समाप्त हो जाता है। प्रगल्भ–पगब्भ, श्यामा–शामा। वैदिक–अप्रगल्भ–अपगल्भ।

8. दोनों जगह संयुक्त व्यंजन का अवशिष्ट स्वर अगर दीर्घ है तो ह्रस्व हो जाता है। पात्र—पत्त, रात्रि—रत्ति, चूर्ण—चुण्ण, वैदिक—अमात्र—अमत्त।

9. दोनों भाषाओं में द की जगह ड हो जाता है। दण्ड—डण्ड, दंस—डंस, वैदिक—पुरोदास—पुरोडास।

10. दोनों जगह 'ध' ह में बदल जाता है। बधिर—बहिर, वैदिक—प्रतिसंधाय—प्रतिसंहाय।

11. दोनों भाषाओं के कर्ता कारक एक वचन संज्ञा के अन्त में 'अ' ओ में बदल जाता है। देवो, जिणो, वैदिक—संवत्सरो, सो आदि।

12. दोनों जगह तृतीया के बहुवचन में हि और भि होता है। देवेहि, वैदिक—देवेभिः।

13. दोनों भाषाओं में पंचमी एक वचन का अन्तिम त् समाप्त हो जाता है। देवा—देवात्, जिणा—जिणात्, वैदिक—उच्चा—उच्चात्, नीचा, पश्चा आदि।

14. दोनों भाषाओं में द्विवचन रूप नहीं पाये जाते। प्रा०—राम लक्खणा, वै०—इन्द्रावरुणा, इन्द्रा वरुणौ के लिए। वैदिक संस्कृत में इसके लिए कभी बहुवचन का रूप भी पाया जाता है। प्राकृत में दो, दुबे, बे आदि सुरक्षित हैं।

वैदिक संस्कृत और प्राकृत की इस समता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राकृत की उत्पत्ति परिनिष्ठित संस्कृत से नहीं हुई है। वैदिक संस्कृत और प्राकृत की समता से विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि वैदिक संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई है। किन्तु हम देख चुके हैं कि इन समताओं के बावजूद इन दोनों में खास अन्तर है। वस्तुतः वैदिक संस्कृत से भी प्राकृत की उत्पत्ति नहीं हुई है। जैसा कि **डा० ग्रियर्सन** आदि विद्वानों ने अपना विचार व्यक्त किया है।

प्राकृत के प्राचीन बोली विभाग

वस्तुतः बुद्ध और महावीर के समय से प्राकृत का काल आरम्भ होता है और यह काल साहित्यिक दृष्टि से **विद्यापति** और **ज्ञानेश्वर** आदि के नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के उद्‌भव काल के 4, 5 सौ वर्ष पहले ही समाप्त हो चुका था। इसी को भाषा वैज्ञानिकों ने 'मध्य भारतीय आर्यभाषा काल' कह कर पुकारा है। इसके बाद 'नव्य भारतीय आर्यभाषा काल' का उद्‌भव होता है। इस तरह प्राकृत काल लगभग 1500 (पन्द्रह सौ) साल तक भारत के इस विशाल भू-भाग में प्रचलित रहा। इसी प्राकृत के परिवर्तित रूप अपभ्रंश के बाद नव्य भारतीय आर्य भाषाएं विभिन्न रूपों में, विभिन्न शाखाओं में दृष्टिगत होने लगीं। भाषा का यह संक्रमण काल अपनी लम्बी अवधि के बाद इस रूप में आजकल दृष्टिगत होती है।

पूर्वी भारत में बौद्ध और जैन धर्म ने लोक प्रचलित जनता की भाषा में अपना उपदेश दिया था जिसका नाम प्राकृत पड़ा। यह भाषा संस्कृत का प्रभाव पूर्वी भारत से हटाने लगी। **बुद्ध** और **महावीर** के पहले आर्यों की शिष्ट भाषा संस्कृत थी। यह समाज के परिष्कृत लोगों की बुद्धि-विलास के कार्यों में ही व्यवहृत होती थी। दैनंदिन कृत्यों से अब इसका नाता टूट चला था। इन धर्मों के उत्थान के साथ-साथ प्राकृत भाषा भी शनैः-शनैः महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगी। इसमें भी आगे चलकर सामान्य और विशेष भाषा का अन्तर हो चला। प्राचीनतम प्राकृत साहित्य की भाषा के स्वरूप का ज्ञान ई० पू० 500 शताब्दी से होने लगता है। परम्परा के अनुसार **बुद्ध** के उपदेश भिन्न-भिन्न विहारों में, मठों में, भिक्षुओं की स्मृति में संचित थे। ये भिक्षुगण भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासी थे। अवन्ति, कोशाम्बी, कन्नौज, सांकाश्य, मथुरा और वहां से आने वाले भिक्षुओं की भाषा भी भिन्न-भिन्न होगी। उत्तर और पश्चिम की बोलियां पूर्व से अवश्य भिन्न रही होंगी। **विनय पिटक** का जो संकलन किया गया होगा उसमें विभिन्न भाषा-भाषी

भिक्षुओं का अपना हिस्सा अवश्य होगा। उसके फलस्वरूप इसकी भाषा में परिवर्तन भी हुआ होगा। उसके मूल उपदेश मगध के भिक्षुओं की भाषा एवं कोशल के राजकुमार की भाषा में यानि शिष्ट मागधी में थे। स्वभावतः उस उपदेश में शिष्ट भाषा का ही प्रयोग हुआ होगा—बोली का नहीं। दूसरे प्रांत का व्यक्ति दूसरे प्रांत की शिष्ट बोली ही बोल सकता है वहां की ग्रामीण बोली नहीं। दूसरे वाचन के 'संहनन' के समय में भी पश्चिम से बौद्ध भिक्षु गण आए थे। उनके उपदेश का प्रभाव शिष्ट मागधी पर अवश्य पड़ा होगा। अशोक के समय में ही यह साहित्य कुछ अंश में लिपिबद्ध हो चुका था। पालि के विषय में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि यह किस प्रदेश की भाषा थी ? विद्वानों ने इसे (Kuuest speache) 'संस्कृत की भाषा' या 'मिश्र भाषा' भी कहा है। **पं० बेचरदास**[1] का भी कहना है कि—संस्कृति की भाषा के मूल में भी हमेशा किसी न किसी प्रदेश की बोली होती है, इसलिए पालि के तल में किस बोली का प्रभाव है, इसका विवाद किया जाता है। वस्तुतः प्राचीनतम बौद्ध साहित्य भी, **बुद्ध** निर्वाण के बाद करीब चार सौ साल के बाद ही लिपिबद्ध होता है, और वह भी अनेक तरह के भिक्षुओं की बोलियों के प्रभाव के बाद। निदान यह कि पालि में पूर्व और पश्चिम की भाषाओं का सम्मिश्रण है। इस पर धार्मिक शैली का प्रभाव अधिक है।

पालि शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ होता है 'पंक्ति, घेरा, सीमा' और उसके बाद अर्थ होता है 'पवित्र पाठ'। यह उस भाषा के लिए प्रसिद्ध है जिसमें कि **तिपिटक** या भिक्खुओं की पवित्र भाषा जो कि सिलोन, वर्मा और श्याम में लिखी गई है। बौद्धों की यह शाखा 'हीनयान' के नाम से प्रसिद्ध है और यह उत्तर बौद्धों की शाखा से भिन्न है। इसे हम 'महायान' नाम से अभिहित करते हैं। इन भिक्षुओं की भाषा में हम विस्तृत साहित्य पाते हैं। सामान्यतया उसे हम 'अत्थ कथा' कह कर पुकारते हैं और उसमें बहुत सी कविताएं भी प्राप्त होती हैं।

सभी परिनिष्ठित भाषाओं की तरह जो कि सुसमृद्ध तथा उच्च स्तरीय साहित्य की होती हैं—पालि एकरूपता की भाषा नहीं है। न तो इसकी स्पष्ट रूप रेखा ही है। दूसरी ओर मध्य भारतीय आर्य भाषा की बहुसंख्यक भाषाओं पर इसका प्रभाव दीख पड़ता है। यद्यपि भाषा वैज्ञानिक रूपता में म० भा० आ० के पूर्व काल का प्रतिनिधित्व करती है। पालि के कम्पोजिट स्वभाव की तुलना प्रा० भा० आ० के परिनिष्ठित संस्कृत और वैदिक संस्कृत से की जा सकती है।

पालि साहित्य की विशेषता के विषय में विभिन्न मत हैं। पालि की परम्परा पर ध्यान देते हुए यह विदित होता है कि **बुद्ध** के काल के पहले भी पालि की परम्परा थी। किन्तु उसके किसी निश्चित काल के विषय में जानकारी प्राप्त करना संभव नहीं है। तीन 'बौद्ध वाचना' (कौंसिल) की परम्परा देखते हुए, भिक्षुओं के पहले की पालि की सत्ता के विषय में, प्रमाणाभाव के कारण कोई निश्चित काल बताने में असमर्थ हैं। तृतीय शताब्दी ई० पू० **अशोक** के समय, कुछ विशिष्ट भू–भागों में उसकी निश्चित सत्ता स्वीकार कर सकते हैं। **अशोक** के काल में ही तीसरी सभा की बैठक 'तिस्स' की अध्यक्षता में हुई थी। किन्तु पुराकालीन भिक्खुओं की भाषा वही पालि नहीं थी जो कि आज हमारे सामने है। समस्त मौर्य साम्राज्य के ऊपर बौद्ध धर्म के फैल जाने के कुछ ही दिनों बाद **अशोक** ने विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में **बुद्ध** का उपदेश फैलाया। इस समय तक भिक्खु लोग एकरूपता की परम्परा से पृथक हो रहे थे। इन विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव पालि पर अवश्य पड़ा होगा। इस तरह यह भाषा समस्त साहित्य का माध्यम बनी होगी। विभिन्न भाग के भिक्षुओं की विभिन्न भाषाओं के प्रयोग से प्रमाणित होता है कि भिक्खुओं की भाषा में मिलावट है। 247 ई० पू० **अशोक** के शिलालेखों (वैरात, भाब्रु के शिलालेख) से यह सामान्यतया मान लिया गया है कि पालि के **तिपिटक** के सुत्त और विनय का विभाजन हो चुका था और इनकी सत्ता स्वीकृत

हो चुकी थी। **अशोक** द्वारा वर्णित सात पाठों के अलावा **भरहुत** तथा साँची के स्तूप ने भी भगवान **बुद्ध** का उपदेश दिया है। इन स्तूपों से **बुद्ध** के जीवन की झाँकी मिलती है। **भरहुत** और **साँची** के शिलालेखों से **भिक्षु माणक, सुतंतिक, पंचनेकायिक** (5 निकाय), पिटक जानने वाले और **धम्मकथिक** का पता चलता है। इन सभी प्रमाणों से यह विदित होता है कि 200 ई० पू० **बुद्ध** पिटक की सत्ता वर्तमान थी; सुत्त के 5 निकायों के साथ **मिलिन्द प्रश्न** जिसकी रचना प्रथम शती के अर्ध शती ईस्वी तक हो चुकी थी। इससे **तिपिटक** की सत्ता का प्रमाण मिलता है। पालि परम्परा को बौद्ध संस्कृत साहित्य भी सुरक्षित बनाए रखे हुए हैं। हीनयान और महायान की साहित्यिक रचना **बुद्ध** के पूर्वकालीन ज्ञान का स्रोत है।

इस तरह हम निर्णय कर सकते हैं कि पालि साहित्य के माध्यम से धार्मिक अभिव्यक्ति का ज्ञान 300 ई० पू० की एक विशाल परम्परा का ज्ञान होता है जो कि 11वीं शती ईस्वी तक सुरक्षित रहता है। इसके बाद यह भाषा संस्कृत से प्रभावित हो चली। फिर भी इसमें काफी सरलता ही मिली। अगर हम धार्मिक साहित्य को छोड़कर शिलालेखों की शरण लें तो हमें भाषायिक सामग्री का ज्ञान कुछ अधिक होता है। पालि साहित्य में यद्यपि प्राचीन तत्त्वों की रक्षा होती है किन्तु इस पर पूर्व देश की अपेक्षा मध्य देश का प्रभाव अधिक है। **अशोक** के शिलालेख ई० पू० 270 से 250 ई० पू० के लगभग लिखे गए हैं। स्थल के अनुसार भिन्नता होते हुए भी ये सब के सब एक ही शैली में लिखे गए हैं। उत्तर पूर्व के शाहबाज गढ़ी और मानसेर के लेख दक्षिण पश्चिम के गिरिनार शिलालेख में भाषा की दृष्टि से भिन्नता है। ये शिलालेख **अशोक** की राजभाषा के द्योतक हैं। यह उसके प्रशासन और न्यायालय की भाषा है। राज भाषा बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न हुआ करती है। उसमें कुछ पुरातनता के प्रति आकर्षण होता है। इससे उसकी कुछ शिष्टता निभती है। इस आधार पर विद्वानों ने यह

अनुमान किया है कि ई० पू० 300 (तीसरी शती) की राजभाषा और ई० पू० 5वीं शती की पूर्वी बोलियों में कोई खास अन्तर नहीं होगा। इस दृष्टि से **अशोक** कालीन राजभाषा के अध्ययन से **बुद्ध** और **महावीर** की भाषा के अध्ययन में काफी सहायता मिलती है। भाषा की दृष्टि से **अशोक** के शिलालेख 4 भागों में बांटे जा सकते हैं। (1) उत्तर-पश्चिम के शिलालेख, (2) गिरिनार के लेख, (3) गंगा-जमुना से लेकर महानदी तक के लेख और (4) दक्षिण के लेख।

दक्षिण के लेख आर्य भाषा से बिल्कुल भिन्न हैं। वहाँ की भाषा का प्रभाव **अशोक** के शिलालेख पर अपना प्रभाव जमा नहीं पाते। दूसरी बात यह कि इस प्रदेश की भाषा से अशोक की राजभाषा में कोई खास अन्तर नहीं है। यह स्वाभाविक था कि वहाँ के भाषा-भाषी **अशोक** के उन लेखों की भाषा को आसानी से समझ लेते हैं। इस दृष्टि से स्वाभाविक है कि **अशोक** के कुछ लेख पूर्वी बोली के रूपों की रक्षा करते हुए लिखे गए हों। अतः गंगा-जमुना से लेकर महानदी तक के लेख कुछ क्षेत्रीय भेद रखते हुए भी **अशोक** की राजभाषा में ही लिखे गए होंगे। किन्तु जो प्रदेश दूर-दूर के थे वहाँ की जनता को समझाने के लिए, उसे सुबोध बनाने के लिए वहाँ की भाषा में ही वे लेख लिखे गए होंगे। इससे राज व्यवस्था सुव्यवस्ति रूप से चलाने में सुविधा होती होगी। नमूने के लिए हम उत्तर-पश्चिम के लेखों को ले सकते हैं। गिरनार का लेख सौराष्ट्र बोली का पुरोगामी है। यद्यपि यह बोली मध्य देश से काफी प्रभावित है। उत्तर-पश्चिम की बोलियों की कुछ विशेषताएं **धम्मपद** में पाई जाती हैं। इस प्रदेश की बोलियों का सम्बन्ध ईरानी प्राकृत से भी जोड़ा जाता है। कुछ लोगों ने इसे निय प्राकृत कहकर भी पुकारा है। ये खरोष्ठी लिपि में लिखी गई हैं। दरद भाषाओं का सम्बन्ध भी इधर की ही भाषा से है। गिरनार के लेख की भाषा का सम्बन्ध साहित्यिक पालि से है। इसका कारण यह हो सकता है कि साहित्यिक पालि का सम्बन्ध मध्य देश की भाषा से है। गिरनार के लेख की भाषा पर जो

मध्य देश की भाषा का प्रभाव है, वह उनको पालि की ओर खींचता है।

पालि शब्द का अर्थ

जैसा कि पहले लिख चुके हैं कि पालि भाषा एवं पालि के शब्दार्थ में बहुत मतभेद है। वस्तुतः पालि शब्द किसी भाषा का द्योतन नहीं करता। इसका अर्थ होता है—'मूलपाठ' या 'बुद्धवचन'। 'अट्ठकथा' से मूलपाठ की भिन्नता प्रकट करने के लिए इस शब्द का व्यवहार होता था। जैसे—**इमानि ताव पालियं अट्ठकथायं पन** (ये तो 'पालि' में हैं, परन्तु अट्ठकथा में) अथवा **नेव पालियं न अट्ठकथायं आगतं** (न यह 'पालि' में है न अट्ठकथा में)। पालि भाषा न कहकर केवल 'पालि' शब्द से ही 'थेरवाद' के 'धार्मिक साहित्य' की भाषा को अभिहित करने की प्रथा आधुनिक काल में चल पड़ी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पालि शब्द की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किए हैं।[12] **पं० बिधुशेखराचार्य** ने पालि शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'पङ्क्ति' शब्द से की है। इसके परिवर्तन का क्रम पङ्क्ति > पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि किया है। बौद्ध साहित्य में भी पालि का अर्थ 'पङ्क्ति' किया गया है। **मैकर बालेसर** महोदय ने 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति 'पाटलिपुत्र' से की है। किन्तु यह व्युत्पत्ति भाषा-वैज्ञानिक आधार पर नहीं है। **भिक्षु जगदीश काश्यप** ने **पालि महाव्याकरण** में पालि शब्द की व्युत्पत्ति 'परियाय' (सं० पर्याय) शब्द से की है। इस मत के अनुसार परियाय > पलियाय > पालियाय और तत्पश्चात् केवल पालि शब्द बना और व्यवहार में आया। पालि शब्द की उत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच्' प्रत्यय 'लि' के योग से निष्पन्न होती है। प्राचीन लेखकों ने 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति **अत्थान पाति रक्खतीति तस्मा पालि** (अर्थों की रक्षा करती है, इसलिए पालि) पा धातु से की है। इससे 'पालि साहित्य' के संकलन एवं लिपिबद्ध किये जाने के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। पालि शब्द की यह व्युत्पत्ति समुचित प्रतीत होती है।

पालि किस काल तथा किस प्रदेश की भाषा थी

यह किस प्रदेश की भाषा थी यह पालि शब्द से पता नहीं चलता। लंका के बौद्ध भिक्खुओं का विश्वास रहा है कि पालि मगध की भाषा थी। इसमें **बुद्ध** भगवान का उपदेश उसी रूप में है। किन्तु पालि एवं मागधी भाषा में कुछ ऐसी भिन्नताएँ हैं जिसके कि कारण पालि मागधी भाषा से भिन्न है। **वररुचि** और **हेमचन्द्र** आदि प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने जिस मागधी का वर्णन किया है तथा जो संस्कृत के नाटक आदि में पाई जाती है वह पालि से बहुत परवर्ती मागधी भाषा के रूप का चित्रण करता है। मागधी में संस्कृत की स्, ष् ऊष्म ध्वनियाँ 'श्' में परिवर्तित हो जाती हैं किन्तु पालि में केवल दन्त्य 'स्' ही मिलता है। मागधी में केवल 'ल्' ध्वनि है जबकि पालि में 'र्' एवं 'ल्' दोनों ध्वनियाँ पाई जाती हैं। अकारान्त पुल्लिग एवं नपुंसक के कर्ता कारक एक वचन में मागधी में 'ए' किन्तु पालि में 'औ' प्रत्यय लगता है जैसे मागधी-'धम्मे', पालि-'धम्मो'। जब हम इसे मागधी नहीं मानते तो प्रश्न उठता है कि आखिर यह किस प्रदेश की भाषा थी ? इस पर भी विद्वानों ने अपना विचार प्रकट किया है।

डॉ० ओल्डन वर्ग ने खारवेल के अभिलेख की भाषा के आधार पर पालि को कलिंग की जनभाषा माना है। उनका विश्वास था कि कलिंग से होकर लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ था। किन्तु यह मत मान्य नहीं है। **वेस्टर गार्ड** तथा **ई० कुहन** ने पालि को उज्जैन प्रदेश की भाषा माना है। दो बातों के आधार पर उन्होंने इस मत की पुष्टि की है। एक तो **अशोक** के गिरीनार (गुजरात) अभिलेख की भाषा की पालि से बहुत समानता है, दूसरे राजकुमार **महिन्द** (महेन्द्र) का जन्म उज्जैन में हुआ था और यहीं उनका बाल्यकाल बीता। यहीं से उसने लंका में बौद्ध का प्रचार किया होगा। वहाँ **त्रिपिटक** ले गया होगा। यह मत युक्तिसंगत होते हुए भी इसमें पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। **आर० ओ० फ्रैंक**

ने बिन्ध्य प्रदेश की भाषा को पालि का आधार माना है। उन्होंने उत्तर भारत की समस्त जन भाषाओं के साथ पालि की तुलना कर अपने इस मत की स्थापना की है। **स्टेन केनों** ने भी यही मत प्रकट किया है। किन्तु उनके निष्कर्ष का तरीका कुछ भिन्न है। पालि में पैशाची के कुछ लक्षण दिखाई देते हैं। जैसे––ग, द का क, त होता है। **स्टेन केनो** महाशय ने विन्ध्य प्रदेश को 'पैशाची' भाषा का स्थान मान कर 'पालि' का आधार विन्ध्य प्रदेश की बोली को माना। किन्तु पैशाची को **ग्रियर्सन** ने विन्ध्य प्रदेश की भाषा माना है। **ग्रियर्सन** महोदय ने पालि में मागधी एवं पैशाची की विशेषताएं देखकर इसे मगध की भाषा माना है। यह पालि तक्षशिला में पहुंचकर पैशाची से प्रभावित हुई। **प्रोफेसर रीजडेविड्स** ने कोशल की बोली को पालि का आधार माना है। उनके अनुसार ई० पू० छठी-सातवीं शताब्दी में कोशल में प्रचलित भाषा ही पालि की जननी है क्योंकि **बुद्ध** ने स्वयं अपने लिए 'कोशल खत्तिय' (कोशलक्षत्रिय) कहा है। सम्भवतः इसी में वे अपना उपदेश करते होंगे। **विंडिश** और **गायगर** ने पालि को साहित्यिक भाषा माना है, जो सब जनपदों में समझी जाती थी और विभिन्न जनपदों में स्थानीय उच्चारण आदि की विशेषताओं को भी ग्रहण करती थी। किन्तु कोई भी साहित्यिक भाषा किसी जनपदीय बोली के आधार पर ही निर्मित होती है। अतः यह विचार तर्क संगत प्रतीत नहीं होता। कुछ विद्वानों का कहना है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार (अवध, बनारस, गोरखपुर, उत्तरी तथा दक्षिणी बिहार) के भू-भाग में तत्कालीन प्रचलित मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा के एक पूर्वी रूप में भगवान **बुद्ध** एवं **महावीर** ने अपना उपदेश दिया। भगवान **बुद्ध** के उपदेशों का प्रणयन सर्वप्रथम इसी पूर्वी बोली में हुआ था। बाद में पालि भाषा में इसका अनुवाद हुआ। इस मत की पुष्टि पेरिस के विद्वान **स्व० सिल्वां लेवी** (Sylvain Levi) तथा बर्लिन के प्राध्यापक **हाइन्रिख् ल्यूडर्स** (Henirich Luders) सदृश ख्याति प्राप्त विद्वज्जनों ने अत्यधिक उदाहरण देकर की है।

डॉ० सुनीत कुमार चटर्जी[13] ने कहा है कि बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अनुवाद **बुद्ध** की मूल पूर्वी बोली से जिन-जिन अन्य प्राचीन भारतीय प्रादेशिक बोलियों में हुई थी, उनमें से एक पालि भी थी। इस पालि भाषा को गलती से मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन भाषा मान लिया जाता है; वैसे यह उज्जैन से मथुरा तक के मध्य देश के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा थी। मध्य देश की भाषा के रूप में, पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्तानी की भाँति केन्द्र की आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी। अतएव आस-पास में पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण-पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। बौद्ध शास्त्र ग्रन्थों का पालि भाषा में अनुवाद (एवं कालान्तर में उनका संस्कृत अनुवाद) ही विषेश रूप से प्रचलित हुआ और मूल पूर्वी भाषा वाला पाठ लुप्त हो गया। पालि आगे चलकर बौद्धों के हीनयान के 'थेरवाद' सम्प्रदाय की प्रधान साहित्यिक भाषा बनी। यही पालि सिंहल पहुंची और यहीं से ब्रह्म देश एवं स्याम तक पहुंची। यह इन्दोचीन के बौद्ध मत की धार्मिक भाषा भी बनी। इस तरह हम देखते हैं कि पालि का प्राचीन शौरसेनी से जितना अधिक सादृश्य है, उतना अन्य किसी बोली से नहीं। मध्य एशिया में **अश्वघोष** के नाटकों के जो अंश मिले हैं उनमें प्रयुक्त प्राचीन शौरसेनी (मध्यदेश की भाषा) पालि से बहुत अधिक समानता रखती है। खारवेल के अभिलेख की भाषा पालि से बहुत समानता रखती है। पालि के साहित्यिक भाषा हो जाने पर उसमें पैशाची एवं पूर्वी भाषा के रूप भी प्रयुक्त होने लगे। संस्कृत के तत्सम, अर्ध तत्सम आदि रूप भी प्रयुक्त होने लगे; जैसे रत्न—रतन आदि।

संस्कृत से पालि का भेद

संस्कृत से पालि का जो मुख्य अन्तर हुआ वह आगे चल कर मध्य भारतीय आर्य भाषा में पूर्णरूपेण परिलक्षित होने लगा। संस्कृत के ऐ, औ स्वर पालि में लुप्त हो गए। इनका स्थान ए

और ओ ने लिया–'ऐरावण' का एरावण, 'गौतम' का गोतम और 'औषध' का 'ओषध' हो गया। पालि में संयुक्त व्यंजनों से पूर्व ह्रस्व स्वर का ही प्रयोग होने लगा, जैसे–मार्ग–मग्ग, कार्य–कय्य, पूर्ण–पुन्न। संयुक्त व्यंजनों से पूर्व ए, ओ ह्रस्व भी उच्चारण हो गया, जैसे–मैत्री–मेॅत्ती, ओष्ठ–ओॅट्ठ। संस्कृत की ऋ, ऌ, ध्वनियाँ भी पालि में लुप्त हो गयीं। विसर्ग का भी लोप हो गया। ऊष्म ध्वनियों में स मात्र अवशिष्ट रह गया। जैसे–श्मशान का पालि में सुसान हो गया। संस्कृत के जिस शब्द में संयुक्त व्यंजन के पूर्व दीर्घ स्वर था, उसके पालि प्रतिरूप में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गया। जैसे–मार्ग–मग्ग, जीर्ण–जिण्ण, चूर्ण–चुण्ण आदि। ऋ स्वर का विकास अर, इर, उर और कभी-कभी 'एर्' के रूप में हुआ। मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में 'र्' का लोप होकर केवल आ, इ, उ अथवा ए रह गए। पालि में भी यह परिवर्तन दिखाई देता है। यथा–ऋक्ष–अच्छ, हृदय–हदय, मृग–मिग, ऋण–इण, वृश्चिक–विच्छिक, ऋजु–उजु, पृच्छति–पुच्छति। कृत–कत, कित आदि। स्वराघात (accent) के कारण भी पालि में स्वर परिवर्तन हुआ है। जिन शब्दों का प्रारम्भिक अक्षर (Syllable) पर स्वराघात था उनके द्वितीयाक्षर के 'अ' का 'इ' हो गया। यथा–चन्द्रमस्–चन्दिमा, चरम–चरिम, परम–परिम, मध्यम–मज्झिम, अहंकार–अहिंकार आदि।

सम्प्रसारण एवं अक्षर संकोच–पालि में य, या के स्थान पर इ एवं ई तथा व एवं वा के स्थान पर उ, ऊ होता है। जैसे–द्वयः, त्रयः के स्थान पर द्वीह एवं त्रीह होता है। स्वान–सून, स्वस्ति–सुत्थि, सोत्थि, श्वभ–सुष्भ, सोब्भ इत्यादि। कहीं-कहीं सम्प्रसारण नहीं भी होता है, जैसे–व्यसन, व्याध इत्यादि। स्वर भक्ति या विप्रकर्ष (Analtyxis) के उदाहरण भी मिलते हैं–तीक्ष्ण–तिखिण, तिक्ख, तृष्णा–तसिण एवं तण्हा, राज्ञा–राजिज्ञो एवं रञ्ञो, वर्यते–वरियते आदि। पालि भाषा में र और ल दोनों ही ध्वनियाँ वर्तमान हैं, किन्तु र और ल के परस्पर परिवर्तन के उदाहरण भी विरल नहीं हैं–एरंड–एलंदु, परिखनति–पलिखनदि, त्रयोदस–तेरस–तेलस, दर्दुर–दद्दल, तरुण–तलुण आदि। ऊष्म व्यंजनों का प्राण ध्वनि

ह में परिवर्तन भी द्रष्टव्य है—प्रश्न—पण्ह (Metathesis), अश्मना—अम्हना, कृष्ण—कण्ह, सुस्नात—सुण्हात आदि। व्यंजन परिवर्तन के बहुत से उदाहरण पाऐ जाते हैं—शाकल—सागल, माकन्दिक—मागन्दिय, स्रुच—सुजा, प्रतिकृत्य—पटिकिच्च एवं पटिगिच्च, उताहो—उदाहो, पृष्ट—पिट्ठ, रुत—रुद, प्रव्यथते—पवेधते, कपि—कवि (कपि भी), कपित्थ—कवित्थ एवं कपित्थ (संस्कृत का कपित्थ शब्द मध्य आर्य भाषा का रूप है), पूप—पूब-पूब, स्फटिक—फडिक-फठिक, लाट—लाड-लाठ आदि। पुरोगामी समीकरण (Progressive Assimilation) (1) स्पर्श+स्पर्श में यथा—षट्क (छै का समुदाय)—छक्क, मुद्ग—मुग्ग, सप्त—सत्त, शब्द—सद्द आदि। (2) ऊष्ण+स्पर्श—यथा—आश्चर्य—अच्छेर, निष्क—निक्ख, नेक्ख आदि। (3) अन्तस्थ+स्पर्श—कर्क—कक्क, किल्विष—किब्बिस। (4) नासिक्य+नासिक्य में—निम्न—निन्न, उल्मूलयति—उम्मूलेति।

पश्चगामी समीकरण (Regressive Assimilation) के भी बहुत से उदाहरण पाए जाते हैं—लग्न—लग्ग, उद्विग्न—उब्बिग्ग, स्वप्न—सोप्प आदि।

इस तरह हम देखते हैं कि पालि में संस्कृत भाषा के व्याकरणिक नियमों की कड़ाई में ढिलाई हो जाती है। संस्कृत के संज्ञा एवं क्रिया रूपों में भी काफी ढिलाई हो चली।[14] संस्कृत के नपुंसक लिंग के रूपों के साथ इ या उ अन्त वाले संज्ञा रूपों की न् विभक्ति की नकल पर पुल्लिग रूपों में भी मच्चुनो (मृत्योः के लिए) जैसे प्रयोग किए गए। सम्प्रदान और सम्बन्ध कारक के रूप भी अकारान्त प्रातिपदिकों की तरह बनाए गए जैसे—अग्गिस्स, वाउस्स आदि। उसी प्रकार अग्गिनो, भिक्खुनो रूप नपुंसक लिंग प्रातिपदिकों के मिथ्या सादृश्य के आधार पर बने।[15] हम देखते हैं कि पालि का सम्बन्ध परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत से कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए इदम् का एक वचन पुल्लिग रूप इमस्सं, फल का प्रथमा बहुवचन फला; अस्थि और मधु के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप।

अशोक के शिलालेखों की भाषा

वस्तुतः पालि काल में ही प्राकृतों का प्रयोग स्पष्ट हो चला था। भारतीय आर्य भाषा के मध्य स्तरीय विकास में (200 ई० पू० से 600 ई०) प्राकृत का विशेष महत्व है। प्राकृत का प्राचीनतम स्वरूप जानने के लिए हमें साहित्यिक प्राकृत, शिलालेखों की प्राकृत, नाटकों की प्राकृत और भारत से बाहर की प्राकृतों की तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता है। इससे प्राकृत सम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट हो सकता है। शिलालेखों की प्राकृत तत्कालीन भाषा के स्वरूप जानने में परम सहायक हो सकती है। इन लेखों के ज्ञान से **बुद्ध** और **महावीर** के काल की भाषा की परिस्थिति का चित्र उपस्थित होता है।

मानसेरा शिलालेख की अपेक्षा शाहबाजगढ़ी शिलालेख में उत्तर पश्चिम अञ्चल की भाषा का रूप अधिक शुद्ध है। भारत से बाहर की प्राकृत और उत्तर कालीन खरोष्ठी लेखों का सम्बन्ध भी उत्तर के लेखों के साथ ही है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के स्वर उत्तर-पश्चिम की भाषा में साधारणतया सुरक्षित हैं। मुख्यतया निम्नलिखित स्वर विकृतियाँ दिखाई देती हैं–

ऋ का विकास दो तरह से होता है–रि, रु और कहीं 'र' भी होता है। इस 'र' के प्रभाव से अनुगामी दन्त्य का मूर्धन्य शाहबाज गढ़ी में होता है, मानसेरा में ऐसा नहीं होता–

शाह०–मुग, किट, ग्रहथ, बुढेषु,

मान०–म्रिग (मृग), वुधेसु (वृद्धेषु)।

प्रायः स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन मूल रूप में ही सुरक्षित रहता है। निय प्राकृत में कुछ विशेष परिवर्तन होता है। स्वरान्तर्गत क, च, ट, त, प, श, ष का घोष भाव होता है, और इन घोष वर्णों का घोष भाव होता है। सामान्यतया त्व और द्व के अशोक शिलालेखों में त (गिरनार में त्प) और दुव (गिरनार में द्व, शाहबाजगढ़ी

में ब) होता है। वैदिक उच्चारण में जहाँ त्व और द्व के उच्चारण द्विमात्रिक तुअ और दुअ होते थे वहाँ स्वाभाविकतया त और द मिलते हैं। द्वि का उच्चारण एक मात्रिक (Monosyllabic) होने से बि होने की सम्भावना है। निय प्राकृत में और उत्तर कालीन खरोष्ठी के लेखों में भी त्व=त्प=प होता है।

क्ष और त्स के छ और स होते हैं, इनमें छ पश्चिमोत्तर की विशेषता है, स तो सब आलेखों की सामान्य प्रक्रिया है।

स युक्त संयुक्त व्यंजन कहीं अनुगामी दन्त्य का अनुकरण करता है, कहीं दन्त्य बच भी जाता है।

शाहबाजगढ़ी, मान०—ग्रहथ, अस्ति, उठन (उस्थान)

" "— अस्त, बित्रिटेन (विस्तृतेन)

शाहबाजगढ़ी के आलेख में दन्त्य और मूर्धन्य का होना निश्चित नहीं है। जैसे—स्रेस्तमति, स्रेठम्, अस्तवष (मान-अठवष), इससे अनुमान हो सकता है कि वहाँ मूर्धन्यों का उच्चारण वर्त्स्य हो सकता है।

निय प्राकृत में स्म—म्म और सप्तमी ए० व० का म्मि होता है। तदनुसार खरोष्ठी आलेखों में भी पाया जाता है। प्राकृत **धम्मपद** में तीनों रूप—स्म, स्व और स मिलते हैं—अनुस्मरो, अस्मि, स्वदि, प्रतिस्वदो-स (सप्तमी ए० व० में) सम्भवतः पश्चिमोत्तर में सप्तमी विभक्ति के प्रयोग में अत्यधिक विकल्प पाया जाता है।

प्राकृत में भूत कृदन्त प्रत्यय त्वी है। वेद में इस प्रत्यय का बहुत प्रयोग मिलता है। निय प्राकृत में भी वि मिलता है—श्रुनिति (श्रुत्वा), अप्रुच्छिति (अपृष्ट्वा) प्राकृत **धम्मपद** में भी उपजिति, परिवजेति, यहाँ त्व का त्प होते हुए भी भूत कृदन्त में त्व चालू रहता है। हेत्वर्थ का **अशोक** में और निय प्राकृत में 'नये' है, क्षमनये, अन्यत्र तवे पाया जाता है, निय प्राकृत में तुम् के कुछ रूप पाए जाते हैं—कर्तु, आग्न्तु।

पश्चिमोत्तर भाग के अकारान्त शब्दों के प्र०, ए०, व० के दोनों प्रत्यय—ए और ओ प्रचलित मालूम होते हैं। प्रधानतः शाह०

में ओ और मान० में ए प्रत्यय होता है; निय प्राकृत में भी ए प्रत्यय अधिक प्रचलित है। प्राकृत **धम्मपद** में ओ और उ दोनों मिलते हैं, उ अधिक अर्वाचीनता के प्रभाव का सूचक है।

गिरनार के लेख की भाषा पश्चिमोत्तर और पूर्व से कुछ भिन्न है। इस लेख की भाषायिक विशेषताएँ इसे पालि के सन्निकट ले जाती हैं। यद्यपि पश्चिमोत्तर का कुछ प्रभाव इस पर परिलक्षित होता है; यह वस्तुतः गुजरात और सौराष्ट्र की भाषा स्थिति के बहुत कुछ अनुकूल है। जैसा कि पहले लिख चुके हैं कि पालि मध्यदेश की साहित्यिक भाषा थी और उसका प्राचीन शौरसेनी से सम्बन्ध है। किन्तु मध्यदेश के जो शिलालेख हैं वे वस्तुतः पूर्वी बोली के अधिक सन्निकट हैं।

ऋ का सामान्यतः अ होता है और ओष्ठ्य वर्ण के सान्निध्य में उ—मग (मृगः), मत (मृतः), दढ (दृढ़ः), कतञता (कृतज्ञता), वुत्त (वृत्त)। मध्यदेश में सामान्यतः ऋ का इ होता है, श, ष, स का भेद मिट गया। एकमात्र स ही प्रचलित रहा। पश्चिमोत्तर लेख के अनुसार क्ष का छ होता है और मध्यदेश में उसका ख मिलता है।

अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा के व्यवस्थित रूप नहीं पाए जाते; किन्तु उत्तर कालीन साहित्य को देखने से यह विदित होता है कि **अश्वघोष** के नाटकों की नायिका एवं विदूषक की भाषा प्राचीन शौरसेनी ही है। इसकी तुलना **अशोक** के गिरनार के लेख से हो सकती है। मध्यदेश के कुछ लक्षण सर्वमान्य हैं जैसे अस् का ओ और श, ष, स का स होता है। **अश्वघोष** की शौरसेनी में ज्ञ का ञ्ञ होता है, उत्तर कालीन वैयाकरणों ने ण्ण विधान किया है; गिरनार में भी ञ मिलता है—कृतञता। मध्यदेश की सामान्य प्रक्रिया ऋ—इ **अश्वघोष** में मिलती है, गिरनार में नहीं। संयुक्त व्यंजनों में व्य—व्व होता है गिरनार में नहीं। ष्ट, ष्ठ का ट्ठ होता है। गिरनार में स्ट ही रह जाता है। इस

प्रकार हम देखते हैं कि **अश्वघोष** की भाषा प्राचीन है जिसे कि प्राचीन शौरसेनी कहना अधिक उचित है। एकआध अपवाद को छोड़कर प्राचीन शौरसेनी में स्वरान्तर्गत संयुक्त व्यंजनों का घोषभाव—त का द होना नहीं मिलता जबकि परवर्ती शौरसेनी का यह प्रधान लक्षण है। प्रायः स्वरान्तर्गत संयुक्त व्यंजन अविकृत ही रहते हैं।

इस प्रकार भाषा विकास की दृष्टि से प्राकृत भाषा को तीन या चार खंडों में विभक्त कर सकते हैं। सबसे पुरानी प्राकृत के उदाहरण **अशोक** के शिलालेखों में और पालि साहित्य के कुछ प्राचीन अंशों में मिलते हैं। इसी समय मुख्यतः ऋ और ऌ का प्रयोग समाप्त हो जाता है। ऐ, औ एवं अय, अव की जगह ए एवं ओ हो जाता है। इसी समय अन्त्य व्यंजन एवं विसर्ग लुप्त हो गए। सभी शब्द प्रायः स्वरान्त हो गए। स्वरान्तर्गत व्यंजनों का घोष भाव—जैसे क का ग—अपवादात्मक रूप से मिलता है। यह प्राकृत की प्रथम भूमिका कही जाएगी।

प्राकृत की दूसरी भूमिका के अन्तर्गत निय प्राकृत, **अश्वघोष** के नाटकों की प्राकृत, प्राकृत **धम्मपद** और खरोष्ठी लेखों की प्राकृतें आती हैं। इस भूमिका में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों का घोष-भाव और तदनन्तर घर्ष-भाव हो जाता है। यह अवस्था शब्दान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों के सम्पूर्ण ह्रास की पूर्वावस्था है।

प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा है। **आचारांग** और **सूत्रकृतांग** के कुछ अंश इस भूमिका की अन्तिम अवस्था में आ सकते हैं। इसमें घोष भाव की प्रक्रिया सर्व सामान्य है।

तीसरी भूमिका के अन्तर्गत साहित्यिक प्राकृत, नाटकों की प्राकृत और वैयाकरणों की प्राकृत आती है। इन प्राकृतों में अन्यान्य बोलियों के कुछ अवशेष पाए जाते हैं। इस भूमिका में स्वरान्तर्गत संयुक्त व्यंजनों का सर्वथा ह्रास होता है और महाप्राणों का सर्वथा ह होता है; मूर्धन्य वर्णों का व्यवहार बढ़ जाता है।

चौथी भूमिका यानी अन्तिम प्राकृत को हम अपभ्रंश कहते हैं। यह भाषा नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का पुरोगामी रूप है।

इस भाषा का बोली भेद बहुत कम मिलता है। इसका साहित्यिक रूप ही अधिक पाया जाता है। अधिकांश पूर्व से पश्चिम तक का साहित्य एक ही शैली में लिखा हुआ प्राप्त होता है।

प्राकृत का उत्तरकालीन विकास

यह हम अभी देख चुके हैं कि **बुद्ध** और **महावीर** के समय में ही प्राकृत की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। इसका विकास इस समय तक समग्र भारतीय आर्य भाषा के लिए हो चुका था। **अश्वघोष** के समय तक ये प्राकृतें साहित्यिक रूप प्राप्त कर चुकी थीं। अन्यान्य नाटकों में तरह-तरह के पात्रों के लिए विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग होने लगा था। इससे विदित होता है कि साहित्य में प्रयुक्त होने के कारण प्राकृत का स्वरूप स्थिर होने लगा था। फिर भी प्राकृत भाषाओं का विकास जारी था। देश और काल के भेद की दृष्टि से प्राकृत के इतिहास का पता लगाना मुश्किल हो जाता है। किन्तु शनैः शनैः प्राकृत के विकास के साथ-साथ शिष्ट प्राकृत भी पैदा हो चली। शिष्ट प्राकृत ने अन्य प्राकृत की बोलियों की विशेषताओं को भी अपनाना आरम्भ किया। यह भाषा का सर्वमान्य नियम है कि जब कोई बोली शिष्ट भाषा का रूप धारण कर लेती है तो वह अन्य बोलियों की विशिष्टताओं को अपनाकर आगे बढ़ती है। इस दृष्टि से एक ही प्राकृत विविध रूपों में प्रगट होती है। प्रथम शौरसेनी प्राकृत रूप में और दूसरी महाराष्ट्री प्राकृत रूप में। प्राकृत विशेषज्ञों का कहना है कि वस्तुतः ये दोनों प्राकृतें नाम के अनुसार किसी विशिष्ट प्रदेश की भाषायें न होकर प्राकृत की दो विभिन्न शैलियाँ हैं। शौरसेनी में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजनों का घोष भाव होता है, और वह घोष व्यंजन होकर महाराष्ट्री में सम्पूर्णतया नष्ट होता है—त का द होकर अ। शौरसेनी और महाराष्ट्री में स्वरान्तर्गत असंयुक्त व्यंजन का सर्वथा लोप होता है। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन भाषा के अनेक शब्द

समान ध्वनि वाले हो जाते हैं—मअ=मद—मत—मृग, मृत। अन्य भाषाओं में इस रूपता की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती।

शौरसेनी या उसका परिनिष्ठित परिष्कृत रूप महाराष्ट्री किसी प्रदेश या व्यावहारिक भाषा की दृष्टि से हमारे सामने उपस्थित नहीं होती। केवल उसका साहित्यिक स्वरूप ही दृष्टिगत होता है। इस माने में यह संस्कृत का अनुसरण करती है। उत्तर काल की प्राकृत मुख्यतया साहित्यिक रूप में ही उपस्थित होती है। अगर व्यावहारिक प्राकृत उपलब्ध होती तो इस विशाल भारत में अनेक प्रकार की प्राकृतें पाई जातीं। **पं बेचेरदास**[16] जी का कहना है कि जिस प्रकार आज प्रान्तों का विभाजन है उस प्रकार उस समय भले ही ऐसे प्रांत नहीं हों किन्तु उस समय भी भाषा के अनुसार प्रान्त की रूपरेखा जरूर रही होगी। प्राकृत व्याकरणों में एवं साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित प्राकृत भाषा की बोलियों के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है।

मथुरा के आस-पास के प्रदेश का नाम शूरसेन था। शूरसेन प्रदेश में प्रचलित भाषा को शौरसेनी कहा गया। राजगृह के अड़ोस-पड़ोस के प्रदेश को मगध कहा जाता था और वहाँ की प्रचलित भाषा को मागधी कहा गया तथा जिस मागधी प्राकृत में **बुद्ध** भगवान ने उपदेश दिया है उसका नाम पालि है। पालि शब्द **बुद्ध** भगवान के उपदेश का सूचक है। वस्तुतः पालि किसी भाषा का सूचक नहीं है। प्रसिद्ध **अशोक** की धर्मलिपि और महाराज खारवेल के शिलालेख में प्राप्त भाषा मागधी ही है। पेशावर के आसपास के प्रदेश का नाम पिशाच देश था और वहाँ की प्रचलित जनता की भाषा का नाम पैशाची प्राकृत था। गुजरात प्रदेश के **वाग्भट** ने **वाग्भटालंकार** में एक और **भूतभाषा** के नाम का उल्लेख किया है। वह नेपाल के समीप के प्रदेश का नाम भोटिया या भोतिया था। उस प्रदेश की भाषा का नाम भूतभाषा था। भूतभाषा का उच्चारण पैशाची से मिलता जुलता है। जिन लोगों ने भूत शब्द का अर्थ भूत, पिशाच आदि लिया है—वह अनुचित है। यह

सम्भव भी नहीं है। ऊपर वर्णित पिशाच प्रदेश की सीमा के उत्तर तरफ चोटी प्रदेश था। उस देश में वसने वाली जनता की भाषा का नाम चूलिका पैशाची प्राकृत था। पिशाच प्रदेश की भाषा की समता चूलिका पैशाची से बहुत अधिक है किन्तु उच्चारण में खास अन्तर है।

प्रचीन समय की जिन प्रान्तीय प्राकृतों का भेद दिखाया गया है सम्भवतः उस समय वे भाषायें विस्तृत भूखण्ड में प्रचलित हों और बीच-बीच में प्रान्तीय प्राकृतों के रूप भी प्रचलित रहे हों। आज उनका परिचय न होने के कारण हम उन्हें भूल रहे हों या उस समय जो 4 शक्तिशाली प्रदेश थे उन्हीं में से कुछ प्रधान का उल्लेख करते हुए 4 प्रान्तीय प्राकृत का उल्लेख किया गया हो। आजकल प्राकृत में मुख्यतया उन्हीं का वर्णन पाया जाता है। अलंकार शास्त्रियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में 4 प्रमुख प्रान्तीय प्राकृतों का उल्लेख किया है। केवल **भरतमुनि**[17] ने **नाट्य शास्त्र** में उक्त 4 प्रमुख प्रान्तीय प्राकृतों का उल्लेख किया है और बीज रूप में उन प्रान्तीय प्राकृतों का भी उल्लेख किया है। नाटकों में जिन प्राकृतों का वर्णन किया गया है उनमें मुख्य रूप से शौरसेनी का ही वर्णन है। जैन दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी शौरसेनी प्राकृत का वर्णन है। बौद्ध धर्म के मूल पिटक ग्रन्थों में, उसकी अट्ठकथा नाम की टीका में, अनेक जातक कथाओं में वर्णित भाषा मागधी ही है। पैशाची भाषा में कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नहीं होता। कहा जाता है कि इस भाषा में **गुणाढ्य** नामक पण्डित ने **बृहत्कथा** नामक काव्य लिखा था जो कि आजकल अप्राप्य है। **हेमचन्द्र** ने अपने **प्राकृत व्याकरण** (8/4/326) में पैशाची भाषा का स्वरूप बतलाया है। जैनाचार्य रचित **केटलांक स्त्रोत** में संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और चूलिका पैशाची छ भाषाओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार व्यापक प्राकृत का शौरसेनी से जो भेद बतलाया गया है उसी को नीचे तालिका देकर भेद स्पष्ट करते हैं—

प्राकृत	शौरसेनी	मागधी	पैशाची	संस्कृत	हिन्दी
उवट्ठित, उवट्ठिअ	उवट्ठिद	उवस्थिद	उवट्ठित	उपस्थित	उपस्थित
सोभा सोहा	सोभा सोहा	शोभा शोहा	सोभा	शोभा	शोभा
अज्ज	अज्ज	अय्य	अज्ज	अद्य	आज
पह	पह	पथ	पथ	पथ	रास्ता
पध	पध	—	—	—	—
नर	नर	नल	नर	नर	मनुष्य
हत्थी	हत्थी	हस्ती	हत्थी	हस्ती	हाथी
विण्हु	विण्हु	विस्नु	विण्हु	विष्णु	विष्णु
दुज्जण	दुज्जण	दुय्यण	दुज्जन	दुर्जन	दुर्जन
जाति जाइ	जादि —	यादि —	याति —	याति —	जाता है —
कन्ना, कञ्ञा	कन्ना	कञ्ञा	कञ्ञा	कन्या	कन्या
पुण्य, पुण्ण	पुण्ण	पुञ्ञ	पुञ्ञ	पुण्य	पुण्य
सव्वण्णु, सव्वन्नु	सव्वण्णु, सव्वन्नु, सव्वज्ज	शव्वञ्ञ	सव्वञ्ञ	सर्वज्ञ	सर्वज्ञ
गुण	गुण	गुण	गुन	गुण	गुण
भगवती, भगवई	भगवदी	भगवदी	भगवती	भगवती	भगवती

पैशाची का चूलिका पैशाची से उच्चारण भेद

प्राकृत	पैशाची	चूलिका पैशाची	संस्कृत	हिन्दी
मग्गन, मग्गण	मग्गन	मक्कन	मार्गण	मंगन भिखारी
नगर, नयर	नगर	नकर	नगर	नगर
गिरि	गिरि	किरि	गिरि	गिरि पहाड़
मेघ, मेह	मेख	मेख	मेघ	मेघ बरसात
वग्घ	वग्घ	वक्ख	व्याघ्र	बाघ
घम्म	घम्म	खम्म	घर्म	घाम गर्मी
राजा	राजा	राचा	राजा	राजा
निज्झर, णिज्झर	निज्झर	निच्छर	निर्झर	झरना
तडाग	तडाग	तटाक	तडाग	तालाब
गाठ	गाठ	काठ	गाढ़	गाढ़ा
मदन	मदन	मतन	मदन	मदन
दामोदर	दामोदर	तामोतर	दामोदर	दामोदर
मधुर	मधुर	मथुर	मधुर	मधुर
धूली	धूली	थूली	धूली	धूल
बालक	बालक	पालक	बालक	बालक

चूलिका पैशाची में वर्ग के तीसरे अक्षर का पहला अक्षर हो जाता है और चतुर्थ अक्षर का दूसरा अक्षर हो जाता है अर्थात्

चूलिका पैशाची में ग, ज, ड, द, ब का क्रम से क, च, ट, त, प हो जाता है और चौथा घ, झ, ढ, ध और भ को ख, छ, ठ, थ और फ बोला जाता है।

उपरोक्त प्राकृत की तुलना करने से यह विदित होता है कि ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उच्चारण की इस प्रवृत्ति में अभिनव परिवर्तन प्रकट हुए, जिन्होंने मध्य भारतीय आर्य भाषा का रूप बहुत बदल दिया। स्वर मध्यम सघोष स्पर्श व्यंजनों के उच्चारण में शिथिलता आ गई जिससे वे ऊष्म ध्वनि के समान बोले जाने लगे। यह स्थिति बहुत काल तक नहीं रही और कुछ दिनों के बाद ये सघोष व्यंजन ध्वनियाँ शिथिल पूर्वक उच्चरित होकर लुप्त होने लगीं। इस परिवर्तन से भाषा का स्वरूप काफी बदल चला और इसी कारण यह परवर्ती भाषा से भिन्न भी दीखने लगा। उत्तरकालीन वैयाकरणों ने प्रायः यही समझ लिया है कि अघोष स्पर्श व्यंजनों के घोषवत उच्चारण तथा सघोष व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया समकालीन है। वैयाकरणों ने भाषा के घोषवत उच्चारण को मुक्त रूप तथा सघोष व्यंजनों के लोप से परिवर्तित स्वरूप को एक ही कालक्रम में रखकर विभिन्न नामों से अभिहित किया है। उन्होंने परिवर्तित भाषा की प्रथम स्थिति को शौरसेनी और अन्तिम स्थिति को महाराष्ट्री कहा है। वस्तुतः शौरसेनी और महाराष्ट्री एक भाषा के दो रूप हैं। इस पर आगे चलकर विचार करेंगे। पूर्वोक्त तालिका के तुलनात्मक अध्ययन से यह पता चलता है कि वैयाकरणों ने मुख्यतः एक ही प्राकृत का चित्रण किया है। बोली भेद के बहुत कम निर्देश इनमें पाये जाते हैं। प्रायः वैयाकरणों ने ध्वनि और व्याकरण भेद की अपेक्षा दूसरी प्राकृतों का उल्लेख करके भिन्न-भिन्न प्रकार के कुछ शब्द प्रयोगों का ही निर्देश किया है। साहित्यकारों ने भी जो भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं; जैसे—प्राच्या, अवन्तिजा इत्यादि, वहाँ भी बोली भेद के बजाय, केवल शब्द भेद (Change of vocabulary) के उल्लेख किए हैं। वस्तुतः पूरे भारत में साहित्यिक रूप में एक ही प्राकृत का व्यवहार होता

रहा है जैसे पहले संस्कृत की दशा थी वैसी ही बाद में प्राकृत की हुई, आगे चलकर अपभ्रंश की भी वही स्थिति हुई। भारतीय भाषाओं के इतिहास की एक विशिष्टता सी रही है। प्राचीन भारत की कोई भी भाषा—संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश अपने काल की व्यावहारिक भाषा से सम्बन्ध न रख कर शिष्ट रूप में विकसित होती रही है। परिष्कृत प्रणाली के अनुसार इस भाषा का विकास होता रहा। बोलचाल की व्यावहारिक भाषा का प्रतिबिम्ब भी इस पर पड़ता रहा। सर्वसाधारण जनता के जीवन एवं शिष्टों के साहित्य की धारा के बीच में काफी व्यवधान होता रहा है। भाषा के रूप को समझने वालों के सामने शिष्टों का मर्यादित रूप ही आदर्श रहा है। वर्तमानकालीन व्यावहारिक भाषा के आधार पर प्राचीन काल की बोलियों का अनुमान भर कर सकते हैं और इस अनुमान को स्थिर करने के लिए प्राप्त प्राचीन शिष्ट भाषाओं से जो सहायता मिलती है वह केवल पूरक हो सकती है।

प्राकृतों का विकास संस्कृत की तरह होता है। वास्तव में इसका साहित्य संस्कृत से भी अधिक कृत्रिमता से आगे बढ़ा है। संस्कृत की तरह विषयों की विपुलता एवं विविधता इसमें नहीं है। प्राकृत प्रायः कुछ धर्मानुयायियों की ही भाषा बनी रही। इस कारण इसकी शैली एवं रूढ़ियाँ एक ही तरह की रहीं। फलतः इसका शब्दकोश भी विपुल नहीं हो सका। फिर भी प्राकृत की महत्ता इसलिए है कि यह वैदिक काल की आर्य भाषा और वर्तमान के बोल-चाल की आर्य भाषा की एक अवान्तर अवस्था है। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त एवं कुछ काव्य ग्रन्थों तथा जैनों के धार्मिक ग्रन्थों में व्यवहृत प्राकृत के आधार पर ही प्राकृत वैयाकरणों ने विचार किया है। इस कारण 'प्राकृत' शब्द जैन आगमों की 'आर्षी' अथवा 'अर्धमागधी' तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं की 'मागधी', 'शौरसेनी', 'महाराष्ट्री' तथा पैशाची बोलियों के लिए रूढ़ हो गया। **वररूचि** ने प्राकृत के 4 भेद किए हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचन्द्र ने 'आर्षी' (अर्धमागधी) एवं 'चूलिका पैशाची'

पर भी विचार किया है। अतः क्रम से इन्हीं प्राकृतों की विशिष्टताओं का उल्लेख करेंगे।

प्राकृत या महाराष्ट्री

महाराष्ट्री को ही सभी वैयाकरणों ने प्रमुख प्राकृत माना है। **हेमचन्द्र** और **दण्डी** ने प्राकृत का अर्थ महाराष्ट्री ही लिया है–

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्ति रत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्।।

इसी के आधार पर **डा० भंडारकर** महाराष्ट्री को महाराष्ट्र देश से सम्बन्धित मानते हैं। उन्होंने **सेतुबन्ध, गाथासप्तशती, गौडवध** काव्य आदि पर आधारित महाराष्ट्री को शौरसेनी से भिन्न माना है।[18] **श्री पिशेल**[19] ने **गोर्रेज** के विचार से सहमत होते हुए, तथा **जूल ब्लॉक** ने भी महाराष्ट्री को मराठी भाषा का पूर्वज माना है। किन्तु **डा० मनमोहन घोष** ने अपने **महाराष्ट्री शौरसेनी का परवर्ती रूप**[20] नामक शीर्षक निबन्ध में कई प्रकार के प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुतः जनपदीय भाषा नहीं थी। इसका सम्बन्ध महाराष्ट्र प्रान्त से नहीं जोड़ा जा सकता। यह मध्य देश की शौरसेनी प्राकृत का परवर्ती रूप है। यह एक समय सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रचलित होने के कारण महाराष्ट्री (महान राष्ट्र की भाषा या आजकल के शब्दों में राष्ट्रभाषा) कहलाई और इसी कारण **दण्डी** ने महाराष्ट्री प्राकृत को 'महाराष्ट्राश्रित' यानी श्रेष्ठ प्राकृत कहकर पुकारा है। **भरत** के **नाट्यशास्त्र** में महाराष्ट्री प्राकृत का उल्लेख नहीं है। **अश्वघोष** और **भरत** के नाटकों में भी महाराष्ट्री के प्रयोग देखने में नहीं आते। **वररुचि** ने **प्राकृत प्रकाश** में शौरसेनी के लक्षण बताने के पश्चात् **शेषं महाराष्ट्रीवत्** (12/32) लिखकर महाराष्ट्री को मुख्य प्राकृत माना है। किन्तु इस पर **भामह** की टीका न होने के कारण यह प्रामाणिक

नहीं माना जा सकता। महाराष्ट्री में लिखित **सेतुबन्ध**[21] आदि रचनाएं हैं। **वररुचि** के बाद अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत बतलाया है। किन्तु **दशरूपककार धनञ्जय** तथा **रुद्रट** के वर्गीकरण में महाराष्ट्री का उल्लेख नहीं है ओर शौरसेनी ही मुख्य प्राकृत समझी गई है। वे लोग शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश का उल्लेख करते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण **हेमचन्द्र** ने भी प्राकृत, शौरसेनी, मागधी और पैशाची तथा अपभ्रंश का उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने महाराष्ट्री नाम से किसी खास भाषा का वर्णन नहीं किया है तथापि स्थल-स्थल पर महाराष्ट्री का महत्व स्वीकृत किया है। पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर **श्री मनमोहन घोष** ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्राकृत को चाहे दण्डी के उद्धरण के आधार पर महाराष्ट्री नाम दिया जाए किन्तु महाराष्ट्री का उस बोली से कोई सम्बन्ध नहीं था। जो महाराष्ट्र प्रान्त में उदित हुई। यदि भौगोलिक क्षेत्र से उसका सम्बन्ध ढूंढ़ना हो तो उसे हम मध्य देश से सम्बद्ध कर सकते हैं। वस्तुतः यह शूरसेन प्रदेश की ही भाषा थी।' उन्होंने **वररुचि** के प्राकृत शब्द की व्याख्या **प्रकर्षेण आकृत**—अत्युत्तम बोली की है, जो कि वस्तुतः शौरसेनी ही रही होगी। **वररुचि** के समय में ही यह भाषा आभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुंच चुकी थी। **श्री घोष** का यह भी कथन है कि किसी परवर्ती लेखक ने **वररुचि** के **प्राकृत प्रकाश** में शौरसेनी पर एक प्रक्षिप्त परिच्छेद और जोड़ दिया है, जिसमें उसने मागधी के समकक्ष एक प्राकृत कालीन भाषा के रूप में शौरसेनी के लक्षणों का वर्णन दिया है। इस पूर्वोक्त विचार की प्रामाणिकता को विचारणीय बताते हुए **डा० सुनीति कुमार चटर्जी**[22] ने अपना मन्तव्य दिया है कि यदि यह सही है तो महाराष्ट्री प्राकृत शौरसेनी प्राकृत, तथा शैरसेनी अपभ्रंश के बीच की केवल एक अवस्था मात्र सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित हो जाता है कि मध्यदेशीय भाषा का प्रभुत्व अविच्छन्न रूप से ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के सारे काल में और उससे पहले से

भी, कायम रहा; अर्थात् पालि के रूप में (ईसा पूर्व की शतियों में) शौरसेनी प्राकृत रूप में (ईसा की आरम्भिक शतियों में) 'प्राकृत' या संकुचित अर्थ में तथाकथित 'महाराष्ट्री प्राकृत' के रूप में (लगभग 400 ई० के आस-पास) तथा शौरसेनी अपभ्रंश के रूप में (400 ई० सं० से 1000 ई० सं० तक के बाकी काल में) प्रवाहित होती रही। मध्य आर्य भाषा के प्रथम स्तर मध्यम अघोष व्यंजनों का सघोष रूप दिखाई पड़ता है। बाद में सघोष ध्वनियाँ ऊष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण लुप्त हो गयीं। अतः शुक—सुअ, शोक—सोअ, नदी—नई की विकास की स्थिति में एक अन्तवर्ती अवस्था भी रही होगी; यानी शुक से सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अवस्थाएं जरूर रही होंगी। महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक स्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter Vocal Single Stok) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाए जाते हैं। यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अवस्था का द्योतक है।

वस्तुतः महाराष्ट्री महाकाव्यों की भाषा है। उनके दो काव्य प्रमुख रूप से हमारे सामने हैं—1. 'रावण वहो' और 2. 'गउड वहो'। संस्कृत नाटकों में सर्व-प्रथम **कालिदास** ने **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** नाटक में महाराष्ट्री का प्रयोग किया है,[23] अनन्तर **राजशेखर** की **कर्पूरमंजरी**[24], **शूद्रक** के **मृच्छकटिकम्** आदि में इसका प्रयोग पाया जाता है। **दण्डी** को छोड़कर पूर्व काल (ई० सन 1000 के पूर्व) के अलंकार शास्त्र के पण्डित महाराष्ट्री से अपरिचित थे। ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत अत्यन्त समृद्ध है। **पिशेल** के शब्दों में 'न कोई दूसरी प्राकृत साहित्य में और नाटकों के प्रयोग में कविता इतनी अधिक प्रयोग में लाई गई है और न दूसरी प्राकृत के शब्दों में व्यंजन इतने अधिक और इस प्रकार से निकाल दिए गए हैं कि अन्यत्र कहीं यह बात देखने में नहीं आती ——। ये व्यंजन इसलिए हटा दिए गए कि इस प्राकृत का प्रयोग सबसे अधिक गीतों में किया जाता था; अधिकाधिक लालित्य लाने

के लिए यह भाषा श्रुतिमधुर बनाई गयी।[25] **हाल** के **सत्तसई** और **जयबल्लभ** का **बज्जालग्गढ़** महाराष्ट्री प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ मुक्तक काव्य हैं। इन काव्यों को **डा० हरमन याकोबी** ने जैन महाराष्ट्री नाम से पुकारा है।

महाराष्ट्री और शौरसेनी नाटकों के बीच में कुछ तकार उच्चारण सम्बन्धी भेद देखे जा सकते हैं–

संस्कृत	**शौरसेनी**	**महाराष्ट्री**
जानाति	जाणादि	जाणइ
एति	एदि	एइ
हित	हिद	हिय
प्राकृत	पाउद	पाउअ
मरकट	मरगद	मरगअ
लता	लदा	लआ
स्थित	थिद	थिय
प्रभृति	पहुदि	पहुइ
शत	सद	सअ
एतद्	एदम्	एअम

हेमचन्द्र के समय शौरसेनी के बहुत से नियम महाराष्ट्री प्राकृत के लिए लागू होने लगे थे। **वररुचि** और **हेमचन्द्र** ने महाराष्ट्री प्राकृत के निम्न लक्षण दिए हैं–

(क) क, ग, च, ज, त, द, प, य और व का प्रायः लोप हो जाता है (वररुचि 2, 2; हेमचन्द्र 1, 177)।

(ख) ख, घ, छ, झ, थ, ध, फ और भ के स्थान में 'ह' हो जाता है (वररुचि 2, 25; 1, 187/3) जैसे–मुह–मुख, सहि–सखि, मेह–मेघ, लहुअ–लघुक, रुहिर–रुधिर, बहु–बधु, सहर–शफर, अहिणव–अभिनव, णह–नभस या नख। जहाँ शौरसेनी में थ को

ध होता है वहीं महाराष्ट्री में ध को ह होता है। उदाहरण—सं० अथ—शौ० अध—महा० अह, सं० मनोरथ—शौर० मणोरध—महा० मणोरह, सं० कथम्—शौ० कधम—महा० कहम, सं० नाथ—शौ० णाध—महा० णाह।

महाराष्ट्री की कुछ मुख्य विशेषताएँ

(1) महाराष्ट्री में कहीं-कहीं ऊष्म व्यंजन ध्वनि के स्थान पर 'ह' जो जाता है, यथा—पाषाण—पाहाण, अनुदिवसं—अणुदिअहं (यहाँ द के लोप न होने का कारण है कि—अनु और दिवस शब्द पृथक-पृथक समझे गए)। इस कारण इसे स्वर मध्यग नहीं समझा गया।

(2) अपादान एक वचन में साधारणतया 'अहि' प्रत्यय लगता है; यथा—दूराहि (दूरात्)।

(3) अधिकरण एक वचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' के योग से बनते हैं यथा—लोए अथवा लोअम्मि—लोकस्मिन्।

(4) कृ धातु के रूप वैदिक भाषा के समान निष्पन्न होते हैं; यथा—कुणइ—कृणोति (वैदिक)।

(5) 'आत्मन्' का प्रतिरूप महाराष्ट्री प्राकृत में 'अप्प' होता है।

(6) क्रिया के कर्म वाक्य का य प्रत्यय—इज्ज होता है। यथा—पृच्छ्यते—पुच्छिज्जइ; गम्यते—गमिज्जइ।

(7) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'ऊण' प्रत्यय के योग से बनता है। यथा—पुच्छिऊण (सं० पृष्ट्वा)।

(8) बिना किसी कारण के आदि स्वर लुप्त हो जाता है—अरण्यम्—रण्ण, अपि—पि, वि।

(9) कभी-कभी अय और अव की जगह ए और ओ होता है—स्थविर—थेर, अवग्रह—ओग्गह।

(10) प्रायः मध्य य अन्त के व्यंजन क्, ग्, च, ज्, त्, द्, प्, य् और व् का लोप हो जाता है। यथा—लोक—लोअ आदि।

(11) संयुक्त व्यंजन को सामान्यतया सरल कर दिया जाता है। (उसमें से एक लुप्त हो जाता है) द्वित्व व्यंजन घुल-मिल जाते हैं। समवर्ती व्यंजन एक ही तरह के व्यंजन में परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थात् एक को लुप्त कर दूसरे व्यंजन को द्वित्व कर दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में पहले वाला ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है—कम्मण—कामण या स्वर भक्ति (स्वरेण भक्तिः स्वर भक्तिः) होती है। वर्ष—वरिस; कभी दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है—चूर्ण—चुण्ण, सिरिपालोव्व—सिरिपालुव्व।

(12) पंचमी एक वचन—हितो का परिवर्तन त्तो, जो, उ, हि में होता है; त्तो को छोड़कर सभी जगह अ को दीर्घ हो जाता है; हि के आगे ब० व० अ का ए हो जाता है—जिणाहि—जिणेहि, जिनात्—जिणाहिंतो, जिणेहिन्तो आदि।

(13) पुल्लिग और नपुंसक लिंग के संज्ञा शब्दों के अन्त में तृ का सामान्यतया अर या यर होता है—पितृ—पियर, भ्रातृ—भायर।

(14) प्राकृत में आत्मनेपद का प्रयोग नहीं होता; केवल परस्मैपद ही होता है, **हेमचन्द्र** ने आत्मने पद के कुछ रूपों के चिह दिये हैं—से, न्ते, इरे आदि।

जैन महाराष्ट्री की विशेषताएं

जैन श्वेताम्बरों की पवित्र पुस्तकों की भाषा—मुख्यतया **आगम** की भाषा—जैन महाराष्ट्री प्राकृत कहलाती है। महाराष्ट्री के साथ-साथ लोग जैनों द्वारा काम में लाई गई दोनों बोलियों का निकटतम सम्बन्ध मानते हैं। **हरेमन याकोबी**[26] ने इन दोनों बोलियों को जैन-महाराष्ट्री और जैन प्राकृत के नाम से अलग-अलग किया है। उन्होंने टीकाकारों और कवियों की भाषा को जैन महाराष्ट्री नाम से अभिहित किया है और जैन प्राकृत को उस भाषा के नाम

से निर्दिष्ट किया है जिसमें जैनों के शास्त्र और जैन सूत्र लिखे गए हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीकाओं की भाषा जैन महाराष्ट्री है। इसी के अन्तर्गत सभी तीर्थकरों की एवं जैन साधुओं की पुस्तकें भी आती हैं। इसके अतिरिक्त और भी पुस्तकें हैं जैसे दर्शन, तर्कशास्त्र, नक्षत्र विद्या, भूगोल आदि की भी इसी में लिखी गयीं। पुराने वैयाकरणों ने इस जैन महाराष्ट्री का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने नाटकों में महाराष्ट्री से कुछ भिन्नता देखकर श्वेताम्बर जैन पुस्तकों की भाषा को जैन महाराष्ट्री कहा है। यह जैन महाराष्ट्री नाटकों की महाराष्ट्री की सभी विशिष्टताओं से परिपूर्ण है।

जैन महाराष्ट्री का रूप नाटकों की महाराष्ट्री के समान ही है। इसकी निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं–

(1) इसकी सामान्य विशिष्टताएँ अर्धमागधी की (प को व होना छोड़कर) तरह हैं।

(2) तृतीया ए० व० सा, त्वा का च्चा और त्तु हो जाता है, ऋ से युक्त धातु के अन्त में त का ड होता है। ये अर्द्धमागधी की विशेषतायें जैन महाराष्ट्री में भी पाई जाती हैं। अतिरिक्त विशिष्टतायें महाराष्ट्री की तरह हैं।

शौरसेनी प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ

शौरसेनी प्राकृत गद्य की भाषा है और महाराष्ट्री पद्य की भाषा है। मुख्यतया यह नायिकाओं और स्त्री पात्रों की सखियों द्वारा प्रयुक्त होती थी **(नायिकानां सखीनाञ्च शूरसेनावरोपिनीं–नाट्य शास्त्र)** इसके अतिरिक्त और भी संस्कृत नाटकों के छोटे-छोटे पात्र शौरसेनी में ही बोलते हैं। राजशेखर की **कर्पूर मंजरी** में सर्वत्र इसी भाषा का प्रयोग हुआ है। **अश्वघोष** के नाटकों में भी शौरसेनी पायी जाती है जो कि पालि के समान है। **अशोक** के शिलालेख की भाषा (200या 300 ई० पू०) प्राचीन शौरसेनी है।

आधुनिक साहित्यिक शौरसेनी (100 से 200 ई०) **भास, कालिदास, शूद्रक** और दूसरे संस्कृत कवियों के नाटकों में भी पायी जाती है। **भरत** (ईसवी सन तीसरी शताब्दी) ने अपने **नाट्य शास्त्र** में शौरसेनी का उल्लेख किया है जबकि महाराष्ट्री का नाम यहाँ नहीं है। **नाट्य शास्त्र** (17,46) के अनुसार नाटकों की बोल-चाल की भाषा शौरसेनी होनी चाहिए, **हेमचन्द्र** ने आर्ष प्राकृत के बाद शौरसेनी का ही उल्लेख किया है उसके बाद मागधी और पैशाची का; **साहित्य दर्पण** (6, 159, 165) में सुशिक्षित स्त्रियों के अलावा बालक, नपुंसक, नीच ग्रहों का विचार करने वाले ज्योतिषी, विक्षिप्त और रोगियों को नाटकों में शैरसेनी बोलने का विधान है; **मार्कण्डेय** ने **प्राकृत सर्वस्व** में (10, 1) शौरसेनी से प्राच्या का उद्भव बताया है; (प्राच्या सिद्धिः शौरसेन्याः) **लक्ष्मीधर** ने **षड्भाषा चन्द्रिका** (श्लोक 34) में कहा है कि यह भाषा छद्मभेषधारी साधुओं, कुछ लोगों के अनुसार जैनों तथा अधम और मध्यम लोगों के द्वारा बोली जाती थी; **वररुचि** ने शौरसेनी का आधार संस्कृत को माना है (प्राकृत प्रकाश 12/2) उसने शौरसेनी के कुछ नियमों का विवेचन कर शेष नियमों को महाराष्ट्री के समान समझने को कहा है (12/32)।

वस्तुतः शौरसेनी शूरसेन—ब्रजमंडल मथुरा के आस-पास के प्रदेश की भाषा थी। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण यह साहित्यिक हो गयी। इसका प्रचार मध्यदेश (गंगा यमुना की उपत्यका) में हुआ था। यह भूभाग पुरातन काल में सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र रहा है। **डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या**[27] का कथन है कि भारतीय प्रादेशिक बोलियों तथा उनसे विकसित साहित्यिक भाषा के इतिहास का अवलोकन करने पर हमें पता चलता है कि विशेषतः मध्यदेश, उदीच्य तथा पश्चिम की बोलियों को ही प्रमुख महत्व का स्थान मिलता रहा। मथुरा में मुख्य केन्द्र वाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्च मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुई, यह भाग पहले से ही प्रमुख रहा है। राजनीतिक परिस्थितियों ने इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया। कभी

संस्कृत भी इसी भूभाग में चमकी थी। यहीं से इसका विकास चारों ओर हुआ था। यही साहित्य के लिए स्वीकृत थी। यह बड़ी विचित्र बात है कि जिस जैन धर्म का उद्भव तथा प्रचार मगध के उत्तरी हिस्सों में हुआ था, **महावीर** ने जैन धर्म का उपदेश पूर्वी भाषा में किया था, किन्तु बाद में जैनियों ने अपनी रचनाएँ शौरसेनी में कीं। जैन धर्म का प्रचार एवं प्रसार शौरसेनी भाषा के माध्यम से हुआ। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन शास्त्रों की भी भाषा यही है जो कि प्रायः पद्य में है। **पिशेल** ने इसे जैन शौरसेनी नाम दिया है। उनका कहना है कि जैनियों ने इसकी विशेषताओं को नाटकों की शौरसेनी के भीतर दिखाया है। इस कारण शुद्ध शौरसेनी का रूप अस्पष्ट हो गया और इससे उत्तर कालीन लेखकों पर भ्रामक प्रभाव पड़ा। शौरसेनी पर संस्कृत का प्रभाव पड़ने के कारण इसमें प्राचीन रूपों की कृत्रिमता अधिक पाई जाती है।

व्याकरण के नियमानुसार ध्वनि तत्व की दृष्टि से शौरसेनी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ त को द और थ को ध होता है (वररुचि 12, 3; हेमचन्द्र 4, 267) 'किन्तु **जैकोबी** आदि विद्वान् इस परिवर्तन को शौरसेनी की विशेषता स्वीकृत नहीं करते। प्राकृत भाषाओं की प्रथम अवस्थाओं में इस परिवर्तन के चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होते। **अश्वघोष** के नाटकों में उक्त विशेषतायें नहीं पाई जातीं।[28]

1. संज्ञा और धातु रूपों की दृष्टि से जहाँ तक सम्बन्ध है इसमें रूपों की वह परिपूर्णता नहीं पायी जाती जो कि महाराष्ट्री और अर्द्धमागधी आदि में पायी जाती है।

2. संयुक्त व्यंजनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं मिलती।

3. विधि (optative) के रूप संस्कृत के समान बनते हैं, महाराष्ट्री एवं अर्द्धमागधी के समान इनमें 'एज्ज' प्रत्यय नहीं लगता, जैसे शौ० वहे (महा० एवं अ० मा० वहेज्ज)—वर्तते।

4. भू धातु के रूप में भ की सुरक्षा (हेम० 4/266-269) भोदि, भवति, भुवदि आदि।

5. पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दूण, उडुअ आदि लगते हैं (हेम० 4/271-272); यथा पढ़िया, पढ़ि दूण (√पठ्), कडुअ–√कृ और–√गम्।

6. भविष्यत्काल में 'स्सि' विभक्ति, हि स्स, या ह (हेम० 275)।

7. कर्मवाच्य के अन्त में ईअ जोड़ा जाता है।

इस तरह शौरसेनी भाषा धातु और और शब्द रूपावली तथा शब्द सम्पत्ति में संस्कृत के बहुत निकट है और महाराष्ट्री प्राकृत से बहुत दूर जा पड़ी है। इन सारी बातों का पता **वररुचि** के वैयाकरण से स्पष्टतया विदित होता है। इस तरह हम देखते हैं कि शौरसेनी के विकास रुक जाने पर वैयाकरणों ने इन नियमों को शौरसेनी का प्रधान लक्षण स्वीकार कर लिया। शौरसेनी ही नहीं महाराष्ट्री भी व्याकरण के नियमों से आबद्ध हो उठी। **श्री ए० एम० घटगे** ने **शौरसेनी प्राकृत**[29] नामक शीर्षक तथा **डा० ए० एन० उपाध्ये** ने **पैशाची लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर**[30] नामक शीर्षक में इन बातों पर विशद रूप से चित्रण किया है।

मागधी की मुख्य विशेषताएँ

मागधी मगध जनपद (बिहार) की भाषा थी। शौरसेनी, महाराष्ट्री और अर्धमागधी की भाँति इस प्राकृत में कोई अधिक साहित्य नहीं पाया जाता। इसका सबसे पुराना रूप अशोक के शिलालेखों में देखा जा सकता है। इसके बाद **अश्वघोष, भास, कालिदास** और **शूद्रक** के **मृच्छकटिकम्** नाटक में कुछ पात्रगण इसी बोली में बोलते हैं; जैसे–कंचुकी, भिक्षु, क्षपणक, चेट आदि। (यह काल 100 या 200 ई० से 500 ई० तक का काल माना जाता है) शाकारी, चाण्डाली और शावरी आदि इसकी उपबोलियाँ हैं। **भरत** के अनुसार,

शाकारी भाषा का अर्थ है शबर, शक और उसी तरह के दूसरे पात्र जिस भाषा में बोलते हैं। **मार्कण्डेय** के अनुसार राजा का साला और दामाद इसी भाषा में बोलता है। चाण्डाली निम्न जाति की भाषा है। शाबरी भाषा को अंगारकार, व्याधा, लकड़हारा और कसाई आदि बोलते थे। एक और छोटी सी बोली ठक्की या टाक्की है। **पिशेल** ने इसे आधुनिक ढ़ाका से सम्बन्ध जोड़ा था किन्तु **डा० सुनीति कुमार चादुर्ज्या** इसका खण्डन करते हैं। उन्होंने इस टक्क को राजस्थानी बोली से सम्बन्ध जोड़ा है। इस तरह **भरत** के **नाट्यशास्त्र** (17-50, 55-56) के कथनानुसार अन्तःपुर में रहने वालों, सेंध लगाने वालों, अश्व-रक्षकों और आपत्ति ग्रस्त नायकों द्वारा मागधी बोली जाती थी। **दशरूपककार** (2, 65) के अनुसार पिशाच और नीच जातियाँ इस भाषा का प्रयोग करती थीं।

शूद्रक के **मृच्छकटिक** में संवाहक, शकार का दास स्थावरक, वसन्तसेना का नौकर कुंभीलक, चारुदत्त का नौकर वर्धमानक, भिक्षु तथा चारुदत्त का पुत्र रोहसेन ये छह पात्र (पृथ्वीधर टीकाकार के अनुसार) मागधी में बोलते हैं। **शकुन्तला** नाटक में दोनों प्रहरी और धीवर, शकुन्तला का बेटा सर्वदमन मागधी में वार्तालाप करते हैं। **वेणीसंहार** का राक्षस और उसकी स्त्री इसी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। **पिशेल** का (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० 45) कहना है कि **सोमदेव** के **ललित विग्रह राज** नाटक में जो मागधी प्रयुक्त हुई है वह वैयाकरणों के नियमों के साथ अधिक मिलती है। भाट और चर मागधी में बात करते हैं। शौरसेनी से मागधी की निम्नलिखित भिन्नतायें हैं—

(1) कर्ता, सम्बोधन एक वचन संज्ञा शब्दों के अन्त में अ को ए हो जाता है—ऐसे पुलिसे, एशे मेशे, करेमि भन्ते। **हेमचन्द्र** ने निम्नलिखित व्याकरण के नियम दिए हैं—

यद्यपि पोराणमद्ध—मागह भासा—निययँ हवइ सुत्त' इत्यादिनार्षस्य अर्द्धमागधभाषा नियतत्वमाम्नायि वृद्धेस्तदपि प्रायोऽस्यैव

विधानात्र वक्ष्यमाण लक्षणस्यां। हेमचन्द्र ने सामान्यतया जैन भिक्षुओं की बोली को आर्ष प्राकृत कहा है।

(2) (अ) र् का परिवर्तन ल् में और स्, ष्, का श् में—पुलिश, इलिश, हंश।

(ब) स् और ष् का द्वित्व व्यंजन का परिवर्तन स् में होता है श् में नहीं। केवल ष्—ग्रीष्म को छोड़कर—हस्ती, पस्खलदि, विस्मय आदि।

(स) ष्ट का ट्ट और स्ट होता है—पष्ट—पट्ट, पस्ट, भट्टालिका, भस्यलिका आदि।

(द) स्थ और र्थ स्त में परिवर्तित हो जाते हैं—उपस्थित—उवस्तिद, सुस्थित—शुस्तिद, अर्थवती—अस्तवदी आदि।

(3) ज्य, द्य का परिवर्तन य में होता है—जानासि—याणसि, जनपदे—यणवदे, अर्जुने—अय्युने, अद्य—अय्य।

(4) (अ) न्य, ण्य, और ञ्ज का ञ्ञ में परिवर्तन हो जाता है—अभिमन्यु—अहिमञ्ञु, अन्य—अञ्ञ, श्रामण्य—शामञ्ञ।

(ब) प्रारम्भिक और दूसरे शब्द के आदि में छ की जगह श्च होता है—गच्छ—गश्च, पुच्छति—पुश्चदि।

इस प्रकार **पिशेल** महोदय का कहना है कि मागधी एक भाषा नहीं थी। बल्कि भिन्न-भिन्न स्थानों में इसकी बोलियाँ प्रचलित थीं। इसलिए क्ष के स्थान में कहीं हक, कहीं श्क, र्थ के स्थान पर कहीं स्त और श्त, ष्क के स्थान पर कहीं स्क और कहीं श्क लिखा जाता है। इसलिए मागधी में वे सभी बोलियाँ सम्मिलित करनी चाहिए जिनमें ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श लिखा जाता है और जिनके अ में समाप्त होने वाले संज्ञा शब्दों के अन्त में अ के स्थान में ए जोड़ा जाता है।

अर्धमागधी की विशेषतायें

जिस प्रकार बौद्ध लोग **त्रिपिटक** की भाषा को पालि कहते हैं उसी प्रकार जैन लोग **आगमों** की भाषा को अर्धमागधी कहते हैं। **भरत** ने अर्धमागधी भाषा की सत्ता स्वीकृत की है। प्राचीन वैयाकरण **वररुचि, चंड** और **हेमचन्द्र** आदि ने इसका वर्णन किया है। **हेमचन्द्र** ने सामान्य प्राकृत का वर्णन करते हुए पृथक् रूप से आर्ष प्राकृत का (ऋषेः इदं आर्यं 1— - =ऋषियों की भाषा) उल्लेख किया है। इस कारण अर्धमागधी भाषा में आर्ष भाषा का समावेश हो जाता है। **हेमचन्द्र** ने अपने **प्राकृत-व्याकरण** में (1-3) बताया है कि उनके व्याकरण के सभी नियम आर्ष भाषा के लिए लागू नहीं होते क्योंकि उसमें बहुत से अपवाद हैं (आर्षे हि सर्वे विधायो विकल्प्यन्ते)। **पं० बेचरदास**[31] ने अर्धमागधी भाषा में आर्ष प्राकृत का समावेश किया है। उनका कहना है कि हेमचन्द्र ने जहाँ मागधी भाषा का उल्लेख किया है वहीं उसकी टीका में **पुराणम् अद्धमागहा** शब्द का भी उल्लेख किया है। **जैकोबी** ने (एस० बी० इ० बोल्यू० 2 की भूमिका में) इस आर्ष भाषा को जैन महाराष्ट्री कहकर पुकारा है और महाराष्ट्री से इसे पुराना सिद्ध किया है। इसे हम जैन अर्धमागधी कह सकते हैं। ऐसा कहकर हम अर्धमागधी से इसकी भिन्नता सिद्ध करते हैं। नाटकों की अर्धमागधी इससे बिल्कुल भिन्न है और यह मागधी से मिलता-जुलता है। वस्तुतः जैन अर्धमागधी महाराष्ट्री से भी पूर्ववर्ती है। अर्धमागधी इसका नाम इसलिए पड़ा कि इस भाषा को मगध के आधे हिस्से के लोग बोलते थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं करना चाहिए कि मागधी से मिलने-जुलने के कारण या मागधी बोली से आधी भाषा लेने के कारण इसका नाम अर्धमागधी पड़ा। वस्तुतः इसकी व्युत्पत्ति **'अर्धमागधस्येयम् भाषा'** करनी होगी न कि अर्ध मागध्याः **भाषा**। **निशीथ चूर्णो** में **जिनदास गुणी** ने इसी को स्पष्ट किया है—**मगहद्ध विसयभाषा निबद्धं अद्धमागहं**।

कुछ भिन्न रूप से भी इस पर विचार किया जाता है। प्राकृत वैयाकरण **मार्कण्डेय** ने अर्धमागधी को अलग भाषा बताकर उसका शौरसेनी में समावेश कर दिया है। जैसा कि पहले लिख चुके हैं कि प्राचीन जैन ग्रन्थों के मुताबिक मागधी का आधा रूप जिस भाषा में लिया गया हो उस भाषा में निबद्ध को अर्धमागधी भाषा कहते हैं अथवा देश भाषा में जो लिखा जाए उसे अर्धमागधी भाषा कहते हैं। ऐसी व्याख्या करने से अर्धमागधी का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। यह कहना कि जो मागधी से आधा लिया गया हो यह भाषा का स्पष्ट रूप नहीं बताता। इससे इस भाषा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं हो पाती। दूसरी व्याख्या जो आधा देशी भाषा से लिया गया हो, इससे भी अर्धमागधी भाषा के स्वरूप की कल्पना नहीं हो पाती। ऐसी व्याख्या करने पर **कुवलयमाला कहा** में वर्णित 18 देशी भाषाओं के मिश्रण को अर्ध मागधी कहेंगे। उन 18 देशी भाषाओं के विषय में कहा जाता है कि भगवान **महावीर** के निर्वाण के समय जो 18 देश के गण-राजा उपस्थित हुए थे उनमें से नौ राजा काशी के वंशज थे और 9 राजा कौशल देश के लिच्छवी वंश के थे। काशी और कौशल देश की सीमा पर भी 18 देशी भाषाओं का कई प्रकार से सम्बन्ध था। **पं० बेचरदास** जी का कहना है कि अर्धमागधी भाषा पर एक और तरीके से विचार कर सकते हैं। उनका कहना है कि प्राचीन समय में जैन शास्त्रकारों का भ्रमण करने का क्षेत्र निश्चित नहीं था। उससे पता चलता है कि जैन श्रमण लोग पूर्व दिशा में अंग देश—मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी नगरी, पश्चिम में स्थूण (स्थानेश्वर-कुरुक्षेत्र) तथा उत्तर में कुणाल देश की सीमा तक भ्रमण करते थे। उस समय में वस्तुतः यही आर्य देश था और इन्हीं की सीमा में लोग भ्रमण करते थे। इस भ्रमण काल में जो देश बताए गए हैं उन्हीं देशों की सीमा के साथ अर्धमागधी भाषा का सम्बन्ध हो सकता है। अगर यह सम्भावना ठीक हो सके तो आर्य क्षेत्र में जो भाषा प्रचलित थी वही अर्धमागधी भाषा कही जा सकती है।

पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार पर भी अर्धमागधी भाषा की भौगोलिक स्थिति का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता कि अर्धमागधी का मागधी से जरूर सम्बन्ध था। मागधी भाषा की जो उच्चारण पद्धति है उसी से मिलता-जुलता उच्चारण अर्धमागधी भाषा का भी है जो कि स्वाभाविक भी है। इस समय प्राचीन हस्त-लिखित जैन आगम का बीज जो जैन साहित्य में प्राप्त होता है उसी से अर्धमागधी की उच्चारण पद्धति का ज्ञान हो सकता है।

व्यापक प्राकृत की उच्चारण पद्धति अर्धमागधी भाषा में भी मिलती है। विशेष रूप से मागधी भाषा का उच्चारण अर्धमागधी भाषा में पाया जाता है। मागधी में र के बदले ल का उच्चारण प्रचलित है और अर्धमागधी में भी र के बदले ल का उच्चारण प्रचलित है। जैन आगम की प्रचीन पोथियों में तकार वाला शब्द विशेष रूप से पाया जाता है; जैसे—प्राकृत—वइ या वय, अर्धमागधी—वति, संस्कृत वचस, प्रा०—वजिर, वइर, अ० मा०—वतिर, सं० वज्र आदि। वस्तुतः इन तकार वाले उच्चारण की खास विशेषता मागधी ही है। अर्धमागधी की प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रयोग भी उसी तरह है। जैसे—प्रा०—वीरो, मा०—वीरे, अ० मा०—वीरे, वीरो, सं०—वीरः आदि। प्रायः ये ही अर्धमागधी के उच्चारण की खास विशेषतायें हैं। इसके खास उच्चारणों को **हेमचन्द्र** ने 'आर्ष व्याकरण' में कई उद्धरणों से स्पष्ट किया है—प्रा०—सिविण, आर्ष या अ० मा०—सुविण, सं०—स्वप्न, प्रा० पुराकम्म—आ० या अ० मा०—पुरेकम्म, सं०—पुराकर्म आदि। इस तरह प्राकृत में भी जैन साहित्य के अर्धमागधी विशेषता वाले प्रयोग बहुत हैं।

अर्धमागधी की व्याकरणिक कुछ मुख्य विशेषतायें

प्राकृत में लोक भाषाओं के बोलचाल की भाषा का उच्चारण भेद समय-समय पर होता रहा है। इस कारण किसी भी लोक भाषा में एक सरीखा उच्चारण नहीं रहा। इस दृष्टि से किसी भी लोकभाषा में उच्चारण की दृष्टि से कभी भी एक निश्चित

रूप नहीं रहा। इस तरह अर्ध मागधी भाषा में समय के अनुकूल विविध प्रकार की उच्चारण शैली बनती रही। प्राचीन समय में **महावीर** के समय की अर्धमागधी भाषा में व्यंजन प्रधान उच्चारण बोली थी। आगे चलकर कई प्रकार के तकार प्रधान जो उच्चारण थे बाद में व्यंजन ध्वनियाँ घिस गईं। इस प्रकार अर्ध मागधी के कल्पित रूप हो गए। अर्धमागधी की व्याकरणिक कुछ मुख्य विशेषताएँ–

(1) क्, ग् में परिवर्तित हो जाता है और कभी त् या य् में भी परिवर्तित हो जाता है–आकाश–आगास, श्रावक–सावग, लोक–लोग, आराधक–आराहत, अन्तिकात्–अन्तितात् या अन्तियात्। दो स्वरों के बीच में रहने वाले 'ग' की सामान्यतया सुरक्षा की जाती है। किन्तु यह कभी त् या य् में बदल जाता है–आगम्–आगम, अतिगं–अतित, सागर–सायर। दो स्वरों के बीच में रहने वाला च् और ज् का त् या य हो जाता है। नाराच्–नारात्, वाचणा–वायणा, पूजा–पूया।

दो स्वरों के बीच में त् सुरक्षित रहता है और य् में भी बदल जाता है–वन्दते, वन्दति, करतल–करयल।

दो स्वरों के बीच में द् सुरक्षित रहता है और कभी त् या य् में भी बदल जाता है–भेद–भेद, यदा–जता, चतुष्पद–चउप्पय।

दो स्वरों के बीच में प् को व् हो जाता है–पाप–पाव। कभी य् की भी सुरक्षा होती है। कभी त् में बदल जाता है–पिय–पिय, सामायिक–सामातिक। व् की भी सुरक्षा की जाती है। कभी त् या य् में बदल जाता है–गौरव–गौरव, परिवार–परिताल, परिवर्तन–परियण।

निष्कर्ष यह कि दो स्वरों के बीच में क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य्, व्, का सामान्यतया त्, या य्, हो जाता है। केवल प् का व् होता है। प्रायः ग्, त्, द्, य् और व्, सुरक्षित रहता है; क् का ग् और त् तथा य् भी होता है; महाराष्ट्री प्राकृत में

साधारणतः क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, प्, य् और व्, लुप्त हो जाते हैं और उनके लिए कोई व्यंजक नहीं होता। अर्धमागधी में कभी व्यंजन लुप्त भी हो जाते हैं। जैसे—भोजिन—भोइ, आतुर—आउर, आदेखि—आएसि।

(क) कभी-कभी न सुरक्षित भी रहता है—अनल, नाय पुत्त, प्रज्ञा—पन्ना आदि।

(ख) बड़े-बडे स्वर के बाद इति वा का तिवा या इवा होता है—इन्द्र मह इति वा—इन्द महेति वा या इन्द महे इवा।

(2) जैसा कि **पिशेल** ने लिखा है गद्य और पद्य में व्यंजन म् की सन्धि होती है। यह नियम दो व्यंजन के संयुक्त होते समय पाया जाता है—अन्योन्यम्—अन्नमन्नम् या अणमण्णम्। अ को इ होकर क की जगह य हो जाने की प्रवृत्ति महाराष्ट्री कविता में पाद पूर्त्यर्थ—निरयगामी—निरयंगामी में पाया जाता है किन्तु गद्य में नहीं।

(3) अर्धमागधी के कर्ता कारक एक वचन संज्ञा के अन्त अ का सामान्यतया ए और कभी ओ भी हो जाता है। महाराष्ट्री में सदा ओ ही रहता है। सप्तमी एक वचन का महाराष्ट्री में म्मि होता है, अर्धमागधी में स्सि होता है। अर्धमागधी चतुर्थी एक वचन के अन्त में आए या आते होता है। महाराष्ट्री में यह षष्ठी एक वचन के समान होता है। चतुर्थी नहीं होती। देवाए, गमणाए, अहिता ते। म० रा० में तृ० ए० व० में संस्कृत की तरह 'एण' होता है किन्तु अर्धमागधी में सा होता है—मणसा, वयसा, कालसा, बलसा आदि। तृ० ए० व० कम्म और धम्म का कम्मेण, धम्मेण होता है। भूतकाल बहुवचन इंसु होता है—पुच्छिंसु।

अर्धमागधी में होइत्था, आइक्खइ आदि किसी भी काल या वचन में हो सकता है। किन्तु महाराष्ट्री में भिन्न काल और वचन का रूप भिन्न होता है। अर्धमागधी में त्वा के बहुत से रूप होते हैं—(1) ट्टुं—कट्टु (2) इत्ता, एत्ता, इत्ताण, एत्ताण=चइत्ता, करेत्ता,

पासित्ताण करेत्ताण, (3) इत्ति–जाणित्तु, (4) च्चा–किच्चा, (5) इया–परिजाणिया इत्यादि बहुत से रूप होते हैं।

तुम का कभी इत्तए या इत्तत्ते–करित्तए, उवसामित्तते। ऋ से युक्त धातु के अन्त के त का ड होता है–कृत–कड, मृत–मड, वृत्त–वड आदि।

पैशाची की विशेषता

पैशाची बहुत प्राचीन है। इसकी गणना पालि, अर्धमागधी और शिलालेखी प्राकृत के साथ की जाती है। **ग्रियर्सन** के अनुसार पैशाची पालि का ही एक रूप है। यह भारतीय आर्य भाषाओं के विभिन्न रूपों के साथ घुल-मिल गई। **डा० हीरालाल जैन**[32] के अनुसार पैशाची की विशेषतायें चीनी, तुर्किस्तान के खरोष्ठी शिलालेखों में देखी जा सकती हैं। **पिशेल** का कहना है कि आरम्भ में इस भाषा का नाम पैशाची इसलिए पड़ा होगा कि यह महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधी की भाँति ही पिशाच जनता द्वारा या पिशाच देश में बोली जाती होगी। अर्थात् पिशाच एक जाति का नाम होगा और बाद को भूत भी पिशाच कहे जाने लगे तो जनता और वैयाकरणों ने इसे भूत भाषा कहना आरम्भ किया। पिशाच या पैशाच लोगों का उल्लेख महाभारत 7, 121, 14, में मिलता है। भारतीय लोग पिशाच का अर्थ भूत करते हैं (सरित सागर 7, 26 और 27)। **वररुचि** ने **प्राकृत प्रकाश** के दसवें परिच्छेद में पैशाची का विवेचन करते हुए शौरसेनी को उसकी आधारभूत भाषा स्वीकार किया है। **हेमचन्द्र** ने **प्राकृत व्याकरण** के 8/4/303-324 तक पैशाची का वर्णन किया है। **मार्कण्डेय** ने तीन पैशाची बोलियों का उल्लेख किया है–कैकेय, शौरसेन और पाँचाल। संभवतः **मार्कण्डेय** के समय में तीन साहित्यिक पैशाची बोलियां रही होंगी। उसने लिखा है–

कैकयं शौरसेनञ्च पाञ्चालम् इति च त्रिधा।
पैशाच्यो नागरा यस्यात् तेनाप्यन्यान् लक्षिताः।।

मार्कण्डेय के अनुसार केकय पैशाची संस्कृत भाषा पर आधारित है और शूरसेन पैशाची शौरसेनी पर। पंचाल और शौरसेनी पैशाची में केवल एक नियम में भेद है और वह है र के स्थान में ल होना। प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार पैशाची के निम्नलिखित भेद किए जाते हैं—पाण्ड्य, केकय, वाहलीक, सह्य, नेपाल, कुन्तल और गान्धार। पूर्वोक्त बातों से यह पता चलता है कि पैशाची की प्राकृत बोलियाँ भारत के उत्तर और पश्चिम भागों में बोली जाती रही होंगी। **वाग्भटालंकार** में (2, 1 और 13) पैशाची को भूत वचन या भूत भाषित कहा गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार भूतों की बोली भीतर के नाक से बाली जाती है। किन्तु प्राकृत वैयाकरणों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

पैशाची ध्वनि तत्त्व की दृष्टि से संस्कृत, पालि और पल्लव वंश के दान पत्रों की भाषा से मिलती जुलती है। **गुणाढ्य** की **बृहत्कथा** पैशाची की सबसे प्राचीन कृति है। अब केवल प्राकृत व्याकरण में इसकी विशेषता मात्र पाई जाती है—

(1) (क) पैशाची में वर्ग के तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के स्थान में क्रमशः प्रथम और द्वितीय अक्षर हो जाते हैं—गगन—गकन, मेघ—मेख।

(ख) ण के स्थान में न होता है—तरुणी—तलुनी।

(ग) स्ट के स्थान में सट होता है—कष्ट—कसट।

(घ) स्न के स्थान में सन होता है—स्नान—सनान।

(ङ) न्य के स्थान में ञ्ञ होता है—कन्या—कञ्ञ।

(2) (क) पैशाची में ट, ठ, ड, ढ, और ण सामान्यतया या विकल्प कर के त, थ, द, ध, न में परिवर्तित हो जाता है। कुतुंबकं या कुटुम्बकं, मूर्धन्य दन्त्य में परिवर्तित हो जाता है।

(3) (क) कर्मवाच्य य का इय्य होता है—गम्यते—गमिय्यते, गियते—गिय्यते, दियते—दिय्यते, पठ्यते—पठिय्यते।

(ख) भविष्यत्काल तृ० पुं०, ए० व० में एय्य होता है—भविष्यति—हुवेय्य।

(4) (क) अकारान्त संज्ञा शब्दों के षष्ठी ए० व० में अस, आतो और आतु में बदल जाता है—दूरात—तुरातो, तु, मामतो, ममातुः तुमातो, तुमातुः।

(ख) तृ० ए० व० का तत् और इदम् का नेन् और नाए होता है। तेन कृत्—नेन कृत्, पूजितो च तया—पूजितो च नाए।

चूलिका पैशाची की प्रमुख विशेषताएँ

हेमचन्द्र के **कुमारपालचरित** में चूलिका पैशाची पायी जाती है। **काव्यानुशासन, हम्मीर दर्शन** नामक नाटक और **षड्भाषा स्त्रोत** में भी यह पायी जाती है। इसे सभी वैयाकरणों ने पैशाची मानी है। केवल **हेमचन्द्र** और **लक्ष्मीधर** ने चूलिका पैशाची का वर्णन किया है।

वर्ग के तृतीय और चतुर्थ का प्रथमा और द्वितीया में परिवर्तन हो जाता है—नगर—नकर, मेघ—मेख, जीमूत—चीमूत, गाढं—काठं। र विकल्प करके ल में बदल जाता है।

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों ने जिन प्राकृत भाषाओं का वर्णन किया है वह लोक भाषा के आधार पर आधारित है। आगे चलकर वह संस्कृत का आदर्श अपना-कर केवल साहित्यिक भाषा हो गई। प्राकृत में संस्कृत की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हुआ। व्यंजन ध्वनियाँ समाप्त हो गयीं। धातु रूपों में सरलीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी। अब कारकों के रूपों में भी काफी ढिलाई हो चली थी। सम्प्रदान कारक के रूप समाप्त हो चले थे। कर्ता और कर्म कारक के बहुवचन का रूप एक सा ही चलने लगा। द्वि वचन तो बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। लङ्, लिट् और विविध प्रकार के लुङ् लकार के रूप समाप्त हो चले। क्रिया की जगह कृदन्त का प्रयोग बढ़ चला। आत्मनेपदी धातुओं के प्रयोग बहुत कम बच रहे। इस प्रकार यह भाषा श्लेष से विश्लेषणात्मकता (Analytic) की ओर बढ़ने लगी। इसी से अपभ्रंश ने जन्म लेकर न० भा० आ० भाषाओं का सूत्रपात किया।

संदर्भ

1. भाषा के आधार पर काव्यों का भेद दण्डी ने किया है—
   तदेतद वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
   अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।।
   काव्यादर्श 1–32
2. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यञ्च तद्विधम्।
   संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।।
   काव्यालंकार 1-16
3. संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः।
   शक्यो वाचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः।।
   सरस्वती कण्ठाभरण
4. प्राकृत संस्कृत-मागध-पिशाच भाषाश्च सूरसेनी च।
   षष्ठोऽत्रभूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः।।
   काव्यालंकार 2–12
5. 'प्रकृतेः संस्कृतादागतं प्राकृतम् (वाग्भटालंकार 2/2)
   संस्कृत रूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वात् प्राकृतम्' (काव्यादर्श की प्रेमचन्द्र तर्कवागीश कृत टीका 1, 33)
   प्रकृतिर्योनि शिल्पिनीः। पौरामात्यादि लिङ्गेषु गुणा साम्य स्वभावयोः प्रत्ययात् पूर्विकायां च। (अनेकार्थ संग्रह 876-7)।
6. वररुचि **प्राकृत प्रकाश** भूमिका, पृ० 2, संकलयिता—डा० पी० एल० वैद्य।
7. रूद्रटीय **काव्यालंकार** की टिप्पणी (2–12)
8. 'सकल जगज्जन्तुनांव्याकरणादिभिरनाहत संस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'अरसि वयणे सिद्धं देवाणं अद्धभागहा वाणी' इत्यादि वचनाद् वा प्राक् पूर्व कृतं प्राक्कृतं

बाल महिलादि सुबोधं सकल निबन्धन भूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्त जलमिवैक स्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कार करणाच्च समासादित विशेषं सत् संस्कृताद्युत्तर विभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टम्, तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादि व्याकरणोदित शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।

9. वाक्पतिराज :–

सयला ओ इमं विसन्ति एत्तोय णेंति वायाओ।
एन्ति समुदं चियणेति साथ राओच्चिय जलाइं।।

10. यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्र पथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्ण पदं पद रतिपतेस्तत् प्राकृतं यदवच–
स्तल्लाटांल्ललिताङ्गि! पश्य नुदती दृष्टेर्निमेष व्रतम्।

राजशेखर बालरामायण (48–49)

11. **प्राकृत भाषा**, पृ० 18–प्रकाशन–श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी।

12. **हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास** पृ० 60 पर डा० तिवारी ने सविस्तार विभिन्न विद्वानों के मतों का वर्णन किया है।

13. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी** पृ० 188, प्रकाशन–राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

14. **पालि महाव्याकरण** भिक्षु जगदीश कश्यप का।

15. **विल्सन फाइलोलोजिकल लेक्चर्स** पृ० 48।

16. **प्राकृत मार्गोपदेशिका**, पृ० 13, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय गांधी रास्ता, अहमदाबाद सन् 1947।

17. भरत मुनि ने जिस कथित भाषा का उल्लेख किया है वे हैं–मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाहलीका और दाक्षिणात्या–ये 7 प्रान्तीय भाषाएं थीं।

मगध की भाषा मागधी, अवन्ती की (उज्जयिनी के आस–पास की सीमा) प्रचलित भाषा का नाम अवन्तिजा भाषा, प्राच्या का तात्पर्य पूर्व प्रदेश से था उसमें प्रचलित भाषा का नाम प्राच्या, शूरसेन की शौरसेनी, मागधी का आधा लेकर जो भाषा बनी वह अर्धमागधी, बाहलीका आजकल प्रचलित वल्ख प्रदेश का नाम बाहलीका भाषा इसी के बगल में पैशची भाषा थी और दक्षिण प्रदेश की भाषा का नाम दाक्षिणात्या भाषा थी।

18. **विल्सन फाइलोलोजिकल लेक्चर्स** पृ० 72-73।

19. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 13, प्रकाशन–राष्ट्र-भाषा परिषद–पटना।

20. 'Journal of the Department of Letters Culcutta University Vol. xxiii, p. 1-24, 1933 A. D. 'Thus we may conclude that Prākrit, though it may be called Maharastra for the sake Dandi, was not the dialect which has its origin in Maharastra and the geographical area with which it has any possible Vital Courexion is the Indian Midland and it is the language of Soursena region. Maharastri a later phase of Sauraseni. J.O.L.C. xxiii-1-24.

21. **सेतुबन्ध**–दा, दाव ऊदू आदि रूप महाराष्ट्री के न होकर शौरसेनी के ही हैं। 1–24, डा० ए० एन० उपाध्याय–**एनल्स ऑफ भण्डारकर इन्स्टीच्यूट**, 1939-40 में **पैशाची लैंग्वेज लिटरेचर** नामक लेख डा० मनमोहन घोष-**कर्पूरमंजरी की भूमिका**, पृ० 72।

22. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी**, पृ० 191, प्रकाशन-राजकमल, दिल्ली।

23. प्रो० जेकोबी ने महाराष्ट्री का समय कालिदास के समकालीन (ई० सन का तीसरी शताब्दी) और डा० कीथ ने चौथी शताब्दी के बाद का स्वीकार किया है।

24. डा० मनमोहन घोष के अनुसार मध्य भारतीय आर्य भाषा के रूप में महाराष्ट्री काफी समय बाद (ई० सन 600) स्वीकृत हुई, **कर्पूर मंजरी की भूमिका**, पृ० 76।

डा० ए० एन० उपाध्याय ने भी महाराष्ट्री को शौरसेनी के बाद का रूप स्वीकार किया है (चन्दलेहा की भूमिका)। डा० ए०एम० घटगे उक्त मत से सहमत नहीं हैं। उक्त मत के अनुसार हेमचन्द्र आदि वैयाकरणों ने जो प्राकृत का विवेचन किया है, उससे उनका तात्पर्य महाराष्ट्री प्राकृत से ही है, देखिये–जनरल आव यूनिवर्सिटी आव बाम्बे, मई 1936 में **महाराष्ट्री लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर** नामक लेख।

25. उदाहरण के लिए नीचे लिखे शब्द ध्यान देने योग्य हैं–

कअ (कच, कृत्), कइ (कति, कपि, कवि, कृति), काअ (काक, काच, काय), मअ (मत, मद, मय, मृग, मृत), सुअ (शुक, सुत, श्रुत)।

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पृ० 18।

26. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** से उद्धृत पृष्ठ 25।

27. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी** पृ० 190।

28. **प्राकृत साहित्य का इतिहास** पृ० 13 डा० जगदीश चन्द्र जैन।

29. **जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे**, मई 1935।

30. **एनल्स आव भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट** बो० 21, 1939–40।

लीलाबाई कहानी की भूमिका पृ० 83।

31. **प्राकृत मार्गोपदेशिका** पृ० 18।

32. डा० हीरालाल जैन का **नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल**, दिसम्बर 1941 में प्रकाशित पैशाची ट्रेट्स इन द लैंग्वेज ऑव खरोष्ठी इंस्क्रिप्शन्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान' लेख।

तृतीय-अध्याय

अपभ्रंश भाषा

अपभ्रंशविषयक निर्देश

पतञ्जलि

अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ च्युत या संस्कृत शब्द का बिगड़ा हुआ रूप माना जाता था। **पतञ्जलि** (ई० पू० 2 शती) ने इसके लिये दो प्रकार के शब्द प्रयुक्त किये हैं—(1) एक अपशब्द (2) और दूसरा अपभ्रंश, जो कि संस्कृत का विभ्रष्ट या अपभ्रष्ट रूप है। संस्कृत शब्द के विकृत या अपशब्द रूप गावी, गोणी, गोता आदि शब्द सामान्यतया अपशब्द या अपभ्रंश कहकर पुकारे जाते थे।[1] वैयाकरणों ने संस्कृत से इतर सभी शब्दों को अपभ्रंश कहकर पुकारा है[2] क्योंकि संस्कृत के विकृत रूपों या इतर शब्दों के लिये यही नाम प्रतिनिधित्व करता था।

भर्तृहरि

'वाक्यपदीयम्'[3] के रचयिता **भर्तृहरि** ने महाभाष्यकार **पतञ्जलि** के पूर्ववर्ती **व्याडि** नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश का निर्देश किया है। उनका कहना है कि शुद्ध उच्चारण में असमर्थता या उच्चारण के प्रति असावधानी के कारण शब्दों के विकृत हो जाने से अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई। वैयाकरणों ने संस्कृत से अपभ्रंश की उत्पत्ति के विषय में यही विश्लेषण किया है। **व्याडि** का कहना है कि अपभ्रंश का उद्भव संस्कृत से है। इस कारण यह स्वतन्त्र भाषा के विकास का द्योतक नहीं है। ये संस्कृत के अपभ्रष्ट और मिश्रित शब्द हैं। उसका कारण

था सामान्य जनता के द्वारा अशुद्ध उच्चारण और प्राकृतिक उच्चारण की अयोग्यता। **भर्तृहरि** के अनुसार अपभ्रंश अपने आप महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु उनका अभिव्यक्तिकरण और स्पष्टता शुद्ध शब्द की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है।[4] उनका कहना है कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रंश कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है।[5] अपभ्रंश की शुद्धता और अशुद्धता के विषय में भी हम कुछ नहीं कह सकते।[6] वही शब्द दूसरे अर्थ में शुद्ध हो सकता है और वही अपभ्रंश या अपशब्द के विषय में अशुद्ध हो सकता है। इस प्रकार शब्द की शुद्धता और अशुद्धता की विचित्र स्थिति होती है।[7] **भर्तृहरि** ने यह देखा था कि ब्राह्मणेतर लोगों में केवल अपभ्रंश की ही प्रवृत्ति है, इस उक्ति पर समीक्षा करते हुए **गंगेश**[8] ने कहा है कि—अपभ्रंश के शब्दों में उसी प्रकार की अर्थवत्ता शक्ति है जिस प्रकार कि संस्कृत के शब्दों में शक्ति और नियम है। उनका कहना है कि संस्कृत को इसलिये महत्व देना चाहिये कि उसकी एकरूपता समस्त देश में पाई जाती है और वहीं पर अपभ्रंश विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूपों में ग्रहण की गई है।[9]

इस प्रकार **पतञ्जलि** के पहले से ही दो शब्द प्रचलित थे (1)—अपभ्रंश और (2) अपशब्द। **पतञ्जलि** के पूर्ववर्ती **व्यांडि** ने भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है—**शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकार,** (वा० प० स्वोपज्ञ टीका काण्ड)। **महाभाष्य** में **पतञ्जलि** ने किसी प्राचीन लुप्त ब्राह्मण का वचन उद्धृत किया है—मलेच्छ वचन अपशब्द है—**मलेच्छो ह वा एष यदपशब्दाः**। **भरत** के **नाट्यशास्त्र** (17/146) में भी अपशब्द का प्रयोग हुआ है—**नापशब्दं पठेत् तज्ज्ञः**। किन्तु भरत से पूर्ववर्ती **ताड्य ब्राह्मण ग्रन्थ** (14/4/3) में भी अपभ्रंश का ही उल्लेख पाया जाता है—**अपभ्रंश इव वा एष यज्ज्यायसः स्तोमात् कनीयांसस्तोममुपयन्ति**। **महाभाष्य** के प्रसिद्ध टीकाकार **कैयट** और **नागेश** ने भी संस्कृत से इतर शब्दों के लिये अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है।

कुमारिल भट्ट ने अपने **तन्त्रवार्तिक**[10] (पूना प्रकाशन पृ० 237) में लिखा है कि अपभ्रंश शब्द असाधु शब्द है।

निष्कर्ष यह कि संस्कृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संस्कृत से इतर शब्दों के लिये किया है। संस्कृत वैयाकरणों के यहाँ संस्कृत भाषा की सुरक्षा तथा उसके शुद्ध उच्चारण करने की समस्या थी। अतः उन लोगों ने प्रत्येक दृष्टि से संस्कृतेतर शब्दों को त्याज्य समझा और उसके लिये अपभ्रंश, अपशब्द और असाधु शब्द का प्रयोग किया है। वैयाकरणों के अतिरिक्त नैयायिकों तथा मीमांसकों ने भी शब्द शक्ति पर विचार करते समय संस्कृत शब्दों के शुद्ध उच्चारण करने पर बल दिया है और संस्कृत से इतर शब्दों को असाधु कहा है। 7वीं शताब्दी के **दण्डी** ने इन्हीं सारी चीजों पर विचार करके अपने **काव्यादर्श** में कहा था कि शास्त्रों (शास्त्र का अर्थ व्याकरण से है) में संस्कृत से इतर शब्दों को अपभ्रंश कहते हैं—**शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्**।

इस प्रकार अपभ्रंश के लिये कई प्रकार के शब्द प्रचलित थे—अपभ्रंश, अपभ्रष्ट, विभ्रष्ट, अपशब्द, अवब्भंस, अवहंस, अवहत्थ अवहट्ठ, अवहठ और अवहट आदि। इनमें से कुछ नाम तो संस्कृत के हैं जिनका कि पहले वर्णन किया जा चुका है और कुछ नाम प्राकृत और अपभ्रंश में भी पाये जाते हैं।

काव्यों में अपभ्रंश शब्द के प्रयोग

संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्त, काव्यों में भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग हुआ है। **कालिदास** ने **शाकुन्तलम्** में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग च्युत या स्खलन के अर्थ में किया है।[11] **भाष्यकार** के अतिरिक्त **भर्तृहरि**[12] ने भी अपशब्द का प्रयोग भ्रष्ट, विकृत, अशिष्ट या अपभाषा के अर्थ में किया है। अपभ्रष्ट[13] शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा के अर्थ में **विष्णुधर्मोत्तर** (खण्ड 3/अ०-3) ने किया है। अपभ्रंश का तद्भव रूप अवब्भंस तथा अवहंस **उद्योतन** की **कुवलयमाला**[14] कहा (8वीं शताब्दी ईस्वी) एवं **पुष्पदन्त** के **महापुराण**[15] (10वीं शताब्दी

ईसवी) में पाया जाता है। इसी तरह अपभ्रष्ट का तद्भव रूप अवहत्थ, अवहट्ठ और अवहट आदि रूप परवर्ती अपभ्रंश में पाये जाते हैं। **स्वयंभू** ने अपनी **रामायण**[16] में अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है। **अद्दहमाण** ने **सन्देश रासक**[17] में अवहट्ठ **विद्यापति** ने **कीर्तिलता**[18] में अवहट्ठ **ज्योतिरीश्वर**[19] ने **वर्णरत्नाकर** में अवहठ एवं **प्राकृत पैंगलम्**[20] की **वंशीधर**-कृत टीका (16वीं शताब्दी) में अवहट शब्द का प्रयोग किया गया है।

हम देखते हैं, कि समय-समय पर अपभ्रंश के विकृत रूप या तद्भव रूप होने के अनन्तर भी अर्थ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। समग्र रूप से अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग अधिक प्रचलित हुआ, अवश्य परवर्ती अपभ्रंश के लिये अवहट्ठ शब्द का भी प्रचलन पाया जाता है, अतिरिक्त नाम नाममात्र ही रह गये। काल प्रवाह के साथ-साथ वे नाम नहीं चल सके।

अपभ्रंश शब्द का सामान्य अर्थ भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत या अपशब्द होता है। संस्कृत से भिन्न शब्दों के लिये भी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग होता था। **पतञ्जलि** ने जिस गो शब्द का अपभ्रंश रूप—गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि उदाहरण दिया है वह परवर्ती वैयाकरणों का आदर्श उदाहरण हो गया। प्रसंग आने पर प्रायः संस्कृत वैयाकरणों ने तथा प्राकृत वैयाकरणों ने भी इन्हीं पूर्वोक्त उद्धरणों की पुनरावृत्ति की है। **भर्तृहरि**[21], **चण्ड**[22], **हेमचन्द्र**[23] तथा श्वेताम्बर[24] जैनियों के ग्रन्थों आदि में भी उद्धरण स्वरूप ये ही शब्द पाये जाते हैं। **एल० वी० गांधी**[25] ने **अपभ्रंश काव्यत्रयी** में बताया है कि वस्तुतः ये प्राकृत के शब्द थे जो कि विभिन्न प्रान्तीय प्राकृतों में प्रयुक्त होते थे। **डा० गुणे**[26] एवं **दलाल** का भी यही कहना है कि **पतञ्जलि** ने अपभ्रंश के जिन दोषों का चित्रण किया है वस्तुतः वे सभी प्राकृत में पाये जाते हैं।

पहले जितने भी उदाहरण दिये जा चुके हैं जो कि तत्कालीन और परवर्ती समय में भी प्रान्तीय प्राकृत भाषाओं में प्रचलित थे,

उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि **पतञ्जलि** के समय में अपभ्रंश का अर्थ होता था संस्कृत से भिन्न समस्त प्राकृत भाषायें। भले ही **पतञ्जलि** ने अपभ्रंश का अर्थ अपशब्द लिया हो। संस्कृत भाषा के प्रति पूज्य बुद्धि रखने के कारण एवं उसकी पवित्रता की सुरक्षा की समस्या से अभिभूत होकर गोः शब्द से अतिरिक्त शब्दों को अपशब्द कहना उचित ही था। बाद में ये शब्द वैयाकरणों के यहां रूढ़ हो गये किन्तु प्राकृत के लिए अपभ्रंश शब्द का प्रचलन नहीं हुआ।

भरत

भरत ने अपने **नाट्य शास्त्र** में (300 ई० के लगभग) प्राकृत भाषा का भेद कई रूपों में किया है इससे तत्कालीन भाषा का बहुत कुछ ज्ञान होता है। उसने प्राकृत को भाषा तथा विभाषा के अन्तर्गत विभक्त किया है एवं 'देश भाषा' की भी कल्पना की है। किन्तु सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि उसने अपभ्रंश का वर्णन तो दूर रहा उसका उल्लेख तक नहीं किया है। 17वें अध्याय में प्राकृत के शब्दों पर विचार करते हुए उसने तीन प्रकार के शब्दों का चित्रण किया है—समान शब्द, विभ्रष्ट, और देशी[27]। विभ्रष्ट शब्द से कुछ लोगों ने अपभ्रंश का अनुमान किया है क्योंकि आभीरों की बोली उकारबहुला कही जाती है। शब्दों के अन्त में उकारात्मक रूप का आना अपभ्रंश की विशेषता कही जाती है। अतः **भरत** वर्णित उकारात्मक बोली अपभ्रंश की ओर संकेत करती है। अपभ्रंश का यह उकार रूप बौद्धों की प्राकृत में भी पाया जाता है। अपभ्रंश के कुछ उकार **विमल सूरि** के **'पउम चरिउ'** (300 ई०) में भी प्रतिभासित होते हैं। **एचं० स्मिथ**[28] के अनुसार पालि में अपभ्रंश के कुछ अंश उपलब्ध हो सकते हैं।

इन्हीं सभी प्रमाणों के आधार पर **डा० गजानन तगारे** (§1)[29] ने अनुमान किया है—'ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश भाषा का अस्तित्व कम से कम 300 शताब्दी ई० के पहले से ही है।'

भरत ने प्राकृत के जिस भाषा और विभाषा का चित्र खींचा है उस पर टीका करते हुए **अभिनव गुप्त पादाचार्य**[30] ने कहा है कि संस्कृत के विकृत या अपभ्रष्ट प्राकृत का नाम भाषा है और भाषा यानी प्राकृत की विकृत बोली विभाषा। वस्तुतः यह रुढ़िग्रस्त समीक्षा है। इससे किसी भी प्रकार का भाषा विषयक समाधान नहीं निकाला जा सकता। किन्तु यह निष्कर्ष अवश्यमेव निकाला जा सकता है कि ईसा के तीसरी शताब्दी के लगभग विभाषा का साहित्यिक रूप हमारे सामने नहीं था, यह आँचलिक, क्षेत्रीय बोली के रूप में प्रचलित था जिसे अशिक्षित वनवासी लोग बोला करते थे।

भामह

छठी शताब्दी का **भामह** सर्वप्रथम व्यक्ति हुआ है जिसने अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक रूप माना है:

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा।।

काव्यालंकार, 1, 16, 28

भामह ने संस्कृत और प्राकृत की तुलना में अपभ्रंश को भी उसी के बराबर गद्य और पद्य का समान अधिकारी बताया है। इस काव्य के लक्षण से यह निश्चित प्राय सा हो जाता है कि इस समय तक अपभ्रंश साहित्य न केवल पद्य में ही समृद्ध हो चुका था अपितु गद्य क्षेत्र में भी अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुका था। अब तक सुसंस्कृत समाज में इसका महत्वपूर्ण स्थान हो चुका था। इसी कारण बलभी (सुराष्ट्र-काठियावाड़) के राजा **धारसेन द्वितीय**[31] ने अपने पिता के विषय में कहा है कि वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में प्रबन्ध रचने में निपुण थे। यद्यपि इस दान पत्र में शिलालेख का समय 400 शक सम्वत

लिखा हुआ है जिसे कि **ब्यूलर**[32] महोदय उचित नहीं मानते और इसका समय ईस्वी सन 678 के लगभग माना है। इससे सिद्ध हो जाता है कि अपभ्रंश का साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान हो चुका था।

दण्डी

पी० वी० काणे[33] ने **दण्डी** को **भामह** से पूर्ववर्ती माना है दण्डी ने अपने **काव्यादर्श** में साहित्य के 4 चार[34] भेद किये हैं–1. संस्कृत 2. प्राकृत 3. अपभ्रंश और 4. मिश्र। संस्कृत को उसने देववाणी कहा है। **भरत** के विचार से समता रखते हुये प्राकृत के तीन क्रम माने हैं–1. तत्सम, 2. तद्भव और 3. देशी। किन्तु अपभ्रंश की व्याख्या उसने दो तरह से की है–

1. काव्यों में आभीर आदि की वाणी अपभ्रंश कहाती है–**आभीरादि गिरः काव्येषु अपभ्रंश इति स्मृतः**

2. शास्त्रों में (व्याकरण से तात्पर्य है) संस्कृत से भिन्न शब्दों को अपभ्रंश कहते हैं–**शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम्**।

इन उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि **दण्डी** ने संस्कृत भाषा तथा प्राकृत भाषा के समान अपभ्रंश भाषा को तो महत्व दिया ही है साथ ही साथ इन दोनों भाषाओं के काव्यों की महत्ता के समान ही अपभ्रंश के काव्य को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उसने बताया है कि संस्कृत में जहाँ सर्ग बन्धादि को महत्व दिया जाता है, प्राकृत में जहाँ सन्धिकादि की महत्ता है वहीं पर अपभ्रंश के काव्यों में भी ओसरादि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त उसने 'नाटकादि' को मिश्रक माना है। नाटक के साथ जुटे हुए आदि पद से (नाटकादि तु मिश्रकम्–1–37) प्रतीत होता है कि वह कुछ और दूसरी चीज की ओर संकेत कर रहा है–शायद वह चम्पू के लिये है–या संभवतः गद्य के लिये है; यह स्पष्ट नहीं है।

आभीर आदि शब्द पर विचार

दण्डी के निर्देश से दो मुख्य बात हमारे सामने आती है। अपभ्रंश का दो स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होता है। एक है परम्परा की विचारधारा को प्रस्तुत करना और दूसरा है तत्कालीन काव्य शैलियों को स्पष्ट करना। उसने स्पष्ट बताया है कि व्याकरण में संस्कृत से भिन्न शब्दों को अपभ्रंश कहते हैं अर्थात् उसके समय में भी (जबकि अपभ्रंश साहित्य काफी समृद्ध हो चुका था) यह पुरानी रुढ़िवादी विचारधारा प्रचलित थी। दूसरी बात कहकर उसने काव्यशास्त्रीय ऐतिहासिक सत्यता की याद दिलाई है—(काव्यों में आभीर आदि की वाणी अपभ्रंश नाम से याद की गई है) इसमें 'आदि' तथा 'स्मृतः' शब्द विचार करने योग्य है। स्मृतः=स्मरण किया गया से विदित होता है कि **दण्डी** किसी पूर्ववर्ती आचार्य की बात की ओर निर्देश कर रहा है। इससे भी अधिक आभीर शब्द के साथ जुटा हुआ 'आदि' पद **भरत** के **नाट्यशास्त्र** की याद दिलाता है। **भरत** ने ना० शा० के अठारहवें अध्याय में संस्कृत के अतिरिक्त भाषा, विभाषा और देशी भाषा पर विचार किया है। उसने देश भाषा को संस्कृत एवं प्राकृत से भिन्न माना है। उसका कहना है कि इसके बाद मैं देश भाषा का भेद बताऊँगा :—

एतमेव तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्।।

ना० शा०—18/22-23

इससे स्पष्ट है कि देश भाषा संस्कृत और प्राकृत से भिन्न है। इसका तात्पर्य कथ्य भाषा (Spoken language) से है जो कि विभिन्न प्रान्तों या अँचलों (क्षेत्रीय) में बोली जाती थी। इसके मुख्यतः और भी रूप पाये जाते थे। यह नाटकों में प्रयुक्त होने के कारण काव्य का भी रूप धारण कर लेता था :—

अथवा छन्दतः कार्यः देशभाषा प्रयोक्तृभिः। ना० शा० 18/34

नाना देशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके।। ना०शा० 18/35

देश भाषाओं पर विचार करने के बाद उसने सात भाषाओं का उल्लेख किया है—मागधी, अवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाहलीका और सातवाँ दाक्षिणात्या :—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः।।

ना० शा० 18/35-36

इसके बाद उसने बहुत सी विभाषाओं का भी उल्लेख किया है जिनमें शबर, आभीर, चाण्डाल और द्रविड़ों के साथ औड्रज लोग एवं निम्न स्तर के जंगली लोग भी हैं—

शबराभीरचण्डालसचरद्रविडोड्रजाः।
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता।।[35]

ना० शा० 18/36-37

इन विभाषाओं के उल्लेख में **भरत** ने कहीं भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं किया है। अपभ्रंश नाम का उल्लेख न करने का कारण स्पष्ट है कि उस समय की साहित्यिक भाषा का नाम 'भाषा' था। विभाषा शब्द का प्रचलन उस समय नहीं था। फिर भी इस शब्द का प्रयोग विभिन्न बोली जाने वाली बोलियों के लिए प्रयुक्त होता था। **दण्डी** ने अपने **काव्यादर्श** में साहित्यिक अपभ्रंश के लिये जिस आभीरादि शब्द का उल्लेख किया है वह वस्तुतः **भरत** की विभाषा में प्रयुक्त शबर, आभीर आदि ही हैं। **भरत** के समय विभाषा ने साहित्यिक भाषा का रूप धारण नहीं किया था। **दण्डी** ने अपभ्रंश साहित्य के लिए प्रारम्भ में जो आभीर (आदि) शब्द का प्रयोग किया है उससे यही प्रतीत होता है कि **दण्डी**

के समय या उसके कुछ पूर्व राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति के कारण आभीरों ने समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। नहीं तो **दण्डी** के साहित्यिक अपभ्रंश के आभीर आदि लोग तथा **भरत** की विभाषा के शबर, आभीर आदि लोगों का वर्णन वस्तुतः एक ही प्रकार से नहीं होता। अन्तर है तो केवल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितयों के परिवर्तन की झंझावात का।

भरत ने विभाषा के अन्तर्गत जिन लोगों का उल्लेख किया है वे समाज के पिछड़े हुए वर्ग, निम्न वर्ग और आदिम जाति के वर्गों की बोलियों का प्रतिनिधित्व करते थे। **भरत** के समय वे लोग केवल पश्चिमोत्तर भारत में ही न रहकर समस्त भारत में फैले हुए थे। भरत ने स्वतः उन लोगों के वर्गों के विभाजन की व्याख्या की है साथ ही साथ उनमें से कुछ बोलियों की भी व्याख्या की है–

अङ्गारकारव्याधानां काष्ठपन्त्रोपजीविनाम्।
योज्या शबरभाषा तु किञ्चिद्वानौकसी तथा।।

ना० शा० 18/41-42

गाजाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शाबरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिषु।।

ना० शा० 18/42-44

शबर शब्द का अर्थ कोयला बनाने वाला, शिकारी और जो काष्ठ कला (ऊड क्राफ्ट) पर जिन्दगी बसर करते थे, इसके अतिरिक्त जंगली लोग जिनके लिए भरत ने 'वनौकसी' शब्द का प्रयोग किया है। 'आभीर' और 'शाबरी' शब्द का प्रयोग चरवाहा (गाय चराने वाला), गड़ेरिया, और कोचवान आदि के लिये हुआ था। इस पर **जार्ज ग्रियर्सन** ने (जनरल एशियाटिक सोसाइटी– 1918 पृ० 491) लिखा है कि शबर और आभीर दोनों ट्राइव जातियाँ

थीं और बोलियों के लिये भी इन्हीं का उल्लेख किया गया है। सचर के विषय में जानकारी नहीं हो पाती। **मृच्छकटिक** की टीका में **पृथ्वीधर** ने शकार और शबर का नाम शयर और सचर के लिये किया है। फिर भी सचर शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शकार बोली का समाहार मागधी के अन्तर्गत कर लिया जाता है। यह बोली शबर और आभीर आदिम जातियों के साथ ही जुटी हुई थीं। प्रसिद्ध आभीर शब्द जो कि गाय चराने वालों के लिये प्रयुक्त होता था साहित्यिक प्राकृत में इसको स्थान प्राप्त हुआ। इनके साथ अन्य लोग जैसे गड़ेरिये, कोचवान, पीलेवान और काष्ठ कला आदि के लोग भी सम्मिलित कर लिये गेए थे। इस पर हम अनुमान कर सकते हैं कि **भरत** ने आभीर आदि शब्द का उल्लेख संभवतः अपभ्रंश बोली के लिए किया हो। **भरत** के समय में यह भाषा संभवतः निर्माण या विकास की स्थिति में रही हो और **दण्डी** के समय तक आते-आते या कुछ पहले ही यह प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी हो तथा अपनी साहित्यिक महत्ता स्थापित कर ली हो। **भरत** का समय ई० पू० 300 या 400 के लगभग सप्रमाण **डा० दास गुप्त**[36] ने प्रमाणित किया है। **भरत** से लेकर **दण्डी** के समय तक राजनीतिक उत्थान पतन के कारण, बोली भाषा के रूप में परिणत होकर, राजकीय सम्मान प्राप्त कर, संभ्रान्त लोगों की भाषा बनकर साहित्यिक महत्व एवं गरिमा को प्राप्त कर ले इसमें किसी भी प्रकार के आश्चर्य की कोई बात नहीं मानी जा सकती। इस बात का स्पष्टीकरण **भरत** के **नाट्यशास्त्र** में प्रयुक्त प्रान्त की विशिष्ट भाषा के प्रयोग से होता है—

गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः।
एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत्।।58।।

विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः।
नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत्।।59।।

सुराष्ट्रावन्ति देशेषु वेत्रवत्यन्तरेषु च।
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकार बहुलामिह।।60।।

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः।
उकार बहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत्।।61।।

चर्मण्वती नदी पारे ये चार्बुद समाश्रिताः।
तकार बहुलां नित्यं तेषु भाषां प्रयोजयेत्।।62।।

पूर्वोक्त उदाहरणों में जिस उकार बहुला रूप की चर्चा की गयी है वह वस्तुतः अपभ्रंश की विशेषता है। **भरत** ने किसी खास बोली का उल्लेख न करके हिमालय और सिन्धु के पार्श्ववर्ती स्थान मात्र का नाम लिया है। परवर्ती अपभ्रंश के लेखक एवं वैयाकरणों ने इसका उल्लेख किया है। **भरत** ने बोली के लिये जिस उकार ध्वनि का निर्देश किया है वह उसके समय बोली जाती थी। इसका स्थान सिन्ध, सौवीर और उत्तरी पंजाब था। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम वहीं पर आभीर (अहीर), जानवर चराने वाले गड़ेरिये आदि ने अपना निवास स्थान बनाया था। चारागाह के ख्याल से यानी भौगोलिक दृष्टि से यह स्थान उन लोगों के लिये बहुत उचित था।

32वें अध्याय में भरत ने जो वर्णन एवं चित्रण किया है उससे अपभ्रंश का संकेत मिलता है। अर्थात् ये रूप प्रारम्भिक अवस्था के द्योतक हैं।[37]

(1) **मोरुल्लउ नचन्तउ। महागमे संभत्तउ।**

(2) **मेहउ हेर्तुतु णेई जोण्हउ। णिच्च णिप्पहे एहु चंदहु।**

(3) **एसा बहूहि काणणउ।**
गंतु जु उस्सुइया कंतं संगइया।।

(4) **पिय वाइ वायर्तुं उसुवसंत कालउ।**
पिय कामुको पिय मदणं जणंतउ।।

(5) **वायदि वादो एह पवाह रूसिद इव।।**

इन छन्दों में 'उकार' प्रवृत्ति तो स्पष्ट है ही 'मेहउ, जोण्हउ आदि' शब्द संज्ञावाची हैं। एहु, एह जैसे शब्द रूप सर्वनाम के हैं। मोरुल्लउ में 'उल्ल' अपभ्रंश के स्वार्थिक प्रत्यय हैं। हंसवहूहि, पवाहि का 'हि' प्रत्यय भी संज्ञा का है। **डा० गुणे** का कहना है कि यद्यपि **भरत** के पाठ विशुद्ध परिष्कृत किये हुए प्रामाणिक नहीं हैं फिर भी पूर्वोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश के प्रारम्भिक बीज इनमें उपलब्ध होते हैं ये अपभ्रंश की निर्माणावस्था के परिचायक हैं। इसी प्रदेश की बोली को आभीरोक्ति कहते हैं।

इतने विस्तार से **भरत** के विषय में चर्चा करने का मेरा मतलब यही था कि **दण्डी** ने अपभ्रंश के विषय में जिस आभीर आदि का उल्लेख किया है वह वस्तुतः **भरत** की विभाषा से मिलता जुलता है। केवल आभीरों की ही यह भाषा नहीं थी। पूर्वोक्त बातों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **दण्डी** ने साहित्यिक दृष्टि से ही कुछ प्रमुख भाषाओं का वर्णन किया है भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं। उसकी साहित्यिक चर्चा और साहित्यिक विभाजन से कई बातें हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं। प्रथम तो यह कि अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक रूप हमारे सामने आता है। यह अब केवल संस्कृत नाटकों में निम्न पात्रों के लिये ही प्रयुक्त नहीं होती जैसा कि **भरत** ने किया है। इसका पूर्ण स्पष्टीकरण **दण्डी** ने नहीं किया है। केवल उसने अपभ्रंश में प्रयुक्त कुछ निश्चित छन्दों का वर्णन मात्र कर दिया है। आभीर आदि वाक्य अपभ्रंश की सामान्य प्रकृति का ही चित्रण करते हैं। इससे अपभ्रंश भाषा पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। इससे हम भाषा वैज्ञानिक निचोड़ नहीं निकाल पाते जैसा पहले विचार किया जा चुका है कि आभीर

शब्द के आगे 'आदि' पद के जुटने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपभ्रंश पर केवल आभीरों का ही आधिपत्य नहीं था। यह भी निश्चित है कि उन आभीरों के इस भारतवर्ष में आने पर उनके साथ यह अपभ्रंश भाषा नहीं आई थी। यह सत्य है कि जहाँ कहीं भी वे और दूसरे लोग उनके साथ गये, उन लोगों ने वहाँ की तत्कालीन प्रचलित क्षेत्रज प्राकृत बोली को अपनाया। इस कारण अपभ्रंश की प्रकृति में बहुत ही अधिक परिवर्तन हो गया। संभवतः इसीलिये **भरत** ने इसे विभ्रष्ट कहा जो कि अपभ्रंश या अपभ्रष्ट का पार्यायवाची शब्द प्रतीत होता है। **दण्डी** के समय आते-आते यह साहित्यिक अपभ्रंश पूर्ण समृद्धि पर पहुँच चुकी थी। इसमें लिखने वाले विद्वत्समुदाय का एक समूह ही हो गया था। इस भाषा में सभी प्रकार के विषयों पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। उस समय यह जनसाधारण से लेकर सुसंस्कृत लोगों तक की भाषा हो गयी। सामान्य जनता में आभीर, शबर और चाण्डाल आदि लोग भी आते थे। इस तरह **डा० गुणे** के शब्दों में हम बिना किसी कारण के कह सकते हैं कि आभीर आदि लोगों के भारत में फैलने पर इस भाषा में समय-समय पर या एक साथ ही परिवर्तन हो गया जिससे कि अपभ्रंश भाषा के रूपों में भी भिन्नता आ गयी। संभवतः इसी कारण प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है।[38]

पहले हम बता चुके हैं कि आधुनिक अनुसंधान ने **दंडी** का समय सम्वत 700 ई० के पहले रखा है; इस समय तक आभीर आदि जातियों ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। 300 से 600 ई० तक के बीच में आभीरों का भारत में राजनीतिक महत्व स्थापित हो चुका था। इन आभीरों ने अपनी राज सत्ता स्थापित कर ली थी। शनैःशनैः यह जाति प्रभुता सम्पन्न होती जा रही थी। ईस्वी सन् 181 में क्षत्रप **रूद्र सिंह** के समय में आभीर को सेनापति का पद सम्हालने का उल्लेख मिलता है।[39] सन् 300 ई० में **शिवदत्त** का पुत्र **ईश्वर सेन** जो नासिक का शासक था, वह आभीर ही था।

इलाहाबाद के स्तम्भ पर खुदे हुए **समुद्रगुप्त** के लेख (ईस्वी 360) से पता चलता है कि राजस्थान, मालवा और गुप्त साम्राज्य के दक्षिण पश्चिम तथा पश्चिम भाग में आभीर और मालव लोग शासन करते थे। क्रमशः यह जाति प्रबल होती गयी और इनका साम्राज्य दक्षिण तथा पूर्व की ओर भी बढ़ता गया। 8वीं शताब्दी में जब 'काठी' लोगों ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया तो उस समय वह देश आभीरों के अधिकार में था। मिर्जापुर में 'अहिरोरा' और झांसी में 'अहिरबार' प्रसिद्ध स्थान हैं। इस पर विद्वानों का विश्वास है कि ये दोनों जगह जरूर ही आभीरों के अधीन रहे होंगे। यों तो आभीरों का वर्णन **महाभारत** में भी आया है। कृष्ण की विधवा स्त्रियों को लेकर लौटते हुए अर्जुन के साथ इन लोगों की लड़ाई का भी वर्णन पाया जाता है। इन्हें हमारे यहाँ अनाथ कहकर पुकारा गया है। **मनुस्मृति** के अनुसार इनकी उत्पत्ति ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माता से हुई थी **ब्राह्मणात्···आभीरेऽम्बष्ठ कन्यायाम्** (अध्याय 10-15) इत्यादि। इस प्रकार हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि आभीरों का जब साम्राज्य स्थापित हो गया तो उन लोगों ने अपभ्रंश बोली को जो कि उन लोगों के राजनीतिक विकास के साथ-साथ भाषा का रूप धारण कर रहा था—राजकीय सम्मान प्रदान किया। यह पद पाकर यह भाषा जन सामान्य से लेकर समाज के उच्चतम वर्गों तक में आदर पाती रही। यह परिष्कृत रूचि वालों की भी भाषा हो गयी। साहित्य का निर्माण होने लगा। काव्य के विविध रूप रचे जाने लगे। साथ ही अन्य विषयों का भी निर्माण इस भाषा में होने लगा। यह सोचने विचारने तथा लिखने की भाषा हो गयी। इसने प्राकृत की क्षेत्रज बोली से (भरत ने जिसे विभाषा या विभ्रष्ट कहकर पुकारा है) विकसित होकर आभीरों के साथ राजनीतिक उत्थान पतन के कारण भाषा का रूप धारण कर साहित्यिक मर्यादा का पद प्राप्त किया। इसकी भी प्रतिष्ठा और सम्मान सुसंस्कृत लोगों के बीच में संस्कृत तथा प्राकृत की भांति होने लगी। हो सकता है इन्हीं सभी कारणों को अपने विचार में रखकर **दण्डी** ने इसे आभीर आदि की भाषा कही हो। क़िन्तु यह ध्यान देने की बात है कि **दण्डी** के वक्तव्य से ऐसा प्रतीत

होता है कि इस भाषा का शनैःशनैः दो रूप होता जाता रहा था? एक सुसंस्कृत परिष्कृत रुचि वालों का रूप और दूसरा जन-साधारण भाषा का रूप जिसमें कि ग्राम्य गीत आदि गाये जाते होंगे।

रुद्रट के अनुसार अपभ्रंश

रुद्रट ने अपनी **काव्य माला** में अपभ्रंश का वर्णन किया है। **डा० एस० एन० दासगुप्त** के अनुसार इसका समय ई० सन नौवीं शताब्दी है। यह **राजशेखर** से पूर्व हुए थे और **वामन** के पुत्र माने जाते हैं। अलंकारशास्त्रीय **काव्य माला** में गद्य और पद्य का भेद करने के अनन्तर उन्होंने छह भाषाओं का भेद किया है। उनका कहना है कि विभिन्न भाषाओं के आधार पर भाषा का भेद करना संभव हुआ है, वे हैं—संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाची, शौरसेनी और छठा अपभ्रंश। उस अपभ्रंश के बहुत से भेद होते हैं और देश विशेष के रूपों से वह जाना जाता है।[40] **दण्डी** के बाद **रुद्रट** की बात से हमें ज्ञात होता है कि अपभ्रंश के बहुत से भेद होते हैं जो कि विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्राकृत भाषा का तो पता चलता आ रहा है किन्तु प्राकृत की बोलियों का पता हमें नहीं है जिससे विभिन्न अपभ्रंशों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाता और अनुमानाश्रित कल्पना ही करनी पड़ती है। **रुद्रट** पर **नमिसाधु** ने टीका लिखी है जिस पर बाद में विचार करेंगे।

कुवलय माला कहा—देशी भाषा का अपभ्रंश के अन्तर्गत समाहार

कुवलय माला कहा के लेखक **उद्योतन सूरि** (वि० सं० 835) ने अपभ्रंश को आदर की दृष्टि से देखा है और अपभ्रंश काव्य की प्रशंसा भी की है।[41] **कुवलय माला** के कर्ता का यही अभिप्रेत था कि 4 भाषाओं में अपभ्रंश का भी स्थान था। जब अपभ्रंश का बहुत सा भेद माना जाने लगा तो उस समय लोगों ने देश भाषा और अपभ्रंश भाषा को एक ही समझकर वर्णन करना आरम्भ किया। प्रायः हम देखते हैं कि **रुद्रट** के बाद कुछ आचार्यों का यह विचार ही हो जाता है कि अपभ्रंश वस्तुतः देश विशेष

की भाषा है अर्थात इसके बहुत से भेद हैं, इसके बहुत से क्षेत्रीय रूप हैं। **विष्णुधर्मोत्तर**[42] के खण्ड 3 अध्याय 7 में कहा है कि 'देशों में इतनी पृथकता एवं विभिन्नता है कि उसे लक्षणों द्वारा नहीं बताया जा सकता। अतः लोक में जिसे हम अपभ्रष्ट (अपभ्रंश) कहते हैं वही—वस्तुतः उस विशिष्ट देश का अधिकारी रूप है। एक और दूसरी जगह **विष्णुधर्मोत्तरकार** (खण्ड 3, अ० 3) ने यहाँ तक कह दिया कि 'देश भाषा विशेष से अपभ्रंश के इतने भेद हैं कि उसका अन्त नहीं बताया जा सकता'।[43] **वाग्भट** ने अपने **वाग्भटालंकार** में एक जगह तो भाषा चतुष्टय[44] में अपभ्रंश को स्थान दिया है—'संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा ये 4 काव्यशास्त्र के शरीर हैं।' तो दूसरी जगह उसका कहना है कि 'जिन जिन देशों में यह शुद्ध रूप से बोली जाती है वही अपभ्रंश[45] है' अर्थात् जहाँ कहीं भी इस भाषा में मिलावट है वहीं दूसरी भाषा के रूपों का भी समवाय हो गया है उसे हम अपभ्रंश नहीं कहते। प्रतीत होता है कि इस समय देश विदेशी आक्रामकों से आक्रान्त हो रहा था, राजनीतिक उलट पलट हो रहा था। इससे भाषा में भी संक्रान्तिकालीन अव्यवस्था फैल सी रही थी। अपभ्रंश भाषा जो कि जन सामान्य की भाषा थी उसके प्रति परिष्कृत रुचि वालों का ध्यान आकृष्ट करने के लिये ही संभवतः-अलंकार शास्त्रियों ने ऐसी बातें कहीं हो।

रामचन्द्र और **गुणचन्द्र** ने **नाट्यदर्पण**[46] में कहा है कि कुरु से लेकर मगध आदि देशों की भाषा में भाषा का मूल रूप सुरक्षित है। उसी में अपने देश सम्बन्धी भाषा का गठन करना चाहिये। इस कारण इसे और देशी भाषा को अपभ्रंश के अन्तर्गत ही रखना चाहिये।

भाषात्रय के अन्तर्गत अपभ्रंश का स्थान

कुछ आचार्यों और कवियों ने अपभ्रंश को भाषात्रय (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश) के अन्तर्गत स्थान दिया है। अपभ्रंश के गद्य और पद्य दोनों में काव्य लिखे जाते थे। **भामह, स्वयंभू, हेमचन्द्र** आदि ने अपभ्रंश को भाषात्रय के अन्तर्गत स्थान दिया है। **भामह,**

धारसेन और **विष्णुधर्मोत्तर** के बारे में पहले लिखा जा चुका है। **हेमचन्द्र** ने अपने **काव्यानुशासन**[47] (अ० 8, 330-7) में काव्य विषयक सर्ग, श्वास, सन्धि, अवस्कन्ध आदि महाकाव्य के रूपों पर विचार करते हुए संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का उल्लेख करके ग्राम्य भाषा का भी उल्लेख किया है। अपभ्रंश भाषा के काव्य को निबद्ध करने वाले सन्धि आदि को बताकर ग्राम्य अपभ्रंश भाषा के काव्य का भी रूप बताया है। इससे पूर्ण स्पष्ट हो जाता है कि **हेमचन्द्र** के समय में अपभ्रंश भाषा का दो रूप स्पष्ट सा हो गया था—1. एक परिष्कृत भाषा का 2. और दूसरा ग्राम्य अपभ्रंश भाषा का। **हेमचन्द्र** के **काव्यानुशासन** के अनुसार दोनों में काव्य लिखे जाते थे। क्योंकि उसने दोनों प्रकार की भाषा के काव्य रूपों का वर्णन किया है।

स्कन्द स्वामी[48] का समय विक्रम सम्वत् 650 माना जा जाता है। उसने **भामह** तथा **कुमारिल** दोनों का उल्लेख किया है। **कुमारिल** ने **तन्त्रवार्तिक** 1/3/12 में लिखा है —**झवर्णकारांपत्ति मात्रमेव प्राकृतापभ्रंशेषुदृष्टम्**। बौद्ध विद्वान **धर्मकीर्ति** ने भी अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है—**प्राकृतापभ्रंश द्रमिडान्ध भाषावत्** (**वाद न्याय,** पृ० 107)। **कुमारिल** ने उसी **तन्त्रवार्तिक** में एक जगह विस्तार से शब्दशास्त्र पर विचार करते हुए अपभ्रंश और अपभ्रष्ट का उल्लेख किया है[49]।

षट्भाषा के अन्तर्गत अपभ्रंश का स्थान

वररुचि को छोड़कर अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने षट्भाषा के अन्तर्गत अपभ्रंश को स्थान दिया है। और दूसरे **रुद्रट, भोजराज, जिनदत्त** और **अमर चन्द्र** आदि ने भी षट्भाषा का निर्देश किया है और उसी में अपभ्रंश का भी वर्णन किया है। **चण्ड**[50] ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी और शौरसेनी का निर्देश अपने व्याकरण में किया है। **हेमचन्द्र**[51] ने भी भाषा के छह भेद करके उसी के अन्तर्गत अपभ्रंश को रखा है। **चण्ड** की तरह **हेमचन्द्र** का भी भेद है। **त्रिविक्रम** का भी विभाजन इसी तरह का है।

लक्ष्मीधर[52] ने छह तथा **शेषकृष्ण**[53] ने **प्राकृत चन्द्रिका** में—5 भाषाओं का वर्णन किया है। उसका कहना है कि एक छठा अपभ्रंश भी है किन्तु इसकी उपलब्धि नहीं होती। देश, काल के अनुसार इसके बहुत से भेद किये गये हैं। उसके अनुसार नाटकों में इसके भेद नहीं पाये जाते। साथ ही साथ वह यह भी कहता है कि इसका बहुत उपयोग नहीं है। उसका ऐसा लिखने का कारण यह हो सकता है कि वह प्राकृत के वर्णन में प्रसङ्ग के भय से अपभ्रंश में नहीं पड़ना चाहता। वह उसकी पृथक् सत्ता ही स्वीकार करता है।

इसके अतिरिक्त **भोजराज**[54] ने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश की सत्ता मानी है। उसका कहना है कि संस्कृत कहने से कुछ दूसरा अर्थ होता है—प्राकृत से कुछ भिन्न, इसी प्रकार कोई अपभ्रंश से एक भिन्न भाषायिक सत्ता मानता है। कुछ दूसरे लोग इन्हीं भाषाओं के साथ पैशाची, शौरसेनी और मागधी को भी उपनिबद्ध करते हैं। उसका यह भी कहना है कि इसमें से कोई दो, तीन भाषाओं से अथवा कोई सभी भाषाओं से अपना सम्बन्ध रखने में समर्थ हो सकते हैं। **जिनदत्त सूरि**[55] और **अमर चन्द्र**[56] ने भी षट्भाषा के अन्तर्गत अपभ्रंश का वर्णन किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अब तक जितने भी वर्णन किये गये हैं उससे यही विदित होता है कि अपभ्रंश भी एक भाषा है, उसका भी साहित्य है तथा सत्ता है। कहीं अपभ्रंश को भाषात्रय में स्थान दिया गया तो कहीं उसे षट्भाषा के अन्तर्गत रखा गया, तो कुछ लोगों ने देश भाषा में ही उसे समाहित कर देना चाहा, कुछ लोगों ने संक्षेप रूप में कह दिया कि अपभ्रंश के बहुत से भेद होते हैं। **दण्डी** ने तो बहुत पहले **भरत** की विभाषा बोली को तथा साहित्य में प्रयुक्त होने वाली आभीर आदि भाषा को अपभ्रंश कहा। पूर्वोक्त कथनों से यही स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश भाषा की भी सत्ता अन्य भाषाओं की तरह है। उसके भी विविध रूप हैं तथा एक सुसमृद्ध साहित्य है। किन्तु इस भाषा का विकास

कहाँ-कहाँ हुआ, यह भाषा किन प्रदेशों में बोली जाती थी इस पर भी विचार किया गया है। जन साधारण की भाषा जब साहित्यिक रूप धारण कर लेती है, तब उसके दो रूप हो जाते हैं–

1. भाषा परिष्कृत रुचि वालों की हो जाती है जिन्हें कि सुसंस्कृत और सुसभ्य लोग बोलने का गर्व अनुभव करते हैं।

2. जन साधारण की भाषा यानी बोली ही रहती है जिनमें ग्राम गीतादि होते हैं इत्यादि बातों का निदर्शन परवर्ती लेखकों से होता है। **राजशेखर, नमिसाधु** और **मार्कण्डेय** बहुत कुछ माने में इन बातों का स्पष्टीकरण करते हैं।

राजशेखर द्वारा वर्णित अपभ्रंश

राजशेखर ने जो कि 10वीं शताब्दी में हुआ था अपनी 'काव्यमीमांसा' में अपभ्रंश के लिये विविध उद्धरण दिया है। उसने भी वस्तुतः साहित्यिक भाषा की दृष्टि से ही इस पर विचार किया है। उसने काव्य रूपी पुरूष के शरीर का चित्रण किया है। उसका कहना है–'संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है और अपभ्रंश जंघा है, पैशाची को पैर और इन सभी के मिश्रण या मिश्र को ऊरू कहा है[57]।' जब वह राजदरबार में बैठने वाले राजकवियों का वर्णन करता है तब वह कहता है कि किस कवि को किस दिशा में (भाग में) बैठना चाहिये–"संस्कृत के कवि उत्तर की (कश्मीर पांचाल) ओर बैठें, प्राकृत कवि पूर्व (मागधी की भूमि मगध) दिशा में बैठें और अपभ्रंश कवि पश्चिम (दक्षिणी पंजाब और मरु देश) की ओर बैठें और भूत भाषा (उज्जैन, मालवा आदि) कवि दक्षिण दिशा में बैठें[58]।" **राजशेखर** ने साहित्यिक कवियों का चौतरफा विभाजन किया है जिससे कि भौगोलिक ज्ञान भी होता है। **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी**[59] का कहना है कि उसने अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय (कन्नौज से उसे बड़ा प्रेम था) कन्नौज और पांचाल की उसने जगह-जगह बड़ाई की है। कन्नौज को ही उसने भूगोल का केन्द्र माना है, कहा है कि दूरी की नाप कन्नौज नरेश के सिंहासन

से ही की जानी चाहिये, पुराने आचार्यों के अनुसार अन्तर्वेदी[60] से नहीं। उसका कहना है कि राजा और कवि समाज के मध्य में बैठें। आगे पुनः **गुलेरी** जी कहते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है मानो राजा का कवि-समाज भौगोलिक भाषा निवेश का मानचित्र हुआ। यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अन्तर्वेद, पांचाल और शूरसेन, इधर मरु, अवन्ती, पारियात्र और दशपुर शौरसेनी और भूत भाषा के स्थान थे। उसने कहा है कि प्रमुख भाषायें प्रमुख देशों में अच्छी तरह उच्चरित होती हैं। गौड़ादि[61] लोग (बंगाल और बिहार) संस्कृत में अच्छी अभिरुचि रखते हैं (संस्कृत में स्थित हैं) लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित हैं। किन्तु सभी राजस्थान के लोग (मरुभूमि), टक्क (टांक दक्षिण पश्चमी पंजाब) और भादानक[62] के निवासी गण अपभ्रंश भाषा में ही अपना व्यवहार करते हैं। आवन्ती (उज्जैन), पारियात्र (बेतवा और चंबल का भाग) और दशपुर (मंदसोर) के निवासी भूत भाषा (पैशाची) का आदर करते हैं किन्तु जो कवि मध्यदेश (कन्नौज, अन्तर्वेद, पंचाल आदि) में रहते हैं वे सभी भाषाओं में प्रवीण हैं।

अतः **राजशेखर** के दिनों में संस्कृत साहित्य का प्रचार बंगाल और बिहार के भागों में था। प्राकृत साहित्य लाट देश में यानी कठियावाड़ को छोड़कर गुजरात में और अपभ्रंश साहित्य का प्रयोग समस्त मरुदेश अर्थात् मारवाड़, टक्क (पंजाब का दक्षिणी और पश्चिमी हिस्सा) तथा भादानक देश (जिसका कि पूर्ण पता नहीं चलता) में होता था। पैशाची साहित्य का प्रयोग आवन्ती (मध्य मालवा में), पारियात्रा पश्चिमी बिन्ध्य प्रदेश में और दशपुर अर्थात् पिछले मालवा में होता था। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि **राजशेखर** ने यह नहीं बताया कि ये भाषायें इन क्षेत्रों में बोली भी जाती थी कि नहीं। उसने केवल यही कहा है कि इस भाग के साहित्यिक लोग अपने विचारों को इन विभिन्न भाषाओं में प्रकट करना अधिक पसन्द करते हैं। एक और दूसरा उदाहरण देकर **राजशेखर** ने अपभ्रंश के पढ़ने के विषय में बताया है कि "सुराष्ट्र (काठियावाड़), त्रवण (उस भाग का नाम पता नहीं चलता)

और दूसरे लोग सुष्ठु (अच्छी) वाणी में अर्थात् संस्कृत मुहावरों का प्रयोग करते हैं। किन्तु वे लोग हमेशा संस्कृत के वचनों में भी अपभ्रंश की मिलावट कर दिया करते हैं[63]।"

अगर हम मरु, टक्क और भादानक के साहित्यिक लोगों के साथ सुराष्ट्र और त्रवण आदि के भागों को जोड़ देते हैं तो ये सब भाग एक साथ मिलकर अपभ्रंश साहित्य का एक विस्तृत क्षेत्र हो जाता है। यह एक विशाल भूभाग का समृद्ध साहित्य प्रतीत होता है। इस तरह प्राकृत के ज्ञान के विषय में और अपभ्रंश साहित्य के विषय में जो आधुनिक प्रान्तों का निर्माण हो रहा है उससे इस पर और प्रकाश पड़ता जा रहा है।

प्रतीत होता है कि **राजशेखर** के समय में अपभ्रंश की लोकप्रियता चरम कोटि पर पहुँच गयी थी। **सुराष्ट्र** और **मारवाड़** में मुख्यतया इस साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का प्रचार और प्रसार अधिक बढ़ रहा था। यह अब तक जीवित भाषा थी और इसकी रचना विनष्ट नहीं हुई थी। यह अब तक जन सामान्य की बोली या बहुत सी बोलियों में परिणत चुकी थी।

(1) **राजशेखर**[64] ने एक अन्य जगह सुझाव दिया है कि सभी भृत्य कार्य करने वाले पुरूषों को अपभ्रंश कविता से अच्छी तरह परिचित रहना चाहिये। उसने लिखा है कि स्त्रियों को मागध भाषा की जानकारी होनी चाहिये। राजा के अन्तःपुर में रहने वाले को संस्कृत और प्राकृत की जानकारी रखनी चाहिये और उनके दोस्तों को सभी भाषाओं में निपुण होना चाहिये।

(2) इसके अतिरिक्त उसने और सुझाव दिया है कि संस्कृत कवियों को वैदिक मन्त्रों के साथ बैठना चाहिये। तर्कशास्त्र, पुराण और स्मृति को जानने वाले, प्राणि शास्त्र के ज्ञाता, खगोल शास्त्रविद् इसी प्रकार और लोग भी तथा प्राकृत कवि पूर्व में बैठें। उनके बाद नृत्य वाले संगीतज्ञ, गायक, वादक आदि बैठें,[65] पश्चिम में अपभ्रंश के कवि बैठें। उसके बगल में दीवाल रंगने वाला, आभूषण बनाने वाला, स्वर्णकार आदि बैठें, दक्षिण में पिशाच कवि तथा उसके बगल में और लोगों के बैठने का वर्णन है।

इस तरह के विधान करने से पता चलता है कि **राजशेखर** ने अपभ्रंश बोलने वाले स्त्री और पुरुष दोनों को एक साथ उपस्थित रहने के लिये विचार प्रस्तुत किया है। उसने कहा है कि पहली पंक्ति में वे लोग बैठें जो जनता की भाषा बोलने वाले हैं, दूसरी पंक्ति में वे लोग बैठें जो कि सामान्य जनता और राजा के बीच में हों। वे किसानों और कलाकारों की तकलीफों और इच्छाओं के विश्लेषण करने वाले हों तथा उन लोगों की बातें एवं राजाओं की बातों को उनके तक पहुंचाने वाले हों। इसलिये ऐसे लोगों को सामान्य जनता की भाषा जाननी चाहिये। इन पंक्तियों से पता चलता है कि **राजशेखर** के बहुत पूर्व अपभ्रंश भाषा की साहित्यिक महत्ता थी, जनसाधारण एवं परिनिष्ठित लोगों का अपभ्रंश भाषा में साम्य था। साहित्यिक भाषा साधारण की भाषा से दूर नहीं हुई थी। दोनों जीवितावस्था में, घनिष्ठता में आबद्ध थी। अपभ्रंश भाषा गंगा नदी की भाँति स्वच्छ निर्मल होकर प्रवाहित हो रही थी। इसमें तालाब की तरह रुकावट नहीं आई थी अर्थात् पुराने प्राकृत साहित्य की तरह यह अपभ्रंश भाषा मुर्दा न होकर जीवितावस्था में थी।

संस्कृत वस्तुतः कुछ पण्डितों की भाषा थी। निस्सन्देह प्राकृत बहुत विस्तृत पैमाने में समझी जाती थी और संभवतः रंगमंच से सम्बन्धित कुशल अभिनेता और सुसंस्कृत लोग इसे समझते और बोलते थे। किन्तु अपभ्रंश कवियों के अनुयायी वे लोग थे जो इस भाषा को बोलने वाले एवं समझने वाले थे। इनका वर्ग बहुत विशाल था। उसमें समाज के पिछड़े एवं निम्न स्तर के लोग आते थे। अपढ़ में साधारण जनता आती थी। उन्हीं लोगों के प्रतिनिधि स्वरूप कलकार, लकड़ी पर पिच्चीकारी करने वाले, दस्तकार, बढ़ई लोहार, सोनार, मिस्त्री-घर बनाने वाले आदि आते थे। **राजशेखर** के इस प्रकार के सुझाव एवं चित्रण करने का यही मतलब है कि उस वर्ग के लोग अभी भी किसी न किसी प्रकार की अपभ्रंश भाषा बोलते थे। उत्तर भारत की कथ्य भाषा के पुराने साहित्य से हमें भाषा विषयक तत्कालीन तथ्य का ज्ञान होता है। 9वीं

शताब्दी के अन्त में—जो कि **राजशेखर** के काल के कार्यों का परिचायक है—अपभ्रंश की विभिन्न बोलियों की विशेषताओं का दिग्दर्शन मिलता है।

इसके बाद तीन प्रमुख व्यक्ति हमारे सामने आते हैं जिन्होंने अपभ्रंश का स्पष्ट चित्रण किया है और उसके कई उपभेद भी किये हैं। उनमें हैं प्रसिद्ध टीकाकार **नमिसाधु** और प्राकृत वैयाकरण **लक्ष्मीधर** एवं **मार्कण्डेय। राम शर्मा तर्कवागीश** ने मार्कण्डेय की बातों का ही पिष्टपेषण किया है और **लक्ष्मीधर** ने भी कोई विशेष बात नहीं की है। **नमिसाधु** ने **काव्यालंकार** के 11–12 अध्याय करते हुए अपभ्रंश पर अपनी सम्मति व्यक्त की है—"प्राकृत ही अपभ्रंश है। इसका चित्रण दूसरे लोगों ने तीन नामों का उल्लेख करके किया है—1. उपनागर 2. आभीर 3. और ग्राम्या। **नमिसाधु** का कहना है कि इन्हीं उपभेदों को दूर करने के लिये **रुद्रट** ने अपने **काव्यालंकार** में कहा है कि अपभ्रंश के बहुत से भेद हैं। उसने यह भी कहा है कि यह भेद देश विशेष से होता है। उसका यह भी कहना है कि उसके लक्षणों को लोक से ही अच्छी तरह समझना चाहिये[66]।"

नमिसाधु के प्राकृतमेवापभ्रंशः पर विचार

सर्वप्रथम हमें **नमिसाधु** के **प्राकृतमेवापभ्रंशः** उक्ति पर विचार करना चाहिये। **नमिसाधु** ने **रुद्रट** की जिस कारिका पर अपना विचार प्रकट किया है वह है :

प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः।।

इस पर टीका करते हुए **नमिसाधु** ने सर्वप्रथम प्राकृत को स्थान दिया। प्राकृत की व्याख्या[67] उसने समस्त प्राकृत वैयाकरणों की व्याख्या से भिन्न की है। उसने प्राणि मात्र के सहज़ स्वाभाविक वचन व्यापार को प्रकृति माना है। यह प्रकृति व्याकरण आदि व्यापार के सहज संस्कार से परे होती है। उस प्रकृति से बनने वाला

या निर्मित होने वाला जो रूप है वही प्राकृत है। **पाणिनि** आदि व्याकरण से निर्मित शब्द लक्षणों से संस्कार किये हुए को संस्कृत कहते हैं। पूर्वोक्त कथन से निष्कर्ष निकला कि उसने समस्त भाषाओं की मूल जननी प्रकृति थानी प्राकृत माना है और इसी से संस्कृत आदि भाषाओं की उत्पत्ति मानी है। प्राकृत को ही मूल मानकर उसने कुछ विशिष्ट लक्षणों के कारण मागधी[68] आदि की उत्पत्ति मानी है। इसी प्रकार **रुद्रट** द्वारा कही गयी पांचों भाषाओं का निर्देश करके, अपभ्रंश को भी उसी परिवेश में रखकर उसने प्राकृत को ही अपभ्रंश कह डाला। वस्तुतः प्राकृत ही अपभ्रंश नहीं है क्योंकि उसी ने आगे चलकर अपभ्रंश के तीन उपभेद किये हैं। उन उपभेदों के लक्षण के लिये विशेष रूप से लोक को ही मुख्य स्रोत माना है। **प्राकृतमेवापभ्रंशः** के कथन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जैसे अन्य प्राकृत का मूल स्रोत प्रकृति वाला प्राकृत है जिसे कि हम परिष्कृत रूप में महाराष्ट्री प्राकृत कह सकते हैं उसी प्रकार अपभ्रंश की भी प्रकृति प्राकृत ही है।

नमिसाधु की इस उक्ति में किसी भी प्रकार का अन्यथा दोष आने का भय नहीं प्रतीत होता। एक समय में यह प्राकृत की बोली (विभाषा) थी। शनैः-शनैः देश और काल की परिस्थिति के कारण इसने साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया। इस भाषा का जन्म कब हुआ इसका कोई निश्चित दिन नहीं बताया जा सकता। वस्तुतः किसी भी भाषा के विषय में निश्चित लकीर नहीं खींची जा सकती। इसी बात को थोड़ा सा परिष्कृत करके **पं० राहुल सांकृत्यायन**[69] ने स्पष्ट किया है कि 'अपभ्रंश के जन्म दिन का पता लगाना संभव नहीं है।' संभवतः यह परिवर्तन कुछ समय तक बहुत धीरे-धीरे होता रहा, फिर एकाएक गुणात्मक परिवर्तन होकर, श्लिष्ट की जगह अश्लिष्ट भाषा आन उपस्थित हुई। वह वही (प्राकृत) न होने पर भी कितनी ही बातों में वही (प्राकृत) थी। अपभ्रंश का सारा शब्दकोश और उच्चारण-क्रम प्राकृत का ही था।

निष्कर्ष यह कि **नमिसाधु** के कथन की कई मुख्य विशेषताएँ हैं:—

1. वह अपभ्रंश को प्राकृत से ही विकसित मानता था।

2. उसके सामने जो विविध प्रकार के नाम थे उनमें से उसने तीन का ही उल्लेख किया है—(i) उपनागर, (ii) आभीर और (iii) ग्राम्या।

3. अपभ्रंश भाषा के विषय में बताते हुए उसने कहा है कि इन तीन से भी अधिक भेद हो सकता हैं जो कि सबसे बड़ी भारी विशेषता है।

4 लोगों को वह संकेत देता है कि अपभ्रंश सीखने का लोक ही सबसे बड़ा साधन है। इन सभी से बढ़कर अन्तिम विशेषता यह है कि **नमिसाधु** के समय में अपभ्रंश की बहुत सी बोलियाँ सामान्य जनता में प्रचलित थीं। इनका काल विक्रम सम्वत् 1125-1069 ई० है[70]।

दूसरी बात यह कि **नमिसाधु** ने अपभ्रंश को उतना ही व्यापक बताया है जितना कि मागधी को। पहले हम देख चुके हैं कि **भरत** के समय में ही विभाषा के अन्तर्गत आभीरों की जड़ जमी हुई थी। आभीरी बोली उस समय भी सिन्धु, मुल्तान और उत्तर पंजाब में बोली जाती थी। बाद में उसने भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान पाकर साहित्य का रूप धारण कर लिया और अपभ्रंश भाषा आभीर आदि के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। **दण्डी** पर विचार करते समय इस पर विचार हो चुका है। यही बात उसके वाक्य के कहने का मतलब है—'आभीरी भाषा का जो वर्णन किया गया है वह अपभ्रंश के अन्तर्गत आती है। यह कभी-कभी मागधी में भी पायी जाती है।' इसका केवल यही मतलब है कि प्रचलित कथ्य (Spoken) मागधी में अपभ्रंश बोली प्रचलित थी[71]। ग्राम्या से तात्पर्य होता है साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न ग्रामीण बोली।

उपरोक्त बातों से यही प्रतीत होता है कि अपभ्रंश की सत्ता 11वीं शताब्दी तक विद्यमान थी।

लक्ष्मीधर और मार्कण्डेय द्वारा वर्णित बोलियाँ

लक्ष्मीधर के मार्ग निर्देशक **त्रिविक्रम, हेमचन्द्र** और **भामह** हैं। उन्हीं लोगों के आधार पर या उन्हीं लोगों का अनुकरण कर उन्होंने प्राकृत व्याकरण की रचना की है, और उन्हीं लोगों को आधार मानकर प्राकृत भाषा की परिभाषा भी दी है, अपभ्रंश की व्याख्या **दण्डी** आदि की तरह की है। इन्होंने कोई नयी बात नहीं कही है। इतना इन्होंने अवश्य कहा है कि अपभ्रंश का प्रयोग चण्डाल और यवन आदि के लिये भी प्रयुक्त होता है। नाटक आदि में अपभ्रंश का विन्यास-क्रम अनुचितसा प्रतीत होता है[72]। आगे चलकर उन्होंने इन्हीं चण्डाल आदि के विषय में बताया है कि ये मागधी आदि में भी प्रयुक्त होते हैं[73]। इससे प्रतीत होता है कि **लक्ष्मीधर** ने पूर्वी अपभ्रंश के विषय में भी लिखा है। किन्तु उसने यवनादि का जो प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि उसने भारत में आयी हुई परवर्ती विदेशी जातियों के लिये प्रयुक्त किया है। उन जातियों में से कुछ ने भारतीय संस्कृति में अपने को घुला-मिला दिया। उन लोगों ने यहाँ की भाषा और रहन-सहन अपनाने की कोशिश की। यहाँ की अपभ्रंश भाषा बोलते समय जरूर कुछ-न-कुछ उनकी भी बोलियाँ मिल जाती होंगी। चाण्डाल आदि का वर्णन तो **भरत** ने भी विभाषा के लिये प्रयुक्त किया है। **लक्ष्मीधर** ने चाण्डाल आदि की बोली को खासकर मागधी आदि की ही बताया है। ऐसी बात इनके पूर्ववर्ती लेखकों ने भी कही है। किन्तु प्राच्या अपभ्रंश के विषय में **हेमचन्द्र** मौन हैं।

मार्कण्डेय ने अपने **'प्राकृत प्रकाश'** में **लक्ष्मीधर** द्वारा वर्णित बहुत-सी बोलियों का वर्णन किया है। इसके अनुसार प्राकृत के 5 भाग हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी। मागधी के अन्तर्गत अर्धमागधी को गिन लिया है और आवन्ती के अन्तर्गत वाहलीकी को। **मार्कण्डेय** ही ऐसा लेखक है जिसने अपभ्रंश की

विविध शाखाओं का वर्णन किया है। 'प्राकृत चन्द्रिका' के आधार पर अपभ्रंश के 27 भेद किये हैं। किन्तु मुख्य रूप से अपभ्रंश को उन्होंने तीन भागों में विभक्त किया है—1. नागर, 2. उपनागर, 3. ब्राचड़[74]। **नमिसाधु** के ग्राम्या विभाजन की जगह इसने ब्राचड़ नाम का उल्लेख किया है। ब्राचड़ के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि यह सिन्धु देश की अपभ्रंश है[75]। उपनागर का अभिप्राय नागर[76] और ब्राचड़ के संयोग से बनी हुई अपभ्रंश है और नागर अपभ्रंश मूल अपभ्रंश है[77]। **नमिसाधु** ने ब्राचड़ का निराकरण कर ग्राम्या का उल्लेख किया था। उसका कहना था कि टक्की उसी अपभ्रंश की शाखा थी[78]। इसी कारण **मार्कण्डेय** के अभिप्राय को **हरिश्चन्द्र** वैयाकरण ने स्वीकार नहीं किया है। पहले हम बता चुके हैं कि **राजशेखर** ने टक्की प्रदेश में अपभ्रंश बोले जाने का वर्णन किया है। **मार्कण्डेय** ने जिन 27 अपभ्रंशों का उल्लेख किया है वे हैं—ब्राचड़, लाट, विदर्भ, उपनागर, नागर, बार्बर, आवन्ती, पञ्चाल, टक्क, मालवा, केकय, गौड़, उड्र, वैत्र, पाश्चात्यदेश, पाण्डय, कुन्तल, सिंहल, कलिङ्ग, प्राच्य, कर्णाटक, काञ्ची, द्राविड, गुर्जर, आभीर, मध्यदेश, और वैताल और आदि के भेद हैं[79]। इस पर **श्री चिमन लाल मोदी**[80] का कहना है कि अपभ्रंश के बहुत से भेद करने से अच्छा है अपभ्रंश की अनेकता का दिग्दर्शन मात्र कर देना। इससे हम उसे सीमा के अन्तर्गत बाँध देते हैं। वस्तुतः अपभ्रंश की बहुत-सी बोलियाँ रही होंगी। उन्हीं में से कुछ प्रमुख बोलियों का उल्लेख **मार्कण्डेय** ने किया है इससे अनेकता या विविध नामों के उल्लेख करने में बहुत अन्तर नहीं पड़ता। विविध नामों के उल्लेख करने से किसी भी भाषा की सीमा का ज्ञान होता है। यह तो भाषा के ज्ञान का बहुत ही स्पष्ट रूप है किन्तु **मार्कण्डेय** को इन विभागों से सन्तोष स्वतः नहीं था। उसने स्वतः कहा है कि अपभ्रंश के इतने सूक्ष्म भेद हैं कि उन्हें इन प्रधान विभागों से भिन्न नहीं माना जा सकता। अन्यत्र एक जगह और उसी ने कहा है कि सभी अपभ्रंशों का अन्तर्भाव इसी में हो जाता है।[81] **मार्कण्डेय** का अनुसरण कर **राम शर्मा तर्कवागीश** ने भी उन्हीं

शास्त्रीय विभागों की चर्चा की है और आभीरादिकों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। **मार्कण्डेय** ने अपभ्रंश के अन्तर्गत जिन बोलियों का उल्लेख किया है उनके अन्तर्गत कुछ पिशाच बोलियाँ भी आ जाती हैं। **लक्ष्मीधर** आदि[82] ने पाण्डय, केकय और बाहलीक आदि को पैशाची के अन्तर्गत गिना है। सम्भवतः बाद में चलकर पैशाची बोलियाँ भी अपभ्रंश के अन्तर्गत समाहित हो गयीं थीं।

अपभ्रंश का काल

मध्य भारतीय आर्यभाषा के विकास के तीन सोपान माने गये हैं—

(1) पूर्व मध्य भारतीय आर्यभाषा का रूप जो कि **अशोक** और दूसरे शिलालेखों में तथा पालि में पाये जाते हैं।

(2) द्वितीय म० भा० आ० या प्राकृत जिसका प्रतिनिधित्व महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, अर्द्धमागधी और मागधी करती है।

(3) म० भा० आ० का प्रतिनिधित्व अपभ्रंश करती है और इसका परवर्ती रूप लौकिक या **अवहट्ठ** (अपभ्रष्ट) है। न० भा० आ० भाषाओं का विकास इसी अपभ्रंश या **अवहट्ठ** से हुआ है। न० भा० आ० की कथ्य भाषाएँ बंगला, असमिया, उड़िया, मैथिली, और हिन्दी के अन्तर्गत आनेवाली भोजपुरी, मगही, अवधी, ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली आदि, तथा नेपाली, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती और मराठी आदि हैं।

संस्कृत और प्राकृत के समान ही अपभ्रंश भी जनभाषा तथा साहित्यिक भाषा थी। इसके भी विभिन्न क्षेत्रीय भेद अवश्यमेव रहे होंगे। फिर भी अपभ्रंश एक ऐसी परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा थी जिसका विकास पश्चिमोत्तर और पश्चिम दक्षिण राजस्थान, गुजरात, सिन्ध और पंजाब से लेकर बंगाल तक हुई थी। अगर पश्चिम में जैनियों ने धार्मिक रूप देकर साहित्य सृष्टि की तो पूरब में बौद्धों ने इस भाषा के माध्यम से सहज़ सिद्ध का मार्ग दिखाया।

दोनों छोरों के मध्य भाग के प्रान्तों ने कहीं प्रेम की गंगा बहाई तो कहीं सुललित शैली में राजा का चरित गान कर उसके शौर्य पराक्रम की महिमा गाई। अपभ्रंश ने जन सामान्य के मुखार विन्द से लेकर कुशल शिल्पी काव्य कलाधरों के हाथ से तराशी जाकर वही वैभव प्राप्त किया जो किसी समय संस्कृत एवं प्राकृत ने प्राप्त किया था।

अपभ्रंश के काल निर्धारण में विभिन्न मत हैं। ईसा के तृतीय शताब्दी से ही अपभ्रंश के बीज मिलने लग जाते हैं। यह अवश्य है कि अपभ्रंश उस समय शैशवा अवस्था में थी। **भरत** ने जिन उकार आदि रूपों की ओर इशारा किया है, वह वस्तुतः अपभ्रंश का ही संकेत करता है। किन्तु इस समय अपभ्रंश अपने निर्माण का मार्ग ढूँढ़ रही थी। इस काल में प्राकृत का प्रताप उद्दीप्त रूप में था। प्राकृत पट्टरानी के रूप में चतुर्दिक् छायी हुई थी। कभी-कभी उसकी भिड़न्त संस्कृत से हो जाया करती थी। राज्यों के उत्थान पतन के साथ संस्कृत के भाग्य का निपटारा हुआ करता था। **अशोक** के राज्यकाल में दबकर वह कुछ विशिष्ट वर्गों की ही भाषा बनी रही। पालि और प्राकृत राजमहलों में पट्टरानी तो बनी ही जनता की भी श्री-वृद्धि हुई। वहीं मौर्यकाल की समाप्ति के अनन्तर **पुष्यमित्र** के राज्यत्व काल में संस्कृत की श्री वृद्धि हुई। पुनः काल के पटाक्षेप के साथ-साथ **समुद्र गुप्त** और-**चन्द्र गुप्त विक्रमादित्य** ने इसकी आभा को नभो मण्डल में अत्यधिक बिखेरा। इसकी अत्यधिक कान्ति बढ़ाई। फिर भी जनता से प्राकृत का नाता नहीं टूटा। वह बढ़ती चली और काफी बढ़कर फलित पुष्पित होकर संस्कृत की भाँति परिष्कृत लोगों की भाषा बन बैठी। प्राकृत साहित्य की छत्रछाया में अपभ्रंश अपना विकास करती रही। समाज के पिछड़े एवं निम्न वर्गों की भाषा ने शनैः-शनैः विकास पाना आरम्भ किया। राजनीतिक और सांस्कृतिक झंझावातों ने इसे प्रकाश रूप में लाकर खड़ कर दिया। इसका भी महत्व बढ़ चला और इसमें भी भावुकों ने अपनी भावाभिव्यक्ति करनी आरम्भ की।

फलतः इसका भी साहित्य निर्मित हो चला। इसमें बहुतेरे साहित्य रचे जाने लगे। लगभग ईसा के 500 शती तक इसमें साहित्य रंचा जा चुका था। इस समय तक इसे साहित्यिक मान्यता मिल चुकी थी और 1000 ई० तक निरन्तर साहित्य लिखा जाता रहा यद्यपि अपभ्रंश में बाद तक साहित्य लिखा जाता रहा। यह अपभ्रंश का परवर्ती काल है जिसे अवहट्ट कहते हैं। और अवहट्ट के कवियों ने अपनी भाषा को जनता की भाषा कहा है। किन्तु इतना तो निश्चित है कि ई० 1000 के बाद न० भा० आ० भाषा ने अपना विकास करना आरम्भ कर दिया था। प्रान्तीय अपभ्रंशों से न० भा० आ० भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार इस अपभ्रंश के कई क्षेत्रीय भेद हुए। इन्हें हम महाराष्ट्री अपभ्रंश, मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश और पैशाची अपभ्रंश आदि कहते हैं। जैसे प्राकृत के क्षेत्रीय भेद–शौरसेनी, मागधी प्राकृत आदि होते हुए भी परिनिष्ठित प्राकृत एक ही थी वैसे ही अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद होते हुए भी परिनिष्ठित अपभ्रंश एक ही थी जिसमें कि सारा साहित्य लिखा गया। इसी कारण जब अपभ्रंश जन भाषा थी और उसका एक सुसमृद्ध साहित्य था तो पुराने प्राकृत वैयाकरणों ने इसके कई क्षेत्रीय भेदोपभेद किये। उन भेदों में प्रमुख भेद नागर, उपनागर और ब्राचड आदि किया। कुछ लोगों ने ग्राम्या का भी उल्लेख किया है।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि एक समय यह जनता की भाषा थी। तभी उसमें साहित्य आदि लिखे जाते रहे। **डा० कीथ**[83] का यह कहना कि यह केवल साहित्यिक भाषा थी कभी जनभाषा नहीं रही अतः प्रामाणिक भाषा नहीं रही, तर्कसंगत एवं प्रमाणविहीन प्रतीत होता है। इसी प्रकार **प्रो० उलनर**[84] का यह कहना कि अपभ्रंश का प्रयोग साहित्य के लिये कोई बहुत अधिक नहीं होता था, असंगत एवं तथ्यहीन का परिचायक प्रतीत होता है। उनका यह भी कहना युक्तिहीन है कि अपभ्रंश केवल सामान्य आंचलिक (कोलिकियल) बोली का प्रतिनिधित्व करती है

और साहित्यिक आदर्श मात्र है। आधुनिक अनुसंधान ने यह प्रमाणित कर दिया कि अपभ्रंश में विशाल वाङ्मय लिखा गया था। उसमें जन सामान्य की भावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। यह अवश्य है कि पुराने समीक्षक **दण्डी** आदि ने इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं की है। अन्य प्राकृत वैयाकरणों ने भी साहित्यिक प्राकृत के प्रकार भेद (Varities) में ही अपभ्रंश का वर्णन किया, अवश्य कुछ ने इसके साथ न्याय किया है। वस्तुतः जब सभी प्राकृत भाषाओं का साहित्य सुसमृद्ध हो गया और परिष्कृत होकर यह जब जनता की भाषा नहीं रही तब नदी के प्रवाह की तरह भाषा के अवरूद्ध हो जाने के बाद एक नयी भाषा व्यवहार में आयी जो कि जनता की भाषा बन बैठी और उसी का नाम अपभ्रंश पड़ा। इसमें भी साहित्य रचे जाने लगे। भ्रमवश कुछ प्राकृत वैयाकरणों ने इसे भी प्राकृत ही मान लिया।

अभी हमने देखा कि तृतीय शताब्दी में जिस अपभ्रंश ने विभाषा का रूप धारण किया था अर्थात् जो बोली के रूप में प्रचलित थी, उसके बोलने वाले आभीर, शबर और चाण्डाल आदि थे। उस समय वे लोग सिन्ध, मुल्तान और मुख्यतया उत्तर पंजाब में निवास करते थे और यायावरों की तरह जीवन यापन करते थे। अनन्तर भारत के अन्य भूभागों में स्थायी रूप से बस गये। 5वीं शताब्दी तक अपभ्रंश साहित्य के रूप में अवश्यमेव अवतरित हो चुकी होगी क्योंकि ई० छठी शताब्दी के लगभग **भामह** और **धारसेन** ने अपभ्रंश को साहित्यिक महत्व दिया है। कोई भी भाषा तत्काल साहित्यिक महत्त्व नहीं प्राप्त करती। किसी भी भाषा में जब प्रचुर साहित्य रच दिया जाता है तब साहित्याचार्य लोग उसे महत्व देते हैं और उसे अपने काव्यशास्त्र में स्थान देते हैं। भारत में प्रायः यही परम्परा रही है। साहित्य की परम्परा बनने में काफी समय लगता है तब उसमें एकरूपता आती है। सुसमृद्ध हो जाने पर वह आलोच्य विषय होता है। इस तरह इस समय तक अपभ्रंश की साहित्यिक मर्यादा स्थापित हो चुकी थी। प्राकृत अबं संस्कृत

की भाँति केवल काव्य का विषय मात्र रह गयी थी। छठी और 7वीं शताब्दी तक भारत में एक ऐसा राजनीतिक उथल-पुथल हुआ जिसमें पुराने साम्राज्य लड़खड़ाने लगे। गुप्त साम्राज्य कई खण्डों में विभक्त हो चला था, कई राजनीतिक परिवर्तन होते रहे। उन्हीं राजनीतिक परिवर्तनों में आभीर जाति का भी साम्राज्य स्थापित हुआ। ये पश्चिमोत्तर भारत से पश्चिम दक्षिण, मध्य भारत एवं पूरब की ओर भी बढ़े और अपनी सत्ता स्थापित की। यह युग **हर्षवर्धन** की मृत्यु (ई० 648) के बाद का है। इसी समय को हम 'राजपूत युग' भी कहकर पुकारते हैं। उन लोगों ने राजकीय भाषा अपभ्रंश को बनाया। इसी से 7वीं शताब्दी में जिस अपभ्रंश का वर्णन किया गया है उसे आभीर आदि की भाषा कही गयी। प्रारम्भ में यह आभीर आदि की बोली भी रह चुकी थी। काव्यों में (नाटक आदि) आभीरादि की (नीच पात्रों) भाषा को अपभ्रंश कहते थे। आभीरादि या आभीरोक्ति का यह मतलब नहीं कि यह भाषा उनकी निजी भाषा थी या वे कहीं से इस भाषा को लाये थे। वास्तव में आभीर या उनके साथी जहाँ-जहाँ गये, उन्होंने तत्तत्स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमें निज़ स्वभावानुकूल स्वर या उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत या विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया।[85] यह एक विचारणीय बात है कि **मार्कण्डेय** ने अपनी पुस्तक के (पृ० 2) एक उद्धरण में आभीरों की भाषा को विभाषाओं के अन्तर्गत गिना है साथ ही साथ अपभ्रंश भाषा की पंक्ति में भी रखा है। फिर भी उसके अनुसार अपभ्रंश भाषाओं का तात्पर्य जनता की भाषाओं से है। **मार्कण्डेय** का विरोध करते हुए **राम शर्मा तर्कवागीश** का कहना है कि विभाषाओं को अपभ्रंश नाम से नहीं पुकारना चाहिये, विशेष कर वैसी परिस्थिति में जबकि वह नाटकादि में प्रयुक्त होती हो। वास्तव में अपभ्रंश तो वह भाषा है जो जनता द्वारा बोली जाती थी।

चन्द्रधर शर्मा और राहुल सांकृत्यायन के अनुसार

पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी[86] के अनुसार विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गयी, इसमें देशी की भी प्रधानता है। यह काल अपभ्रंश का उत्तप्त काल है। इस काल में यह भाषा कलाकारों का कण्ठहार बन चुकी थी। इसने इस समय परिनिष्ठित भाषा का रूप ले लिया था। इस काल में इस भाषा में बहुतेरे साहित्य लिखे जा चुके थे। यद्यपि इस काल में भी संस्कृत और प्राकृत रंगमंच के लिये स्वीकृत थी फिर भी अपभ्रंश इस समय जनता की भाषा हो चुकी थी। इसका विकास भी विस्तृत भूभाग तक हो चुका था। दक्षिण में सौराष्ट्र और संभवतः पूर्व में मगध तक फैल चुकी थी। 11वीं शताब्दी के मध्य में इसकी साहित्यिक भाषा उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। इस समय यह केवल साहित्यिक भाषा के लिये ही प्रसिद्ध नहीं हुई अपितु इसकी बहुत सी बोलियाँ हो गयीं। विभिन्न प्रान्तों में इसकी विभिन्न बोलियाँ प्रसूत हुईं। अपभ्रंश इस समय तक बहुत आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। 10वीं शताब्दी के **राजशेखर** ने इसे सुभव्य भाषा वाला कहकर पुकारा है। 11वीं शताब्दी तक आते-आते यह भाषा 'शिष्टों की भाषा' मात्र रह गयी **पुरूषोत्तम** ने एवं पूर्वी बौद्ध प्राकृत वैयाकरणों ने यही कहा है। उन लोगों ने अपभ्रंश को सुसंस्कृत लोगों के व्यवहार में लाने के लिये कहा है। परवर्ती लेखक जैसे **मम्मट, वाग्भटालंकार** (1123-56 ई०) के रचयिता **वाग्भट, विष्णुधर्मोत्तर** के लेखक **रामचन्द्र, नाट्यय दर्पण** के **गुणचन्द्र, जिनदत्त** (1200 शती) ने **विवेक विलासित** 8, 131 तथा **अमर चन्द्र** ने **काव्य कल्पलतावृत्ति** में और अन्त में महान वैयाकरण **हेमचन्द्र** ने निर्विरोध रूप से अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत की भाँति साहित्यिक भाषा ही स्वीकृत की है। इन लोगों के कथन से प्रतीत होता है कि अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा अथवा प्रान्तीय बोली के साथ शिष्टों

की भाषा है। **रामचन्द्र** और **गुणचन्द्र** के अनुसार अपभ्रंश प्रान्तीय भाषा थी। किन्तु **हेमचन्द्र** के समय में अपभ्रंश, संस्कृत और प्राकृत की भाँति परिनिष्ठित भाषा मात्र रह गयी। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अब तक यह भाषा मृतप्राय हो चुकी थी अर्थात् तत्कालीन बोली जाने वाली भाषा से भिन्न होती जा रही थी। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण से बहुत अधिक बोलियों के सन्देह का भी ज्ञान होता है। यह प्रतीत होता है कि इस समय बहुत सी बोलियाँ शनैःशनैः विकास क्रम की ओर उन्मुख हो रही थीं। संभवतः इसी कारण **'काव्यानुशासन'** के परवर्ती लेखक **वाग्भट** ने अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा में भेद उत्पन्न किया है। स्वतः **हेमचन्द्र** ने अपने **काव्यानुशासन** में अपभ्रंश से ग्राम्य भाषा को भिन्न लिखा है। निष्कर्ष यह कि 11वीं शती तक अपभ्रंश पूर्ण रूपेण परिनिष्ठित भाषा का रूप धारण कर चुकी थी। यह अब केवल शिष्टों की परिष्कृत रुचि वालों की भाषा मात्र हो गयी। प्राकृत और संस्कृत की भाँति यह भी साहित्य और व्याकरण में प्रचलित हुई। 12वीं शताब्दी तक या उसके पूर्व ही अपभ्रंश ने पुरानी संस्कृत तथा प्राकृत की तरह अपना स्थान ग्रहण कर लिया था।

वस्तुतः अपभ्रंश के दो रूप रहे होंगे—एक पूर्ववर्ती रूप और दूसरा परवर्ती रूप। इस बात की पुष्टि अपभ्रंश के साहित्य की भाषा देखने से होती है। अपभ्रंश के लिखे गये व्याकरण भी बहुत कुछ इसकी पुष्टि करते हैं। अपभ्रंश का पूर्ववर्ती रूप बहुत कुछ प्राकृत के समीप है। शब्द कोश तो प्राकृत और अपभ्रंश के एक ही हैं। रूपों में भी बहुत कुछ साम्य है। क्रिया रूपों में पार्थक्य जरूर है अर्थात् संस्कृत, पालि और प्राकृत की तरह बहुत कुछ श्लिष्ट रूप धारण किये थी। यह सही है कि इसकी श्लिष्टता (Synthetic) बहुत कम है। यह भी सही है—जैसा **पं० राहुल सांकृत्यायन**[87] ने लिखा है कि वैदिक संस्कृत (छान्दस), पालि और प्राकृत भाषाओं में आपस में भी काफी भेद थे, पर अब भी उनकी

एक विशेषता कायम थी अर्थात् ये तीनों भाषा कुल उस स्वरूप को अपनाये हुए थी जिसे भाषाविद् श्लिष्टरूप कहते हैं। द्विवचन को हटा देने तथा कुछ विभक्तियों को कम कर देने पर भी अभी सुबन्त और तिङन्त के सैंकड़ों और हजारों रूप प्रचलित थे। दसों (विधि और आशीः मिलाकर11) लकारों, आत्मनेपद और परस्मैपद रूपों, णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, यङ् लुङन्त आदि स्वरूपों को उन्होंने मान्य रखा। अपभ्रंश ने इन मान्यताओं को बहुत कुछ मात्रा में ठुकरा दिया था। उसने श्लिष्टता से अश्लिष्टता की ओर बढ़ने की कोशिश की। उसने पुरानी परम्परा के शब्द रूपों तथा धातु रूपों की पारिपाटी को बहुत कुछ मात्रा में छोड़ देने का प्रयत्न किया। लकारों की विविधता को बहुत कुछ समाप्त भी कर दिया। प्रमुख रूप से 4 लकारों अर्थात लट्, लोट्, लृट् और कुछ क्षीण रूप में विधि लकार के रूपों को ग्रहण किया। भूतकाल के लिये उसने निष्ठा कृदन्त को ही मान्यता दी। यह श्लिष्टता से अश्लिष्टता की ओर बढ़ने का बड़ा भारी प्रयास था। यह भाषा के परिवर्तन में बड़ी भारी क्रान्ति थी। यह सब होते हुए भी अपभ्रंश के पुराने रूपों में, पुरानी श्लिष्ट पद्धति के बहुत कुछ रूप अब भी विराजमान थे। अपभ्रंश की ध्वनि प्रक्रिया में विशेष परिवर्तन जरूर हो रहा था, आत्मनेपद प्रायः समाप्त-सा हो रहा था। फिर भी यत्र-तत्र आत्मनेपद के रूप मिल ही जाया करते थे। यङन्त, यङ लुङन्त और सन्नन्त के रूप कहीं न कहीं दिख जाया करते थे। ऐसी बहुत सी भाषायिक इकाइयाँ है जो कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश को प्राकृत के समीप ला खड़ा करती हैं। इसी कारण संस्कृत से भी उसकी बहुत कुछ समता हो जाया करती है। उत्तरवर्ती अपभ्रंश बहुत कुछ सरलता की ओर झुक रही थी। इस समय तक भाषा में बहुत कुछ अश्लिष्टता आ गयी थी। विभक्ति रहित शब्द रूपों और धातु रूपों का प्रयोग होने लगा, इससे भाषा में बहुत अधिक सरलता आ गयी। यह नव्य भारतीय आर्यभाषा की ओर झुका हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश के रूप हिन्दी के बहुत समीप है। **हेमचन्द्र** के

अपभ्रंश दोहों में निर्विभक्तिक प्रयोग तो भरे पड़े हैं। **सन्देश रासक** और **कीर्तिलता** तो वस्तुतः पुरानी हिन्दी का प्रारूप ही है। संभवतः इन्हीं सभी कारणों से **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों को भी पुरानी हिन्दी कहकर पुकारा था। ध्वनि विकास भी आधुनिक हिन्दी के बहुत समीप है। अतः अपभ्रंश संस्कृत, पालि और प्राकृत के श्लिष्ट भाषा कुल से उत्पन्न होकर भी, वह अश्लिष्ट होने के कारण एक नये प्रकार की भाषा है। इस माने में वह पूर्वोक्त तीनों भाषाओं से दूर है तथा आधुनिक भाषाओं के बहुत समीप है। यह एक नीवन भाषा की सूचना देता है जिससे कि न० भा० आ० भाषाओं का विकास हुआ है।

हेमचन्द्र के परवर्ती आचार्यो की अपभ्रंश रचनायें

हेमचन्द्र ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का व्याकरण लिखा था। सूत्रों के उद्धरणों में जो दोहे दिये हैं वे विविध साहित्य से संकलित किये गये हैं। **हेमचन्द्र** के समय में अपभ्रंश जनता की भाषा से दूर हो गयी थी। वह साहित्य में ही प्रचलित थी। देश भाषाओं में रचनाएँ होने लगी थीं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि अपभ्रंश में रचना होती ही नहीं थी। इस भाषा में रचनाएँ अब भी होती थीं। सुसभ्य और सुसंस्कृत लोगों में अब भी इसी का बोलबाला था। इसने कभी वह मन्त्र फूँका था जो सर्व साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करता था। इसी से लोक भाषाएँ भी पनप रही थीं। लोक भाषाओं में भी साहित्य रचे जा रहे थे और अपभ्रंश में भी साहित्य लिखे जा रहे थे। **हेमचन्द्र** के बाद जितनी भी रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी जा रही थीं वे सरलता की ओर, निर्विभक्तिक रूपों की ओर अधिक झुकी हुई थीं। चाहे **संदेश रासक** को लें, चाहें **कीर्तिलता** को या **वर्णरत्नाकर** को या किसी अन्य रचना को, वे सभी सरलता की ओर झुकी हुई हैं, नव्य भारतीय भाषाओं के बहुत समीप हैं। कभी-कभी तो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की प्रारम्भिक रचनाओं में तथा अपभ्रंश की परवर्ती रचनाओं में भेद

करना कठिन सा हो जाता है। **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता से दूर होकर अगर उसकी भाषा पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि वह अपभ्रंश के समीप अधिक है हिन्दी की ओर कम। संभवतः इन्हीं सभी कारणों से **पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी**[88] ने **पृथ्वीराज रासो** के रचयिता को अपभ्रंश का अन्तिम कवि कहना अधिक पसन्द किया है हिन्दी का आदि कवि कम। वस्तुतः अपभ्रंश भाषा में 14वीं और 15वीं शताब्दी तक रचनाएँ होती रहीं। **विद्यापति** ने एक ओर **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना की है जिसे हम **अवहट्ट** या **अपभ्रंश** कहते हैं। **अवहट्ट** नाम तो स्वतः विद्यापति ने दिया है, दूसरी ओर **विद्यापति** ने तत्कालीन भाषा में प्रचलित लोक भाषा में गीत भी लिखे हैं। इन गीतों में तथा **कीर्तिलता** में काफी अन्तर है। **कीर्तिलता** के गद्य एवं पद्य में भी अन्तर पाया जाता है। गद्य की भाषा कुछ तत्सम की ओर झुकी है तो पद्य की भाषा तद्भव प्रधान है और देशी शब्दों से युंक्त हैं। गीत की भाषा को आज का आदमी अधिक सरलता से समझ लेता है किन्तु **अवहट्ट** की भाषा समझने में अधिक आयाम की आवश्यकता प्रतीत होती है, शब्दों की जानकारी करनी पड़ती है। कहना यही है कि दो भिन्न रचनाएँ दो तरह की हैं या दो प्रकार की भाषा की हैं।

अपभ्रंश का स्वरूप

पहले हम लिख चुके हैं कि संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रंश संस्कृतेतर भाषा है। मीमांसकों एवं नैयायिकों ने भी शब्द शास्त्र पर विचार करते हुए वैयाकरणों की तरह ही विचार किया है। वैयाकरणों ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अपभ्रष्ट के अर्थ में ही किया है। उन लोगों का प्रायः यही विश्वास है कि सभी संस्कृतेतर शब्द संस्कृत के अपशब्द हैं यानी अपभ्रंश हैं। पुराने जमाने में शब्दशास्त्र पर विचार करते समय संस्कृत के विकृत रूपों या इतर शब्दों के लिये यही नाम प्रतिनिधित्व करता था। इसी कारण **दण्डी**

ने कहा था कि व्याकरण में संस्कृत से भिन्न शब्दों को अपभ्रंश कहते हैं। अपने विचार के अनुसार संस्कृत वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से बताया है कि किन परिस्थितियों में संस्कृत का विभ्रष्ट या अपशब्द ने अपना स्थान लिया तथा अशिक्षित लोग या सामान्य जनता किस प्रकार संस्कृत के शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ रही या असावधान रही। **वाक्यपदीयकार**[89] ने कहा कि शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थता या उच्चारण के प्रति असावधानी के कारण शब्दों के विकृत हो जाने से अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई। प्रायः समस्त वैयाकरणों ने संस्कृत से अपभ्रंश की उत्पत्ति के विषय में ही विचार दिया है। **वार्तिककार**[90] ने इसका कारण **अशक्तिजानुकरणं** कहा है। भाष्यकार **पतञ्जलि**[91] ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। उन्होंने प्राकृत क्रियाओं पर भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है कि आणपयति, वट्टति, वद्धति आदि संस्कृत आज्ञापय, वर्तते, वर्द्धते आदि का अपभ्रष्ट रूप है। भू आदि धातुओं को **कात्यायन**[92] निष्प्रयोजन नहीं कहता। इनका संस्कृत से प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में परिवर्तन नहीं हो सकता। इस तरह संस्कृत वैयाकरणों ने शुद्ध और अशुद्ध उच्चारण का कारण एक ही तरह का बताया है। अशुद्ध उच्चारण के कारण कई हो सकते हैं—शारीरिक दोष, असावधानी, आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति या शिक्षा का अभाव आदि बहुत से कारण हैं जिससे कि संस्कृत के उच्चारण में ह्रास हुआ। हम देखते हैं कि वैयाकरणों के विचार कुछ भिन्न ही प्रकार के हैं। वे अपभ्रंश का प्रयोग अपभ्रष्ट के अर्थ में करते हैं। स्वतन्त्र भाषा के रूप में नहीं। **भोजराज**[93] ने **सरस्वती कण्ठाभरण** में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि संस्कृत और प्राकृत से भिन्न अपभ्रंश की सत्ता है।

अलंकारशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा की सत्ता स्वीकृत की है। कुछ ने इसे प्रान्त विशेष की भाषा माना है, कुछ ने भाषात्रय में अपभ्रंश को बहुत महत्वपूर्ण माना है, कुछ ने काव्य, नाटक आदि में प्रयुक्त होने वाली अपभ्रंश भाषा को महत्व दिया

है। **रुद्रट** ने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश की महत्ता तो स्वीकृत की ही है साथ-ही-साथ उसने देश भेद से इसके बहुत से भेद माने हैं। प्रसंगवश अपभ्रंश की व्याख्या करते हुए उसकी सत्ता में एक पद्य[94] भी उद्धृत किया है। इन सभी बातों की चर्चा पहले की जा चुकी है। अपभ्रंश के प्रारूप जहाँ **भरत** के **नाट्य शास्त्र** में प्राप्त होता है वहीं सर्वप्रथम **कालिदास** के **विक्रमोर्वशीय** नामक नाटक में अपभ्रंश के कुछ पद पाये जाते हैं। यद्यपि इन पदों के विषय में लोगों ने संदेह पैदा किया है कि क्या वस्तुतः ये पद **कालिदास** के ही हैं ? क्योंकि **कालिदास** के अन्य नाटकों में अपभ्रंश के पद नहीं हैं। स्वभावतः यह सन्देह का विषय बन जाता है। **जैकोबी** जैसे प्राकृत और अपभ्रंश के पण्डित ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है। किन्तु अन्तः साक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि **विक्रमोर्वशीय** के चौथे अंक का जो अपभ्रंश है वह वस्तुतः **धनपाल** के अपभ्रंश से भिन्न है। साथ ही साथ हम यह भी देखते हैं कि नाटकों के अपभ्रंश को लेखकों ने प्रायः साहित्यिक प्राकृत के बहुत समीप ढाल दिया है। इसी कारण कभी-कभी अपभ्रंश और प्राकृत के भेद में भी संदेह हो जाता है। यही स्थिति **विक्रमोर्वशीय** के विषय में भी है। फिर भी अधिकांश विद्वानों ने इसे अपभ्रंश ही कहा है। अगर अन्वेषण किया जाए तो **शाकुन्तलम्** में भी कुछ न कुछ अपभ्रंश के बीज मिल ही जायेंगे। साहित्यिक कृत्रिम प्राकृत की ओर अधिक आकर्षण होने के कारण सभी चीजों को ऐसा ढाल दिया गया है कि भ्रम बना ही रहता है। प्रारम्भ से ही कुछ इस प्रकार का घुला मिला विचार व्यक्त किया जाता रहा है कि जिससे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के विषय में स्पष्ट निर्णय नहीं हो पाता। आधुनिक विद्वानों ने बहुत कुछ इन गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। समस्त संस्कृत, वाङ्मय की छानबीन की जाय तो प्रतीत होगा कि प्राकृत और अपभ्रंश को संस्कृत के परिवेश में ही देखा गया है। शब्दों पर विचार करते समय संस्कृत की

पवित्रता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए इतनी आसक्ति बनी रही है कि सभी चीजों को संस्कृत के चश्मे से ही देखा गया है। यही कारण है कि अनार्य शब्दों को भी संस्कृत के ढंग पर ढ़ालने का प्रयत्न किया गया है, उदाहरण स्वरूप **तन्त्रवार्तिक** में कहा गया है कि अगर आर्य लोग द्राविड़ शब्दों को संस्कृत के मुताबिक ढ़ालने लगेंगे तो और भी फारसी, यवन और रोमन आदि के शब्दों को भी ढालना पड़ेगा[95], इसी तरह के विचार **श्रीधर** और **जयन्त भट्ट** ने **न्यायमंजरी** में किया है; **शाबर** और **कुमारिल** प्रायः इसी तरह के विचार रखते हैं। तात्पर्य यह कि संस्कृत को सर्वोपरि उत्कृष्ट बनाये रखने की भावना बहुत दिनों से पायी जाती है। संस्कृत नाटकों की प्राकृत की भाषा कृत्रिम है। यही कारण है कि जहाँ कहीं भी नाटकों में अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है वह भी कृत्रिम है, संस्कृत से प्रभावित है। स्वतन्त्र रूप से जो अपभ्रंश काव्य रचे गये हैं उनमें स्वाभाविकता है। देशी भाषा का प्रयोग विशिष्ट रूप से मिलता है। वह वस्तुतः लोक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। जिस तरह वह विचारों में स्वतन्त्रता रखता है, अपना निजी अस्तित्व नहीं खोता उसी तरह भाषा के प्रयोग में अपना निजी अस्तित्व रखता है।

जनता की भाषा के रूप में

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहे विविध काव्यों से संकलित किये हुए हैं अतः उसमें भाषा की विविधता पाना स्वाभाविक है ये उदाहरण स्वरूप लिखे गये दोहे संवारे सुधारे हुए हैं। इनमें कहीं-कहीं कृत्रिमता की झलक भी मिलती है, संस्कृत के तद्भव एवं तत्सम रूपों की बहुलता भी दृष्टिगोचर होती है। **धनपाल** कृत **भविसत्त कहा** और **स्वयंभू** कृत **पउमचरिउ** की भाषा में स्वाभाविकता अधिक है। प्रतीत होता है कि ये रचनायें अपने समय की जीवन्त भाषा का प्रतिनिधित्व करती हैं। उस भाषा में देशी प्रयोग अधिक है। इसीलिये कभी-कभी वह आजकल अर्थ समझने में दुरूह भी हो जाती है, उलझनें उपस्थित

हो जाती हैं। कारण कि वे शब्द-प्रयोग उस काल की जीवित भाषा के प्रतिनिधि हैं। नाटकों की प्राकृत की तरह कृत्रिम नहीं हैं जो कि तद्भव प्रधान हैं तथा व्याकरण के अनुसार सभी अर्थ लगाया जाये। जो जीवित भाषा का प्रतिनिधित्व करेगी वह स्वभावतः कभी न कभी व्याकरण विरूद्ध अवश्य हो जायेगी। इसका प्रयोग स्थल-स्थल पर देखने को मिलता है। तात्पर्य यह कि अपभ्रंश साहित्य देशी भाषा का प्रतिनिधित्व करती है; जनता का प्रतिनिधित्व करती है, संस्कृत की तरह वह कुछ विशिष्ट वर्गों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती। भारत में आने वाली जितनी भी जातियाँ यहाँ की जातियों में खप सकती थीं या खपीं उन सभी को भारत ने आत्मसात कर लिया। उन लोगों ने भी इस भाषा को अपना लिया। यह उन लोगों की भी भाषा हो गयी। स्वभावतः उन लोगों के साथ आयी हुई भाषा के कुछ शब्द रूप भी इसमें घुलमिल गये। इस प्रकार न जाने कितने ऐसे शब्द रूप इसमें घुलमिल गये, घिसपिट गये कि अब उनका पता लगाना भी मुश्किल है। संस्कृत में भी ऐसे बहुत से शब्द घुले मिले हैं। किन्तु वहाँ उच्चस्तरीयता की भावना थी; अपने को सबसे भिन्न समझने की भावना थी। अतः दूसरे के शब्दों को परिष्कृत करके अपनी संस्कृत में सुसंस्कृत करके अपनाया है। यही दोनों का मौलिक अन्तर है। एक विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है तो दूसरा जन सामान्य का।

इस पैमाने पर विचार करने का एक मात्र लक्ष्य यही है कि अपभ्रंश जिस काल में जनता की भाषा थी वह काल भारत का संक्रान्ति काल था। समस्त भारत खण्डशः विभक्त हो चला था। भारत में उथल पुथल हुआ था। यद्यपि कुछ राजाओं ने इसे एक सूत्र में पिरोने की कोशिश की, किन्तु वह कोशिश मात्र ही रही। उस युग की कुछ ऐसी विशेषता है या विचित्रता है कि हर शक्ति सम्पन्न आदमी अपने आपको राजा के रूंप में देखना चाहता है। शक्ति सम्पन्न राजा सम्राट का स्वप्न देखता है। पूरब से पश्चिम तक और पश्चिम से पूरब तक सर्वत्र यही बात छायी

हुई है। कभी कोई राजा कुछ दिनों के लिये अपना सर उठाता है। अभी वह पूरा शक्ति सम्पन्न भी नहीं हो पाता कि उसे दूसरा धर दबाता है। विचारों में तथा मत मतान्तरों में भी यही संक्रान्ति की स्थिति छायी हुई है। पुरानी ब्राह्मण संस्कृति की खिलाफत तो पहले भी हो चुकी थी। किन्तु समय-समय पर इसकी स्थापना होती रहती थी। अब भी इसकी पुनर्स्थापना होती थी। किन्तु काल के प्रभञ्जन को कौन रोक सकता है ? इसकी लड़खड़ाती हुई स्थिति में संस्कृत भी लड़खड़ाती रहती। इसका यह मतलब नहीं कि संस्कृत में रचना ही नहीं होती थी। तात्पर्य यह कि संस्कृत आचार्यों ने दूसरी ओर भी दृष्टिपात किया और अपभ्रंश की भी सत्ता स्वीकृत की। बौद्ध और जैन धर्मों की भी यही स्थिति थी। राजनीतिक दृष्टि से पूर्वी भारत के लड़खड़ा जाने से इन सम्प्रदायों के मठ तथा शिक्षा संस्थाओं के गढ़ भी उखड़ गये। इनके मतों में भी नाना प्रकार के विचार उत्पन्न होने लगे। बौद्ध धर्म के हीनयान और महायान ने विविध प्रकार के मत मतान्तरों का रूप धारण किया। इन्हीं सबों ने वज्रयान, नाथ सम्प्रदाय, सहजिया सम्प्रदाय आदि को जन्म दिया। इन्हीं सबके परिणाम स्वरूप वाम मार्ग आदि का जन्म हुआ। जैनियों के 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बरों' ने भी कम करामात नहीं दिखाये। फिर भी इसने कुछ स्थिरता दिखायी। इन सभी बातों का परिणाम यह हुआ कि इन नाना मतमतान्तरों ने, नाना प्रकार की विचार धाराओं ने, देशी भाषा को अधिक महत्व दिया। प्रधान रूप से उसी भाषा में अपनी रचनाएँ कीं। उसी के परिणाम स्वरूप अपभ्रंश भाषा का महत्व बढ़ा। इस प्रकार की संक्रान्ति भारत में तो छायी हुई थी ही जिसे कि इतिहासकारों ने 'राजपूत काल' कहकर पुकारा है। उसी समय से, समय बेसमय विदेशियों का आक्रमण हो जाया करता था। ऐसी परिस्थिति में, इस संक्रान्ति काल में, भारत इन्हीं विचारधाराओं को लेकर अपना रूप और नक्शा तैयार करने को तत्पर ही होता था कि विदेशी आक्रामक उसे तहस नहस कर देते थे। वे लूटने की वृत्ति से

यहाँ आते थे, नोच खसोट के बाद भारतीय भाण्डागारों को जला फूँक कर चले जाते थे।

हर्ष के बाद अपभ्रंश का स्वरूप

इस प्रकार राजा हर्ष के बाद भारत ने मुगल काल के पहले तक नाना प्रकार के उत्थान पतन के रूप देखे। नाना प्रकार की हजारों विचारधाराएँ गिरती उठती रहीं; उन्हीं विचारधाराओं को व्यक्त करने का अवलम्बन अपभ्रंश भाषा थी जिसे कि देशी या देश भाषा भी कहकर **कुवलय माला** में पुकारा गया है। इस दृष्टि से इस युग के सांस्कृतिक अध्ययन की अतीव आवश्यकता है। विना नवीन दृष्टि से अध्ययन किये, बाद की भाषाओं एवं साहित्य का निष्पक्ष अध्ययन नहीं हो सकता। लगभग 1025 ई० के **अल-बेरूनी** ने अपने वर्णन में भारत के विषय में उल्लेख किया है कि (उत्तर भारत में) भारतीय आर्य भाषा दो रूपों में विभक्त थी। एक उपेक्षित 'कथ्य भाषा' जिसका केवल जन साधारण में प्रचलन था, और दूसरी शिष्ट, सुशिक्षित उच्च वर्ग में प्रचलित 'साहित्यिक भाषा' थी। इसे बहुत से लोग विशेष अध्ययन कर प्राप्त करते थे। इसमें व्याकरणात्मक वाक्य रचना और छन्द अलंकार की बारीकियाँ भरी हुई थीं। इन दो रूपों के वर्णन करने के बावजूद भी उसने एक ही भाषा की गणना की है। सुसंस्कृत ब्राह्मण लोग संस्कृत को प्रचलित रखते थे। इसे प्रश्रय देने वाले क्षत्रिय तथा राजा लोग होते थे। किन्तु वे तथा निम्नवर्ग की जनता अपना सम्बन्ध अपभ्रंश, मिश्रित अपभ्रंश एवं देशी भाषा से रखती थी क्योंकि इसीमें चारणों की वीरगाथा काव्य, प्रेम-श्रृंगार, गीत एवं भक्ति काव्य आदि लिखे जाते थे।[96]

हम देखते हैं कि 1000 ई० के बाद जब भारत में एक नये युग का सूत्रपात होता है, तब भारतीय भाषाओं को भी भारतीय विचारधाराओं एवं भारतीय संस्कृति को एक नयी दृष्टि से विचार करने एवं व्यक्त करने के लिये अपने को कटिबद्ध करना पड़ा।

इस समय तक प्राकृतों का युग बीत चुका था। प्रादेशिक अपभ्रंशों की राह से होती हुई प्राकृतें, परिवर्तित होकर, आधुनिक भारतीय भाषाएँ बन गई थीं। किन्तु इसका यह कभी भी मतलब नहीं था कि संस्कृत में रचनायें नहीं होती थीं। अब भी संस्कृत में प्रौढ़ रचनाएँ होती थीं। उसमें मनन चिंतन भी होता रहता था। फिर भी साधारणतया उत्तर भारत के अधिकांश भागों में, ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में आरम्भ हुई अपभ्रंश भाषा की परम्परा तुर्की-ईरानी के विजय तक बराबर चलती रही। अपभ्रंश भाषा की यह परम्परा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा के पूर्णतया प्रस्फुटित पल्लवित हो जाने के बाद भी चलती रही। **डा० सुनीति कुमार चटर्जी** का कहना है कि इसका स्वरूप या तो विशुद्ध अपभ्रंश रहा अथवा देशी भाषाओं की लेखन पद्धति, शब्दावली तथा मुहावरों के रूप में अपभ्रंश वातावरण की छाप बनी रही। एक प्रकार की अर्द्ध-अपभ्रंश, अर्द्ध न० भा० आ० साहित्यिक भाषा बनी रही, जो हमें राजस्थान की डिंगल उपभाषा तथा **पृथ्वीराज रासो** आदि कई ग्रन्थों में मिलती है। हम देखते हैं कि 1400 ई० के लगभग भी अपभ्रंश की रचनायें होती रही हैं जिसे पूर्वी भारत में **विद्यापति** ने 'अवहट्ट' (अपभ्रष्ट) कहा है तथा पश्चिम भारत में **अब्दुर्रहमान** ने जनता की भाषा कहा है। यहाँ तक कि ई० 15वीं शताब्दी के अन्त तक अपभ्रंश की संकलित **'प्राकृत पैंगलम्'** की रचना होती रही।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार अपभ्रंश

आधुनिक भाषा विज्ञान के पण्डितों ने अपभ्रंश भाषा पर नये तरीके से विचार किया है। इन पण्डितों ने अपभ्रंश के दो रूप माने हैं। एक साहित्यिक अपभ्रंश जिसकी कि उत्पत्ति साहित्यिक प्राकृत से मानी है और दूसरे प्रकार की अपभ्रंश क्षेत्रीय या प्रान्तीय अपभ्रंश है जिससे कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं। इस मत के परिपोषकों में प्रमुख हैं **पिशेल, ग्रियर्सन, भाण्डारकर** और **डा० एस० के० चटर्जी** आदि। इस मत की स्थापना की

आधार भूमि प्राचीन वैयाकरणों एवं आचार्यों की विचारधारा ही है। **मार्कण्डेय** ने अपभ्रंश के तीन भेद किये हैं 1. नागर 2. उपनागर और 3. ब्राचड। साथ ही साथ उसने अपभ्रंश के 27 विभाषाओं का भी उल्लेख किया है। **रामरत्न तर्कवागीश** ने इस मत का विरोध करते हुए लिखा है कि विभाषाओं को अपभ्रंश के नाम से पुकारना नहीं चाहिये। विशेषकर तब जबकि वे नाटक के काम में लाये जाएँ। वस्तुतः अपभ्रंश तो वे भाषाएँ हैं जो कि जनता द्वारा बोली जाती थीं। **वाग्भटालंकार** (2-1) में भी इसी प्रकार की विचारधारा दी गयी है। एक ओर जहाँ अपभ्रंश को संस्कृत, प्राकृत और भूतभाषा यानी पैशाची के समकक्ष रखा है वहीं दूसरी ओर (2-3) लिखा है कि भिन्न-भिन्न देशों की विशुद्ध भाषा वहाँ की अपभ्रंश भाषा है—**अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्**। इन्हीं सभी कारणों से **पिशेल** ने **प्राकृत व्याकरण (पृ० 2) में बौल्लेन सेन** के मत का उद्धरण दिया है, उसने **विक्रमोर्वशीय** की भूमिका में **रविकर** के मत को उद्धृत करते हुए अपभ्रंश के दो भेद किये हैं। एक प्रकार की अपभ्रंश भाषा प्राकृत से निकली है। वह प्राकृत भाषा के शब्दों और धातुओं से बहुत मिलती जुलती है। दूसरी भाँति की भाषा देश भाषा है जिसे जनता बोलती थी। एक ओर संस्कृत और प्राकृत व्याकरण के नियमों का पूरा पूरा पालन किया जाता है तो दूसरे प्रकार की अपभ्रंश भाषा में जनता की बोली और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। इस मत की पुष्टि **वाग्भट** और **रुद्रट** की उक्तियों से होती है। **पिशेल** के विचारों से मिलता जुलता विचार **ग्रियर्सन** ने भी व्यक्त किया है। साहित्यिक प्राकृतों के प्रचीनतम नमूने संस्कृत नाटकों तथा उत्तम गीति काव्यों में पाये जाते हैं। प्राकृत में कुछ ऐसे **प्रबन्ध काव्य** लिखे गये थे जो कि बहुत बाद की रचना थी। ऐसे काव्य **प्रो० जैकोबी**[97] के अनुसार आजकल उपलब्ध नहीं है। किन्तु यह निश्चित है कि ऐसी रचनाएँ अर्ध शिक्षित या जनसाधारण के लिये लिखी गयी थीं। इन कृतियों में साधारण जनता के शब्दों का प्रयोग भी किया

गया था। कुछ दिनों के बाद ऐसी रचना अप्रचलित हो गयी और इसका पुनः जनता की भाषा में अनुवाद किया गया तथा देशी शब्द भरे गये। **डा० ग्रियर्सन**[98] का कहना है कि इस प्रकार के ग्रन्थों को, स्थानीय प्राकृत को अपभ्रंश अथवा अपभ्रष्ट कहा गया और जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, स्थान के अनुसार रूप में भी अन्तर था। इन्होंने भी अपभ्रंश के दो रूप स्वीकार किये हैं—एक साहित्यिक अपभ्रंश, दूसरा स्थानीय अपभ्रंश या प्रान्तीय अपभ्रंश। साहित्यिक अपभ्रंश मुख्य रूप से 'नागर शैली' में लिखी गयी है। नागर अपभ्रंश का साहित्यिक महत्व प्राकृत साहित्य की ही तरह अधिक बढ़ गया। इसीमें पश्चिम भारत की अपभ्रंश की रचना हुई थी। **राजशेखर** ने अपभ्रंश साहित्य की रचना का मुख्य केन्द्र स्थल पश्चिम भारत को माना है। इसके अन्तर्गत पंजाब, राजस्थान तथा कुछ लोगों ने गुजरात को भी स्थान दिया है। जन साधारण ने जब इसे स्वीकृति दे दी तो बाद में भारत वर्ष के विस्तृत भूभाग में साहित्यिक रचनाओं की वाहिका के रूप में स्वीकृत हुई। विस्तृत भूभाग में इस नागर अपभ्रंश में रचना होने के कारण यह स्वाभाविक था कि कुछ न कुछ अन्तर आवे। कुछ न कुछ स्थानीय प्रयोगों का रूप आ जाना स्वाभाविक ही था। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि इसकी कई उपबोलियाँ हो गयी थीं। **ग्रियर्सन** का कहना है यहाँ एक बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिये कि किसी भी प्रकार ये विभिन्न रूप उन अनेक स्वतन्त्र तथा स्थानीय अपभ्रंशों अथवा भाषाओं की भाँति नहीं थे जो उनके बोलने वालों द्वारा साहित्य में प्रयुक्त की जाती थी। इनमें से प्रत्येक में जो स्थानीय भेद था वह स्थानीय बोलियों के नहीं अपितु वे साहित्यिक अपभ्रंश के भेद थे।[99] इस प्रकार नागर अपभ्रंश का साहित्यिक महत्व सर्वत्र स्थापित हो गया था। शब्द समूह की दृष्टि से यह साहित्यिक प्राकृत के अतिनिकट थी। इसका व्याकरणात्मक रूप देश्य या देशी रूप के समान स्थापित हो गया था जबकि यह साहित्यिक मर्यादा प्राप्त कर देशी रूपों से पृथक् हो गया

था। नागर अपभ्रंश तो साहित्यिक रचना के लिये स्वीकृत थी। नागर का अर्थ नगरवासी चतुर, शिक्षित, गवँई से विपरीत, लोगों की भाषा है। एक प्रकार के नागर, ब्राह्मण गुजराती भी होते थे। गुजरात की अपभ्रंश पर विशेष रूप से चर्चा आगे की जायेगी। किन्तु पहले लिख चुके हैं कि **राजशेखर** ने गुजराती और पश्चिमी राजस्थानीय अपभ्रंश का वर्णन किया है। कुछ लोगों का कहना है कि **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश व्याकरण में इन्हीं भूभागों का साहित्यिक उदाहरण दिया है जो कि समुचित विचार नहीं कहा जा सकता है।

डा० ग्रियर्सन ने भी अपभ्रंश के दो रूप माने हैं। आधुनिक कुछ विद्वत्समुदाय भी इससे सहमत हैं। साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश एक ही थी। इसके विकास में योगदान स्थानीय अपभ्रंश ने भी दिया था। इसका विकास बहुत दिनों से हो रहा था। वैदिक युग में भी बोलियाँ थीं इसका प्रमाण अपभ्रंश भाषा में मिलता है। द्वितीय, प्राकृत में व्याकरण सम्बन्धी बहुत से ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो कि पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते किन्तु वैदिक प्रयोगों में पाये जाते हैं। इसके कई उदाहरण हैं—

(1) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवः' रह गया, प्राकृत तथा अपभ्रंश में आसस्' (दुहरे जस्) का वंश 'आओ' आदि में चला।

(2) देवैः की जगह देवेभिः (अधरेहि) कहने की स्वतन्त्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं।

(3) संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बंध गया, किन्तु प्राकृत में 'म्मि, म्हि' होता हुआ हिन्दी 'में' तक पहुँचा।

(4) वैदिक भाषा का व्यत्यय और बाहुलक प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'हं' 'हँ'

'ही'; बहुत से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पीटती गयी।

(5) संस्कृत में पूर्व कालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' मिट गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतन्त्रता से बढ़ आये। **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने वैदिक भाषा से अपभ्रंश का सीधा सम्बन्ध दिखाया है।

अपभ्रंश का एक दूसरा भी रूप है जिसे 'विभाषा' कहते हैं। आधुनिक कथ्य भाषाओं का विकास इन्हीं अपभ्रंशों से हुआ है। ये अपभ्रंश स्थानीय बोलियों का प्रतिनिधित्व करती थीं। ब्राचड़ अपभ्रंश से सिन्धी तथा लहँदा बोली का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। लहँदा केकय प्रदेश की बोली थी। इस प्रदेश का एक हिस्सा 'दर्दीय भाषा' से भी प्रभावित रहा। वैदर्भ तथा दाक्षिणात्य अपभ्रंश से भी बहुत सी विभाषायें सम्बन्धित रही होंगी। इसी विदर्भ प्रदेश और बरार को संस्कृत में महाराष्ट्र कहते थे। यहाँ की अपभ्रंश से आधुनिक मराठी का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। दाक्षिणात्य प्रदेश के पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक औड्र तथा औत्कल अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसीसे उड़िया भाषा की उत्पत्ति मानी जाती है। बनारस से पूर्व वाले प्रदेश में मागध अपभ्रंश फैला था। आधुनिक बिहारी भाषाओं का प्रादुर्भाव इसी से माना जाता है। मागधी अपभ्रंश पूर्वी प्राकृत से उत्पन्न मानी जाती है। इसके पूर्व में गौड़ या प्राच्य अपभ्रंश का क्षेत्र था। इसी से बंगला एवं असमिया की उत्पत्ति हुई है। **डा० ग्रियर्सन** का कहना है कि 'वस्तुतः मागध अपभ्रंश का प्रसार पूर्व तथा दक्षिण में तीन ओर माना जा सकता है। यह उत्तर पूर्व में उत्तरी बंगला और असमी, दक्षिण में उड़िया एवं इन दोनों के बीच में बंगला के रूप में विकसित हुई है।' **डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या**[100] ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है। उनका कहना है कि म० भा० आ० में हम साहित्यिक अपभ्रंश को स्थान देते हैं। इन साहित्यिक अपभ्रंशों का आधार मुख्यतया अनुमान के आधार पर काल्पनिक कथ्य अपभ्रंश भाषा का स्थान है जहाँ पूर्ववर्ती प्राकृत समाप्त हो जाती है और भाषा

या न० भा० आ० भाषाएँ जन्म लेती हैं। यही बात **डा० हार्नले**[101] **पिशेल, ग्रियर्सन** आदि ने देश्य भाषा की अपभ्रंश के विषय में लिखा है। इस पर **श्री मधुसूदन चिमन लाल मोदी**[102] का कहना है कि ऐसा रूप मानने पर ही अपभ्रंश के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश में शौरसेनी अपभ्रंश का ही वर्णन किया है।

पूर्वी तथा पश्चिमी प्राकृतों के बीच में एक मध्यवर्ती प्राकृत भी थी, इसका नाम अर्धमागधी था। इस प्राकृत से विकसित अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व अवध, वघेल खण्ड तथा छत्तीसगढ़ प्रदेशों में बोली जाने वाली पूर्वी हिन्दी है। पश्चिमी प्राकृत अर्थात् नागर अपभ्रंश की बोली समस्त पश्चिमी भारत में फैली हुई थी। इन्हीं में से मध्य दोआब की शौरसेनी अपभ्रंश भी थी जो पश्चिमी हिन्दी की जननी बनी।

उत्तरी मध्य पंजाब की टक्क एवं संभवतः दक्षिण पंजाब की उपनागर अपभ्रंश भाषाएँ थीं। **ग्रियर्सन** का कहना है कि पंजाब की विभिन्न बोलियों की उत्पत्ति इन्हीं अपभ्रंशों से हुई है। इस (नागर) अपभ्रंश की अन्य विभाषाओं में से एक तो राजस्थानी की जननी आवन्त्य थी जिसका प्रधान केन्द्र वर्तमान उज्जैन की चारों ओर का समीपवर्ती प्रदेश था और दूसरी ओर आधुनिक गुजराती की जननी गौर्जर अपभ्रंश थी। अन्तिम दोनों भाषाएँ परिनिष्ठित नागर अपभ्रंश के अतिनिकट थीं। **प्रो० पिशेल** का कहना है कि शूरसेन प्रदेश में प्रचलित शौरसेनी अपभ्रंश के अतिनिकट आधुनिक गुजराती और मारवाड़ी भाषाएँ हैं। एक शौरसेनी प्राकृत थी जो कि कृत्रिम भाषा थी और नाटकों में गद्य के काम में लायी जाती थी। इसकी सारी रूपरेखा संस्कृत से मिलती जुलती है।

अपभ्रंश का विभाजन

डा० याकोबी ने **सनत्कुमार चरित** की भूमिका में अपभ्रंश का विभाजन किया है। उन्होंने अपभ्रंश का विभाजन उत्तरी, पश्चिमी, पूर्वी और दक्षिणी में किया था। इस मत का खण्डन करते हुए

डा० तगारे[103] ने इसको तीन भागों में विभक्त किया है। दक्षिणी अपभ्रंश, पूर्वी अपभ्रंश और पश्चिमी अपभ्रंश।

1. दक्षिणी अपभ्रंश

दक्षिणी अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करने वाले स्थान का नाम उन्होंने बरार दिया है। इसकी प्रमुख रचनाओं में **पुष्पदन्त** कृत **महापुराण, नयकुमार चरिउ, जसहर चरिउ** और **कनकामर** कृत **करकण्ड चरिउ** को रखा है। किन्तु अधिकांश विचारक इस विचार से सहमत नहीं हैं। इस मत को मत वाद ग्रस्त ठीक उसी तरह से मानते हैं जिस तरह कि गुजराती पण्डितों ने अपभ्रंश का मुख्य उद्‌गम स्त्रोत गुजरात को माना है। वस्तुतः जिसे **डा० तगारे** ने दक्षिणी अपभ्रंश कहकर पुकारा है—वह शौरसेनी अपभ्रंश ही है। सच्ची बात तो यह है कि साहित्यिक अपभ्रंश के रूप में शौरसेनी का विकास होता रहा है। समस्त उत्तर भारत में साहित्यिक रचना के रूप में शौरसेनी का ही प्रसार रहा है। **डा० तगारे** ने अपभ्रंश के ऐतिहासिक व्याकरण की रचना के समय जिन दक्षिणी तत्त्वों को दिखाया है उनमें आंशिक सत्यता अवश्य है। किन्तु जब किसी भी साहित्यिक रचना का निर्माण विस्तृत भूभाग में होने लगेगा तो यह स्वाभाविक है कि उस रचना में कुछ न कुछ क्षेत्रीय प्रयोग का प्रभाव पड़ जाये। इस कारण इसका दक्षिणी भेद करना उचित प्रतीत नहीं होता।

2. पूर्वी अपभ्रंश

पूर्वी अपभ्रंश की अधिकांश रचनाएँ सिद्धों आदि की हैं। इधर की रचनाओं पर बुद्ध धर्म का प्रभाव अधिक पड़ा है। संभवतः इसी कारण **डा० शहीदुल्ला** ने **लेशाँ मिस्ती** की भूमिका में इसे बौद्ध अपभ्रंश घोषित किया है। इसके प्रतिनिधित्व करने वाले **कण्ह** (कृष्णाचार्य) तथा **सरह** (शरस्तपाद) के **दोहाकोशों** एवं **चर्यापदों** को माना जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे पूर्वी अपभ्रंश कहा है।

उनका कहना है कि इसने पश्चिमी अपभ्रंश के वैयाकरण **हेमचन्द्र** के नियमों का अनुसरण न कर पूर्वी वैयाकरण **मार्कण्डेय, राम तर्कवागीश** तथा **क्रमदीश्वर** के व्याकरण चिह्नों का अधिक अनुकरण किया है। इस कारण **दोहा कोश** की भाषा को पूर्वी अपभ्रंश कहा जाता है तथा तिब्बती परम्परा पर आधारित होने के कारण इसे बौद्ध अपभ्रंश कहना अधिक उचित समझा जाता है। **सरह** और **कण्ह** को बंगला का पूर्वज भी मानते हैं और उड़िया, मैथली का भी पूर्वज इसे ही माना जाता है। उनके उपदेशक **जालन्धरी** या **जालन्धर नाथ, मत्स्येन्द्र नाथ** के समकालीन थे जो कि नेपाल के राजा **नरेन्द्र देव** के राज्य 657 ई० में थे; दूसरे **गोपी चन्द्र** राजा **भर्तृहरि के** सम्बन्धी थे। **भर्तृहरि** मालवा के राजा थे। उनकी मृत्यु 651 ई० में हुई। इन प्रमाणों के आधार पर **शहीदुल्ला** ने **कण्ह** को 700 ई० का बताया है। **महापण्डित राहुल सांकृत्यायन**[104] ने **सिद्ध सरहपा** की मृत्यु का समय 780 ई० के करीब माना है। इरा तरह इन सिद्धों की परम्परा में बहुत से कवि थे जो बौद्ध धर्म के अन्तर्गत थे और अपभ्रंश भाषा में रचना करते थे। तिब्बत आदि में संरक्षित बौद्ध साहित्य यदि प्रकाश में आ जाये तो सिद्धों की कविता के रूप में अपभ्रंश भाषा का साहित्य प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने लगे।

वस्तुतः **पुष्पदन्त, स्वयंभू** और **सिद्धों** की भाषा में कोई खास अन्तर नहीं है। यह अवश्य है कि जब किसी भी भाषा और साहित्य का विकास विस्तृत भूभाग तक हो जाता है तब यह स्वाभाविक है कि उन रचनाओं में क्षेत्रीय प्रयोग भी समाविष्ट हो जाये। **पं० राहुल** जी ने **दोहा कोश** के भूतकालिक प्रयोग को अवधी के सबसे अधिक नजदीक पाया है। इसके इल-अल प्रत्यय का प्रयोग भोजपुरी आदि में बहुत बाद में होने लगा। पर **विनयश्री** जो **विक्रमशिला** (भागलपुर) के थे ने 12वीं. शदी के अन्त में इल, अल का बहुत प्रयोग किया है; जैसे फुल्लिल्ल (गीति 1), गोल्लिअहं, झंपाविल्ल, भइल्ल (गी० 2) आदि। वस्तुतः साहित्यिक

अपभ्रंश एक ही है। 'भेद इतना ही है कि जहाँ भोजपुरी, बंगला, मैथिली, आदि ने इउ का इल, अल कर दिया, वहाँ अवधी ने पहिले की तरह अउ, इउ, एउ को कायम रखा; ब्रज ने ओ और यो किया, जिसको कौरवी या हिन्दी तथा उसकी सहोदरा पूर्वी पंजाबी ने आ, ए (बहुवचन) बना के रखा। इस तरह अपभ्रंश जाणिउ, अवधी में जानेउ, ब्रज जानो, हिन्दी-पंजाबी में जाणा (जान लिया) या जाना बन गया।[105]'

निष्कर्ष यह कि समस्त उत्तर भारत में साहित्य के लिए एक ही शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन था। जिस तरह पश्चिम भारत में शौरसेनी साहित्य का प्रचलन था उसी तरह पूर्वी भारत के कवियों ने भी साहित्य के लिये अपनी अपभ्रंश का प्रयोग न करके शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रयोग किया है। **डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या** ने कहा है कि शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचलन समस्त उत्तर भारत में बहुत परवर्ती काल तक रहा। राजपूतों की शक्ति और प्रतिष्ठा ने मध्य भारत और गंगा के द्वाबे में अपनी सत्ता स्थापित की और उसने इस अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व किया। गुजरात के जैनियों ने भी इस अपभ्रंश को बड़ा महत्त्वपूर्ण बनाया। इससे इसने मिश्रित बोली का रूप धारण किया।[106] पुनः आगे उन्होंने अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रंश समस्त उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा थी। गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक यह भाषा फैली हुई थी। संभवतः यह **लिङ्वा फ्रांका** की तरह और कोमल भाषा की तरह थी। इसी कारण यह काव्य के लिये सर्वोत्तम भाषा समझी गयी।[107] पूर्वी भारत के कवियों ने भी संभवतः इसी कारण इसे साहित्यिक भाषा का आधार बनाया।

3. पश्चिमी अपभ्रंश

पश्चिमी अपभ्रंश पहले लिख चुके हैं कि पूरे उत्तर भारत की तत्कालीन साहित्यिक भाषा अपभ्रंश थी। पश्चमी अपभ्रंश मूलतः

शौरसेनी का वह परवर्ती रूप है जो गुजरात और राजस्थान में बोली जाने वाली बोलियों से मिश्रित हो गयी थी। **राजशेखर** ने इसी भूभाग के अपभ्रंश का वर्णन किया है। इसी को वैयाकरणों ने नागर अपभ्रंश कहकर पुकारा है। इसका आदिम साहित्यिक रूप **कालिदास** के **विक्रमोर्वशीय** के कुछ पद्यों में पाया जाता है। शौरसेनी अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण के उदाहृत दोहों में शौरसेनी या नागर अपभ्रंश की कई बोलियों का रूप पाया जाता है। यह मुख्यतया गुर्जर, आवन्त्य तथा शौरसेनी तीन मुख्य भागों का प्रतिनिधित्व करता है। गुर्जर बोली का परवर्ती रूप 'जूनी गुजराती' या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में पाते हैं। आवन्त्य बोली का विकसित रूप मालवी बोली है। शौरसेनी, जो कि शूरसेन प्रदेश की भाषा थी—की विभाषा में पूर्वी राजस्थानी, व्रज तथा दिल्ली, मेरठ और सहारनपुर आदि की बोलियाँ हैं। इसी शौरसेनी अपभ्रंश में **पाहुड़ दोहा, सावयव धम्म दोहा** और **णयकुमारचरिउ** आदि रचे गये थे। **डॉ० चटर्जी** ने शूरसेन प्रदेश को शौरसेनी अपभ्रंश कहा है; जो इससे भिन्न है उससे अपभ्रंश का पृथक्करण करते हुए उन्होंने कहा कि नागर अपभ्रंश को भी जैनियों ने संकलित किया था और यह संभवतः परवर्ती म० भा० आ० की बोलियों पर आधारित थी। इस शौरसेनी से राजस्थानी गुजराती की बोलियाँ बहुत अधिक सम्पृक्त थीं[108]। इसी बात की पुष्टि **प्रो० पिशेल** और **ग्रियर्सन** आदि ने भी की है; इसी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग पूर्वी भारत में भी किया जाता था। अपभ्रंश काल में, पूरब के कवि लोग अपनी स्थानीय भाषा में कविताओं का बहिष्कार कर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग करते थे। पश्चिमी साहित्यिक शौरसेनी की भाषा में लिखने की परम्परा पूरब में भी निरन्तर चालू रही जबकि स्वतः पूरबी भाषाओं में भी कविता लिखी जाती थी। दोनों प्रकार की रचनाएँ साथ-साथ चलती थीं। इस शौरसेनी अपभ्रंश की परम्परा **विद्यापति** के समय तक चली। **विद्यापति** ने जो कि 14वीं शताब्दी में हुए थे—जहाँ एक ओर मैथिली में

गीत लिखे हैं वहीं दूसरी ओर शौरसेनी अपभ्रंश के परवर्ती रूप 'अवहट्ट' या अपभ्रष्ट में काव्य लिखा–**कीर्तिलता**[109]।

वस्तुतः अपभ्रंश कहने से एक ही अपभ्रंश का बोध होता है। देशभेद होने पर भी एक ही अपभ्रंश मुख्य थी। जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि के भेद होते हुए भी प्राकृत एक ही थी, वैसे ही शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर भी एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई। **हेमचन्द्र** आदि ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है। **मार्कण्डेय** ने अपभ्रंश का वर्णन करते हुए 'नागर अपभ्रंश' का उल्लेख किया है। वह भी वस्तुतः शौरसेनी अपभ्रंश ही है जिसे हम पश्चिमी अपभ्रंश भी कह सकते हैं। इसी पश्चिमी अपभ्रंश का वर्णन **राजशेखर** ने **काव्य मीमांसा** में किया है। कविता के लिये यह शौरसेनी अपभ्रंश एक तरह से स्वीकृत कर ली गयी थी। **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने **पुरानी हिन्दी** (पृ० 12) में लिखा है। शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिन्दी की भूमि हुई। अन्तर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानाक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र-यहीं की भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश था जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। इस तरह एक ही प्रकार की साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का व्यवहार सर्वत्र था। इसने पूर्वोक्त समस्त भागों में एक ही प्रकार की साहित्यिक भाषा का मापदण्ड रखा था, इस साहित्यिक अपभ्रंश की पृष्ठभूमि संस्कृत और प्राकृत रही है। इसी साहित्यिक अपभ्रंश भाषा को साधारणतया विद्वानों ने पश्चिमी अपभ्रंश या शौरसेनी अपभ्रंश कहकर पुकारा है। यह साहित्यिक भाषा शूरसेन या मध्य प्रदेश की प्रचलित बोली के आधार पर बनी थी। कभी इसी शूरसेन या मध्यदेश की भाषा संस्कृत थी जिसने समस्त भारत में अपना विस्तार किया। शौरसेनी प्राकृत की तूती भी एक जमाने में सारे प्राकृत साहित्य में बोलती थी। पुनः इसने एक बार साहित्यिक अपभ्रंश का गौरव प्राप्त किया। सर्वत्र इसकी सत्ता स्थापित हुई।

इसका यह मतलब नहीं कि इस अपभ्रंश पर राजस्थान, गुजरात, पंजाब या पूर्वी कोशल आदि अपभ्रंशों का प्रभाव नहीं पड़ा था। यही नहीं इस अपभ्रंश पर अन्तिम युग की प्राकृत का असर भी देखा जा सकता है। शौरसेनी अपभ्रंश बहुत कुछ माने में पुरानी हिन्दी के समीप है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण में उद्धृत बहुत से दोहों से इस बात की पुष्टि हो जाती है। संभवतः इन्हीं सभी कारणों से **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने परवर्ती अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहकर पुकारा है। इसी बात की पुष्टि **डा० सुनीति कुमार चादुर्ज्या** ने भी की है। उन्होंने **राजस्थानी भाषा** (पृ० 60) में लिखा है 'यह शौरसेनी अपभ्रंश मानों कि उस जमाने की (अर्थात् सन ई० 800 से 1300 तक की) हिन्दी ही थी, जिसमें **कबीर** की भाषा में जैसा है वैसा ही **शूरसेन** की भाषा में भी दिल्ली की भाषा का (और कभी-कभी कोसल और काशी की भाषा का तथा इसके अतिरिक्त राजपूताना और गुजरात की भाषा का भी) पर्याप्त मिश्रण हुआ करता था।' समग्र मध्य प्रदेश, काशी और कोसल के पूर्वी प्रान्त, उत्तर पश्चिम भारत अर्थात् पंजाब तथा गुजरात और राजपूताना के विशाल भूखण्ड में जब एक बार प्रान्तीय बोली शौरसेनी साहित्य की मर्यादा स्थापित हो गयी तब से शौरसेनी साहित्यिक अपभ्रंश का गौरवमय इतिहास आरम्भ हुआ। यह काम 8वीं या 9वीं शताब्दी ई० के लगभग हुआ था। इसका यह गौरवपूर्ण कार्य 4 या 5 सौ शताब्दी ईस्वी तक रहा। इस गौरवपूर्ण कार्य को विकसित करने में भारतीय इतिहास ने बड़ा भारी योगदान दिया।

राजपूत युग—गुर्जर शब्द की उत्पत्ति

राजा **हर्षवर्धन** की मृत्यु के बाद (सं० 648) भारत का राजनीतिक रूप बिखर गया। सूर्यवंशी चन्द्रवंशी क्षत्रिय राजघरानों के साथ कुछ और विदेश से आयी हुई जातियों के एक साथ मिलने से एक नई जाति बनी जिसे राजपूत काल कहकर पुकारा

गया है। भारत के बाहर से आने वाली युद्ध प्रकृति की कुछ जातियों में शक, गुर्जर आदि का उल्लेख किया जाता है। इसका खण्डन करते हुए **जयचन्द्र विद्यालंकार**[110] ने लिखा है कि—**कन्नौज** के सम्राट् गुर्जर प्रतिहार थे। **चन्द** के किस्से के साथ एक अंग्रेज विवेचक ने यह बात जोड़ी कि गुर्जर नाम छठी शताब्दी से चली है। गूजर लोग पंजाब, कश्मीर और स्वात में भी हैं, अतः वे हूणों के साथ बाहर से आये। पर कश्मीर और स्वात में जो गूजर हैं वे आज भी स्थानीय शब्दों से मिश्रित राजस्थानी बोलते हैं, इससे उनका राजस्थान से बाहर गया होना सिद्ध होता है। पच्छिमी पंजाब की भाषा में गाय-भैंस पालने वाले गुज्जर और बकरी पालने वाले अजिड़ या आजड़ी कहलाते हैं। अजिड़ जैसे 'अजा' से बना है, वैसे गुज्जर गो से, उसका अर्थ गोपाल है और कुछ नहीं। **महामहो- पाध्याय गौरी शंकर हीरा चन्द्र ओझा** ने लिखा है कि गुर्जर प्रतिहारों की तरह ब्राह्मण प्रतिहार भी थे। 'गुर्जर प्रतिहार' का अर्थ—गुर्जर देश के प्रतिहार था। 'प्रतिहार' का अर्थ द्वारपाल होता है। प्रतिहार वंश का संस्थापक कोई राजा का प्रतिहार होगा। 'राष्ट्रकूट' **(राठौर)** का अर्थ प्रदेश शासक था। कहने का तात्पर्य यह है कि राजपूत शब्द जाति के अर्थ में 16वीं शताब्दी तक भारतीय इतिहास या वाङ्मय में कहीं नहीं मिलता। **अल्बरूनी** या **कल्हण** उसका कहीं भी उल्लेख नहीं करते, चौथी **राजतरंगिणी** में जो **अकबर** के प्रशासन में लिखी गयी, उसका उस अर्थ में प्रयोग है। यह शब्द जाति सूचक होकर मुगलों के समय अथवा उसके कुछ पूर्व सामान्य रूप से प्रचार में आने लगा।[111] इतना विस्तार से लिखने का एक मात्र उद्देश्य यह है कि इस राजपूती इतिहास में प्राचीन तथा नवीन जातियों के सम्पर्क से एक ऐसी जाति का निर्माण हुआ जिसे इतिहासकारों ने राजपूतकाल कहकर पुकारा था। यह संक्रान्ति काल का युग था। बहादुरों को अपनी शक्ति अजमाने का पूरा अवसर मिलता था। थोड़ा सा भी शक्ति सम्पन्न व्यक्ति राजा होने का स्वप्न देखा करता था। राजा लोग

शक्ति अर्जित कर अपना साम्राज्य बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहते थे। राजाओं में महत्त्वाकांक्षा की वृत्तियाँ अद्भुत हुआ करती थीं। राजदरबारों में राजाओं के गुणगान गाने वाले, उनकी शक्ति और शौर्य की प्रशंसा करने वालों में चारणों और भाटों की कमी नहीं हुआ करती थी। अवश्य ही ये लोग देशी भाषाओं का ही प्रयोग करते होंगे। चारण और वन्दी लोगों का वर्णन संस्कृत के महाकाव्यों में भी हुआ है। उस काल में या उससे कुछ पूर्व लिखे गये संस्कृत महाकाव्य **किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम्** तथा **नैषधीय महाकाव्यों** में इन बन्दी जनों के वर्णनों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। ये राजा लोग जहाँ एक ओर अपनी प्रतिष्ठा और मान मर्यादा की रक्षा के लिये संस्कृत को संरक्षण देते थे, ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा करते थे; जगह-जगह अपने नाम पर शिलालेख खुदवाते थे, वहाँ निश्चय ही सर्वसाधारण जनता की भलाई के लिये, अपने मनोविनोद के लिये तथा सबसे बढ़कर अपने यशः गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये देशी भाषा को प्रश्रय देते थे। उसका आदर सत्कार करते थे। अतः यह स्वाभाविक था कि इससे देशी भाषा के साहित्य को बढ़ावा मिलता। इसके पूर्व प्राकृत साहित्य में विशाल वाङ्मय रचा जा चुका था। बाद में चलकर प्राकृत साहित्य ने कृत्रिमता का रूप धारण कर लिया। फलतः उसमें गत्यवरोध का हो जाना स्वाभाविक था। दूसरी बात यह है कि पालि और प्राकृत को बढ़ावा देने वाले बौद्ध एवं जैन धर्म ने आगे चलकर संस्कृत को अपना लिया या उन धर्मों से उत्पन्न विभिन्न मत मतान्तरों ने देशी भाषाओं की शरण ली। इसका यह मतलब नहीं कि प्राकृत में रचनाएँ होती ही नहीं थी। होती अवश्य थीं किन्तु उनमें स्वाभाविकता की अपेक्षा कृत्रिमता का आधिक्य था। संस्कृत की कुछ विशिष्ट स्थिति रही। भारत में प्रारम्भ से ही नाना प्रकार के धर्मों के उत्थान पतन के साथ-साथ संस्कृत का विकास तथा प्रसार निरन्तर होता रहा। धर्मों के खण्डन मंडन एवं पाण्डित्य प्रदर्शन का माध्यम यही रही। बड़े-बड़े धर्माचार्यों के शास्त्रार्थ इसीमें होते रहे। फलतः निर्विवादरूप

से इसकी महिमा की सत्ता को सभी लोग स्वीकार करते रहे और यही कारण है कि देशी भाषा को सुगम्य रूप से समझते हुए, दैनन्दिन कृत्यों में उसका उपयोग और प्रयोग करते हुए भी, उसको राजाश्रय बनाते हुए भी राजपूत नृपति गण, सामन्त गण संस्कृत को राजदरबार में प्रश्रय देकर अपने को अधिक गौरवान्वित समझते थे, अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे। कभी-कभी इस कार्य में धर्म भी सहयोग दे दिया करता था। इतना सब कुछ होते हुए भी संस्कृत बहुत पुरानी भाषा हो चुकी थी। वह केवल आदर और सत्कार के लिए ही थी। वह अब जीवन को स्पन्दित नहीं करती थी। साधारण जनता का उससे लगाव नहीं रह गया था। फलतः जनता की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अपभ्रंश हमारे समक्ष उपस्थित होती है। यही उस समय की देश भाषा थी। **कुवलयमाला कहा** में वर्णित 18 देशी भाषाओं से इसी बात की पुष्टि होती है। राजा **हर्षवर्धन** की मृत्यु के बाद राज्यों के उत्थान पतन की जो बाढ़ आयी थी उससे भी इस भाषा के विकास में बड़ा योगदान मिला। राज्यों के उत्थान, पतन एवं विदेश से आई हुई कुछ जातियों के संगम से इस भाषा में भी कुछ विदेशी शब्द घुल मिल गये। भारतीय आर्य भाषा में आर्येतर शब्दों के मेल की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही चलती आ रही थी। अपभ्रंश भाषा में भी यही प्रवृत्ति रही। इसी कारण कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया था कि अपभ्रंश भाषा विदेशियों के सम्पर्क से बनी थी। शूरसेन प्रदेश का कुछ ऐसा सौभाग्य रहा है कि प्रारम्भ से ही यह संस्कृति का केन्द्र रहा। संस्कृत और प्राकृत की भी कर्मभूमि यही रही। यहीं से चतुर्दिक इन सभी का विकास तथा विस्तार हुआ। इस अपभ्रंश के विकास में अगर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो राजपूतों के राजकोर्ट की अपेक्षा सांस्कृतिक एवं धार्मिक मतमतान्तरों ने अधिक योगदान दिया। इनके योगदान का कारण भी था। संस्कृत में अब वह जीवन्तता नहीं रह गयी थी। प्राकृत से सामान्य जनता का नाता टूट चुका था। इस युग के साधु सन्त लोग अपनी

बाणी को जनता तक पहुँचाना चाहते थे। स्वभावतः उन्हें जनता की बाणी का अवलम्बन लेना पड़ता था। इस समय तक पुराने धर्मों के आधार पर नाना प्रकार के मत मतान्तर चल पड़े थे। नाना तरह की सामाजिक रूढ़ियां चल पड़ी थीं। यह विचारधारा विचित्र प्रकार की आन्तरिक शुद्धियों, गुह्य विचारों, सिद्धियों, यौगिक प्रक्रियाओं, संसार को जीतने के लिये स्त्रियों को जीतने की सिद्धि एवं प्रवृत्तियों को लेकर चली थी। इस प्रवृत्ति ने अद्भुत चमत्कारिक कार्य कर दिखाने के विचित्र प्रकार की होड़ साधु सन्तों में मचा दी थी। इसके शिकार कभी-कभी नृपति गण भी हो जाया करते थे। इससे इन साधुओं का राजकीय सम्मान बढ़ जाता था। इन सिद्धों की वाणियाँ जनता की भाषा में ही व्यक्त हुआ करती थीं। जनता इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती थी। बौद्ध धर्म की दो शाखा हीनयान एवं महायान के बाद विभिन्न प्रकार की विचार धाराएँ चल पड़ीं। इसी से आगे चलकर सहज और सिद्ध सम्प्रदाय चल पड़ा। योगिनी और यक्षिणी की सिद्धि प्राप्त करना ही संसार की सिद्धि समझी गयी। इन सम्प्रदाओं में और भी विचित्र प्रकार की उद्‌भावनाएँ की गयीं। इन सिद्धों की वाणियों में अद्‌भुत शक्ति थी। एक समय इन वाणियों ने जन जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया था। इन्हीं की देखादेखी शाक्त और शैवों की विचार धाराओं में भी विचित्र प्रकार की प्रवृत्ति आयी। वाममार्गियों की सिद्धि ने तो समाज में अद्भुत प्रकार का रूप ही खड़ा कर दिया। इन सिद्धों की बाणियों में इतनी जीवन्तता थी कि तत्कालीन समाज ने इसी को सब कुछ मान लिया। इस जीवनी शक्ति को संचालित करने का माध्यम थी जनता की अपभ्रंश भाषा। जैन सम्प्रदाय भी इस होड़ा होड़ी में पीछे नहीं रहा। उसने भी अपने धर्म सम्प्रदाय के प्रचार के लिये पुरानी भारतीय कथाओं को अपने धर्म के मुताबिक नया परिवेश देकर जनता की वाणी में व्यक्त किया। साधारण जनता अपनी भाषा में इन जीवनी शक्तियों को बड़े आसानी से ग्रहण कर लेती थी। अब तक के अनुसंधान से यही पता चलता

है कि अधिकांश अपभ्रंश साहित्य जैन सिद्धांत से प्रभावित हैं। जैनियों की यह महती कृपा रही है कि उन लोगों ने अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों की सुरक्षा जैन भाण्डागारों में विदेशियों के आक्रमण एवं विनाश के भय से की। उन प्रकाशनों ने अपभ्रंश साहित्य पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। यह एक विचित्र बात है कि पूर्वी भारत में पैदा हुआ यह सम्प्रदाय पश्चिमोत्तर एवं पश्चिम दक्षिण भारत में सुरक्षित एवं पल्लवित हुआ। अनुसन्धान कर्ताओं के सत्प्रयास से सिद्धों की बानियाँ जो प्रकाश में आयीं उससे भी अपभ्रंश साहित्य पर बड़ा प्रकाश पड़ा। यह बड़ा भारी दुर्भाग्य रहा है कि बौद्धों के मठों की पुस्तकालयों का विदेशी आक्रामकों ने कई बार संहार किया है। अगर वे पुस्तकें भी सुरक्षित रहतीं तो अपभ्रंश साहित्य का बड़ा विस्तृत साहित्य उपलब्ध होता। इतना लिखने का एकमात्र उद्देश्य यही है कि अपभ्रंश के विकास में केवल राजपूत राजाओं का ही योगदान नहीं है अपितु इससे भी बढ़कर इसके विकास में धार्मिक सम्प्रदायों का बड़ा भारी योगदान है। यदि उस समय की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो यही विदित होगा कि इन सांस्कृतिक कारणों ने अपभ्रंश को प्रचुर साहित्य दिया। ये धार्मिक कृतियां होते हुए भी साहित्यिक अपभ्रंश की ही रचनायें ठीक उसी प्रकार मानी जायेंगी जिस प्रकार भक्ति काल के **तुलसी** और **सूर** आदि की साहित्यिक रचनाएँ हैं। इन धार्मिक प्रवृत्तियों ने जनता की वाणी को इतना मुखर बनाया जिससे यह भाषा कभी आधुनिक हिन्दी खड़ी बोली की भाँति सामान्य जनता से लेकर राजदरबारों तक सुप्रतिष्ठित होती रही। 12वीं या 13वीं शताब्दी में लिखित **उक्तिव्यक्तिप्रकरणम्** के देखने से यह विदित होता है कि कन्नौज के आसपास की भाषा भी इस शौरसेनी अपभ्रंश के बहुत समीप थी। यद्यपि इसके प्रयोग पूर्वी प्रयोग से अधिक तालमेल खाते हैं। यह गाहड़वार के राजकुमारों को सिखाने के लिये लिखी गयी थी। परवर्ती अपभ्रंश काल में लिखित **कीर्तिलता, संदेश रासक** एवं **प्राकृत पैंगलम्** आदि की

रचनायें विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से लिखी गयी थीं। एक समय ऐसा भी था जबकि गुजरात आदि प्रान्तों में अपभ्रंश साहित्य की रचनाओं के प्रति बड़ा प्रबल आकर्षण था।

शौरसेनी अपभ्रंश का फैलाव

इस तरह 7वीं या 8वीं शताब्दी में पश्चिम भारत में ऐसा प्रबल झंझावात आया जिसने भारत के समस्त उत्तराखण्ड को झकझोर दिया। राजनीतिक कारणों से समस्त उत्तर भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का फैलाव हो गया। सांस्कृतिक कारणों ने इसे पल्लवित और पुष्पित किया। इस अपभ्रंश में अपनी रचनाएँ लिखकर पूर्व के लोग अपने को उसी प्रकार गौरवान्वित समझते थे जिस प्रकार शूरसेन प्रदेश के लोग इसमें रचना लिखकर अपने को गौरवान्वित करते थे। राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र ने भी इसी अपभ्रंश को साहित्यिक रचना के लिये अपनाया। पश्चिम भारत में विशेषतया राजस्थान और गुजरात में शौरसेनी अपभ्रंश को बढ़ावा देने वाले जैनी लोग थे। इन आचार्यों तथा पण्डितों के प्रभाव से जहाँ एक ओर शौरसेनी अपभ्रंश में रचनाएँ लिखी गयीं वहीं दूसरी ओर 1000 ई० के लगभग सौराष्ट्र अपभ्रंश से उद्भुत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी में भी रचनाएँ की जाने लगीं। किन्तु परिनिष्ठित साहित्यिक दृष्टि से शौरसेनी अपभ्रंश की रचना निरन्तर होती रही। ये रचनाएँ बहुत कुछ माने में पूरबी अपभ्रंश की साहित्यिक रचनाओं से भिन्न होती जा रही थीं। इस साहित्य का परवर्ती रूप **प्राकृतं पैंगलम्** में देखा जा सकता है। पिंगल नाम करके तो एक साहित्यिक धारा ही बन गयी। इसमें रचनाएँ राजस्थानी आदि स्थानों में होने लगीं। **प्राकृत पैंगलम्** की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश से प्रभावित है। वस्तुतः यह शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रतिनिधित्व करती है। 'पिंगल' शब्द 'छन्द' को भी कहते हैं। हम देखते हैं कि पिंगल और डिंगल दो शब्द प्रचलित हो गये थे। डिंगल राजस्थान की काव्यात्मक भाषा हो गयी थी। शौरसेनी अपभ्रंश से ही पुरानी व्रजभाषा, और उससे

सम्पृक्त कन्नौजी और बुंदेल खंडी ही निकली थी। इस प्रकार ई० 1000 की शौरसेनी ई० 1500 के लगभग व्रजभाषा, कन्नौजी और बुंदेली में परिणत हो गयी। मालवी और पूरबी राजस्थानी भी शौरसेनी अपभ्रंश से सम्बद्ध थी। पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी-गुजराती) भी इससे प्रभावित थी। पंजाब की बोलियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

हेमचन्द्र का अपभ्रंश गुर्जर या शौरसेनी

जैसा पहले लिख चुके हैं अपभ्रंश की अधिकांश रचनाएँ जैनियों द्वारा लिखी गयीं, अधिकतर जैनी गुजरात के थे। इस कारण आधुनिक कुछ गुजराती पंडितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि अपभ्रंश भाषा का उद्‌गम स्थल गुजरात है शूरसेन प्रदेश नहीं। इस बात की पुष्टि में उन लोगों ने आचार्य **हेमचन्द्र** को उद्धृत किया है। उन्होंने जिस अपभ्रंश भाषा का व्याकरण लिखा है वह गुर्जर अपभ्रंश का ही प्रतिनिधित्व करता है। दूसरी बात **सरस्वती कण्ठाभरण** में **भोज** ने जो यह लिखा है—**अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः**। इस आधार पर गुजराती लेखक **मधुसूदन मोदी** ने यह दावा किया है कि गुजराती अपभ्रंश से ही अपभ्रंश साहित्य का विकास सर्वत्र हुआ। **श्री मोदी** जी का कहना है कि गुजराती से अपभ्रंश का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका कहना है कि गुजराती का अपभ्रंश से गंगोत्री की झरना की तरह सम्बन्ध है। **श्री केशवराम शास्त्री** ने भी **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण को 'गौर्जर अपभ्रंश' कहकर पुकारा है। किन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो यह मत पक्षपात ग्रस्त दीखता है। **सरस्वती कण्ठाभरण** की उक्ति से यही निष्कर्ष निकलता है कि गुजराती लोग अपनी ही अपभ्रंश से अधिक सन्तुष्ट होते हैं दूसरों की अपभ्रंश से नहीं। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि गुजरात ही अपभ्रंश की उद्‌गम स्थली है। यह सच है कि गुजरात में अपभ्रंश के साहित्य अधिक लिखे गये। **हेमचन्द्र** ऐसा प्रसिद्ध अपभ्रंश वैयाकरण गुजरात का ही था। इसका यह मतलब कभी भी नहीं होता कि अपभ्रंश का उद्‌गम स्थल गुजरात ही था। **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश व्याकरण के

उद्धरणों में जो दोहे पेश किये हैं वे विविध प्रकार के हैं। विभिन्न स्थानों के रचयिताओं की रचनाओं के हैं। इससे यह कहना कि **हेमचन्द्र** का अपभ्रंश व्याकरण गुर्जर अपभ्रंश का प्रतिनिधित्व करता है उसे सीमा के अन्तर्गत बांधना है। गुजरात के होते हुए भी **हेमचन्द्र** ने परिनिष्ठित अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है। **हेमचन्द्र** का काल 12वीं शताब्दी माना जाता है। इस समय तक अपभ्रंश भाषा का साहित्य समृद्ध हो चुका था। यह परिष्कृत रुचि वालों की भाषा हो चुकी थी। क्योंकि अन्यत्र **हेमचन्द्र** ने स्वतः **काव्यानुशासन** में ग्राम्य अपभ्रंश का भी उल्लेख किया है यानि लोक भाषा का उल्लेख किया जो कि उस समय शनैः-शनैः प्रकाश में अर्थात् साहित्य रूप में भी कहीं-कहीं परिलक्षित होने लगा था। अगर इस समय तक अपभ्रंश जनभाषा होती ही तो इस तरह का भेद उत्पन्न करने की आवश्यकता न होती। दूसरी बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि **हेममन्द्र** ने अपभ्रंश व्याकरण की रचना में उद्धरण स्वरूप दोहों को पेश किया है जो कि विविध समय में रचे गये थे। वस्तुतः किसी भी भाषा का व्याकरण तभी लिखा जाता है जबकि उसमें प्रचुर साहित्य लिखा जा चुका हो। भाषा में एकरूपता बनाये रखने के लिये ही व्याकरण रचा जाता है। यह सिद्ध हो चुका है कि **हेमचन्द्र** ने जिन दोहों का उपयोग **अपभ्रंश व्याकरण** में किया है वे विविध लोगों की रचनाएँ हैं। ऐसा इसलिये किया कि जिससे अपभ्रंश की व्यापकता पर ध्यान बना रहे। वह सीमित लोगों के लिये ही नहीं लिखा गया था। अगर वह केवल जैन भिक्खुओं के लिये ही लिखा गया होता तो नीति सम्बन्धी, वीरता सम्बन्धी एवं श्रृंगार सम्बन्धी दोहों का संकलन वे कभी नहीं करते। उन दोहों में भक्ति सम्बन्धी जो दोहे हैं वे केवल जैनियों से ही सम्बन्धित न होकर ब्राह्मण धर्म सम्बन्धी भी हैं। गंगा की महिमा का वर्णन, **महाभारत** की कथा का निदर्शन एवं **पुराण** प्रसिद्ध राजा **बलि** का चित्रण आदि से विदित होता है कि **हेमचन्द्र** का आधार विस्तृत था, सीमित नहीं। आजकल की तरह उस काल में यातायात सुविधा नहीं थी। अतः उपलब्ध सामग्री के आधार पर उन्होंने जिस

अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है वह सीमित अपभ्रंश का व्याकरण नहीं है, वह व्याकरण प्राचीन प्रणाली और पूर्वाचार्यों के अनुसरण पर बहुमान्य साहित्य के आधार पर लिखा गया था। उन्होंने अपनी अपभ्रंश का कहीं भी नामकरण भी नहीं किया है। क्योंकि अपभ्रंश भाषा का विकास तथा उसमें रचनाएँ बहुत दिनों से होती चली आ रही थीं। उस समय तक बड़े-बड़े आख्यानक काव्य, चरित काव्य एवं पुराण काव्य आदि लिखे जा चुके थे। ऐसी परिस्थिति में उन्होंने प्राप्त सामग्री के आधार पर अपने व्याकरण को विस्तृत रूप देने का प्रयत्न किया है। इसीलिये उन्होंने व्याकरण के नियमों को सार्थक बनाने के लिये विभिन्न रचनाओं से, उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस कार्य में **चण्ड** ने यद्यपि कुछ सहायता दी थी तथापि **हेमचन्द्र** को स्वतः व्याकरण के समग्र नियम बनाने पड़े थे। नियमों को पुष्ट करने के लिये उन्हें विविध साहित्य की छानबीन करनी पड़ी थी। इतना बड़ा परिश्रम उन्हें इसीलिये करना पड़ा था क्योंकि उस समय तक यह भाषा परिनिष्ठित हो चुकी थी, सुसंस्कृतों की हो चली थी। यदि यह भाषा उस समय जनभाषा ही होती तो उस समय उन दोहों को उद्धृत करने की कोई आवश्यकता न होती। कथ्य भाषा के रहने पर जनभाषा से ही उदाहरणों को प्रस्तुत किया जाता। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस अपभ्रंश का साहित्य समस्त आर्यावर्त में फैला हुआ था उस भाषा की रचनाओं में एकरूपता बनाये रखने के लिये विविध प्रकार के साहित्य से दोहे लिये गये। अपभ्रंश की बहुत-सी बोलियाँ थीं। जैसा कि **हेमचन्द्र** के पूर्ववर्ती कुछ अलंकार शास्त्रियों ने भी बताया था कि देश भेद तथा प्रान्त भेद से अपभ्रंश की बहुत सी विभाषायें यानी बोलियाँ थी, उन सभी से पृथक् रहकर साहित्यिक, बहुजन मान्य प्रामाणिक अपभ्रंश का ही व्याकरण लिखा अर्थात् उनमें एक रूपता दृष्टिगोचर किया। बोलियों का यथाशक्ति परिहार किया। यद्यपि इस विधान में **हेमचन्द्र** को सर्वत्र समान सफलता नहीं मिली है। नियम के अपवाद बहुत स्थल पर देखे जाते हैं। उन नियमों

का बहुत स्थल पर परिपालन नहीं देखा जाता है। दूसरी बात यह कि जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि अपभ्रंश का व्याकरण संस्कृत में लिखकर अपभ्रंश में क्यों नहीं लिखा। इसका कारण स्पष्ट है, **हेमचन्द्र** ने जितना भी व्याकरण लिखा है सब संस्कृत में ही लिखा है स्वभावतः अपभ्रंश का व्याकरण भी संस्कृत में लिखा। संस्कृत में व्याकरण लिखने की पद्धति ही चल पड़ी थी। कारण कि संस्कृत का व्याकरण बड़ा विशाल एवं निर्दुष्ट होता था। उसकी पारिभाषिक शब्दावलियाँ अधिक परिष्कृत एवं सुगम्य हो चुकी थीं। निदानतः संस्कृत में व्याकरण लिखने में सुविधा अधिक होती थी। **हेमचन्द्र** के परवर्ती काल तक यही बात रही। प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंशं के जितने भी व्याकरण लिखे गए सभी संस्कृत में ही थे। यहाँ तक कि जीवित भाषा 'कोसली बोली' का व्याकरण भी काशी के **पंडित दामोदर** ने राजकुमारों को लिखाने के लिये **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** संस्कृत में ही लिखा। अपभ्रंश एवं प्राकृत में व्याकरण न लिखे जाने का कारण यह भी हो सकता है कि कभी-कभी भाषा की अस्पष्टता के कारण विषय वस्तु स्पष्ट न होकर उलझ जा सकती थी। भाषा की अस्पष्टता व्याकरण को बहुत कुछ उलझन में डाल देती। अतः संस्कृत में व्याकरण लिखने की प्रथा सी ही चल पड़ी थी। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा में व्याकरण न लिखे जाने का कारण यह भी हो सकता है कि **हेमचन्द्र** के समय तक अपभ्रंश उन भाषा से अपना नाता तोड़ चुकी थी, यह सुसंस्कृतों की भाषा हो चुकी थी। यद्यपि इसीके विकसित रूप ने जनभाषा का स्थान-ग्रहण किया था फिर भी जिनका ज्ञान किताबी मात्र रह गया था उनके लिये आवश्यक था कि व्याकरण के नियमों को तो संस्कृत में स्पष्ट रूप से बता दिया जाए किन्तु उसका उदाहरण अपभ्रंश से दिया जाय। भाषा का स्पष्ट स्वरूप बताने के लिये ही अपभ्रंश के पूरे दोहे पेश किये गये। इसी बात का स्पष्टीकरण **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने (पुरानी हिन्दी पृ० 29-30) अपने ढंग से किया है—'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिये या सर्व साधारण के लिये उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत

के नियमों को, उनके सूत्रों की संगति को पदों या वाक्य खंड़ों में समझ लेते हैं। उसके दिये उदाहरणों को न समझते तो संस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण ढूंढ़ लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम यों समझ में नहीं आते। यदि **हेमचन्द्र** पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर ग्रन्थों तक पहुँच तो थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक भौं चढ़ाते थे उनके नियमों को नहीं समझते। इस तरह हम देखते हैं कि **गुलेरी जी** के अनुसार भी **हेमचन्द्र** के समय तक अपभ्रंश जीवित भाषा नहीं थी। क्योंकि **हेमचन्द्र** ने उदाहरणों के लिये न केवल कुछ आकर ग्रन्थों या लोक प्रसिद्ध साहित्य से उदाहरण लिये बल्कि स्वयं भी कुछ गढ़े।

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश व्याकरण को कहीं भी शौरसेनी अपभ्रंश नहीं बताया है। सर्वत्र उसने अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया है। इसी कारण कुछ लेखकों ने यह आपत्ति उठाई है कि इसे किस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश माना जाय। यह तो वस्तुतः एक परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा थी। **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश का विधान करते हुए प्रथम सूत्र के स्वर प्रक्रिया (8/4/329) की वृत्ति में लिखा है कि **प्रायोग्रहणाद्यस्याऽपभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते, तस्याऽपि क्वचित् प्राकृत वत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति।** अन्यत्र एक दूसरे सूत्र में (8/4/446) भी लिखा है—**अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति।** प्रथम सूत्र के मुताबिक अपभ्रंश की स्वर प्रक्रिया का आधार दो है :—1. प्राकृत और 2. दूसरा है शौरसेनी। प्राकृत से तात्पर्य महाराष्ट्री से है। महाराष्ट्री से आधुनिक महाराष्ट्र में प्रचलित मराठी का प्रतिनिधि न मानकर **श्री मनमोहन घोष** ने शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न एक विषेष प्रकार की छोटी मध्य देशीय बोली सिद्ध किया है। **वररुचि** ने प्राकृत शब्द का अर्थ **प्रकर्षेण आकृतं**=अत्युत्तम बोली का ही उल्लेख किया है, जो कि शौरसेनी ही रही होगी। पूर्वोक्त मत स्थापना की सत्यता का प्रश्न वाचक चिह्न के साथ

स्वीकार करते हुए **डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या** ने (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० 190) लिखा है कि यदि यह सही है तो महाराष्ट्री प्राकृत, शौरसेनी प्राकृत तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की केवल एक अवस्था मात्र सिद्ध हो जाती है। **वररुचि** के समय में ही यह भाषा (महाराष्ट्री शौरसेनी प्राकृत) आभ्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय स्थ भा० आ० तक पहुँच चुकी थी। इसी कारण हम देखते हैं कि **हेमचन्द्र** के **प्राकृत व्याकरण** में प्राकृत यानि सामान्य व्याकरण पर विशेष लिखा गया है जो कि शौरसेनी प्राकृत की ही विशेषता बताता है। शौरसेनी प्राकृत का अपभ्रंश व्याकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ा दिखाई देता है। **हेमचन्द्र** ने 446 वें सूत्र में—**अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति** जो कहा है उससे इसी बात की पुष्टि होती है। यहाँ पर एक बात विचारणीय है कि जिस शौरसेनी प्राकृत का **हेमचन्द्र** ने वर्णन किया है उसका विशिष्ट व्याकरण तो उन्होंने बहुत कम लिखा है। यों तो 260 से 289 सूत्रों में ही शौरसेनी का व्याकरण लिखा है। विचार पूर्वक देखने से पता चलता है कि जिस सामान्य प्राकृत का व्याकरण उन्होंने लिखा है वह वस्तुतः शौरसेनी प्राकृत की ही विशेषता है। इनके प्राकृत व्याकरण के द्वितीय पाद का जो धात्वादेश है वह वस्तुतः अपभ्रंश का भी धात्वादेश है क्योंकि उस धात्वादेश के अधिकांश नियम अपभ्रंश के दोहों पर भी लागू होते हैं। अतः **हेमचन्द्र** का **अपभ्रंश व्याकरण** के अन्त में **शेषं शौरसेनीवत्** 8/4/446 कहना बहुत अधिक उचित है। इस प्रकार जब हम **हेमचन्द्र** के **प्राकृत व्याकरण** पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें निर्विवाद रूप से यह मान लेना पड़ता है कि **हेमचन्द्र** ने शौरसेनी अपभ्रंश का ही व्याकरण लिखा है जो कि अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप था। संभवतः इन्हीं सभी कारणों से **एल० पी० तेस्सितोरि** एवं **पिशेल** ने हेम अपभ्रंश को शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। **तेस्सि तोरि** (पुरानी राजस्थानी भूमिका पृ० 5) महोदय का कहना है 'शौरसेन

अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः **हेमचन्द्र** के प्राकृत व्याकरण 4/329-446 सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। **हेमचन्द्र** 12वीं शताब्दी ई० (सं० 1144-1228) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है; इसलिये इस प्रमाण के आधार पर हम **हेमचन्द्र** वर्णित शौरसेनी अपभंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम 10वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं। हम देखते हैं कि जिस शौरसेनी अपभ्रंश का चित्रण **हेमचन्द्र** ने किया है उसी का प्रतिनिधित्व परवर्ती अपभ्रंश ने भी किया है। यह अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा का प्रतिनिधित्व करता है। **प्राकृतपैंगलम्** और **संदेश रासक** आदि इसके प्रमाण हैं। इस तरह हम पाते हैं कि 'मध्यदेशीय भाषा का प्रभुत्व अविच्छिन्न रूप से ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के सारे काल में, और उससे पहले से भी, कायम रहा। वस्तुतः मध्यदेश भारत का हृदय और जीवन संचार का केन्द्र स्थल रहा है। यहीं से वैदिक संस्कृत–इसीसे मध्यदेशीय भाषा, शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश का विकास हुआ। इसीसे व्रज भाषा, खड़ी बोली हिन्दी आदि की परम्परा चली। इसी तरह भारतीय आर्य भाषा की दूसरी परम्पराएँ भी हैं जैसे वैदिक, प्राच्या भाषा > मागधी प्राकृत और अपभ्रंश > भोजपुरी, मगही, मैथिली, असमिया, बंगला और उड़िया। तीसरी परम्परा भी मानी गयी है **वैदिक** > दाक्षिणात्या भाषा > विदर्भ में प्रचलित प्राकृत और अपभ्रंश > मराठी।

मध्यदेश वालों के विषय में 9वीं शताब्दी के **राजशेखर** ने कहा है :– **यो मध्ये मध्य देशं निवसति, सकविः सर्वभाषा निषण्णः** जो मध्यदेश के मध्य भाग में रहता है वह कवि सभी भाषाओं में प्रवीण होता है। शौरसेनी के पश्चात पश्चिमी अपभ्रंश का महत्वपूर्ण स्थान आया है। पश्चिमी अपभ्रंश का व्यवहार उत्तर भारत के राजपूत नृपति गणों की राजसभाओं में हुआ। यह हम पहले लिख चुके हैं कि इस महान साहित्यिक भाषा की परम्परा

समस्त उत्तर भारत में फैल गयी थी। महाराष्ट्र से लेकर बंगाल तक इसकी महत्ता स्थापित थी। पूर्वी भारत के बंगाली कवि भी इसमें कविता करने में अपना गर्व अनुभव करते थे। 10 वीं शताब्दी से 12वीं शताब्दी तक साहित्यिक भाषा के रूप में तथा दैनिक व्यवहार की भाषा के रूप में इस भाषा का विकास एवं विस्तार बड़े प्रबल गति से हुआ। व्रजभाषा की साहित्यिक सत्ता स्वीकृत हो जाने के पूर्व तक इसकी सत्ता विराजमान थी। संभवतः इन्हीं सभी विचारधाराओं को अपनी दृष्टि में रखकर जैन आचार्य प्राकृत वैयाकरण **हेमचन्द्र** ने इसी अपभ्रंश का व्याकरण लिखा। इस अपभ्रंश की अधिकांश शब्द प्रक्रिया के बीज व्रज और हिन्दुस्तानी में अच्छी तरह पाये जा सकते हैं। इसका यह तात्पर्य कभी भी नहीं कि दूसरी न० भा० आ० भाषाओं में इसके बीज नहीं मिल सकते। अपभ्रंश से न० भा० आ० भाषाओं तक पहुंचने का एक और सोपान जरूर रहा होगा जिसे हम अवहट्ट कह कर पुकारते हैं। इसकी विशेषताएँ **प्राकृतपैंगलम्** एवं **संदेश रासक** आदि में देख सकते हैं। इसी बात की पुष्टि करते हुए **श्री तेस्सितोरि** ने कहा था– व्यावहारिक निष्कर्ष यह है कि हमारे लिये **प्राकृत-पैंगलम्** की भाषा **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं की आरंभिक अवस्था के बीच वाले सोपान का प्रतिनिधित्व करती है और यह दसवीं से ग्यारहवीं अथवा संभवतः बारहवीं शताब्दी के ईस्वी के आसपास की भाषा कही जा सकती है।' इसी अवस्था के बाद आधुनिक भाषायें आती हैं। इसका प्रतिनिधित्व वास्तविकतया **चन्दवरदायी** की कविताओं में मिलता है जिसे कि हम प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कह सकते हैं। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि इसमें प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के तत्व नहीं पाये जाते हैं। प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी से मतलब है गुजराती तथा मारवाड़ी। यह नाम सर्वप्रथम **ग्रियर्सन** ने दिया है अनन्तर **तेस्सि तोरि** ने इसी से पुष्टि की है। **ग्रियर्सन**[112] ने एक जगह **मार्कण्डेय** के अनुसार **अपभ्रंश और ढक्की प्राकृत** शीर्षक निबन्ध में लिखा है कि **हेमचन्द्र** का **अपभ्रंश**

व्याकरण सर्वविदितं है। यह वस्तुतः पुरानी गुजराती है और यह बताता है कि यह शौरसेनी या परिनिष्ठित अपभ्रंश की (जो कि वस्तुतः बहुत सी बोलियों का सम्मिश्रण है) बोली थी या कम से कम यह गुजरात के कुछ हिस्सों में बोली जाती थी।

हेमचन्द्र की अपभ्रंश का पूर्वी बनारसी बोली से तुलना

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहों में **पं० केशव प्रसाद मिश्र** ने पूर्वी हिन्दी प्रदेश की एक बोली (बनारसी बोली) में बहुत से शब्द रूपों एवं मुहावरों में एकरूपता दिखाई है। इससे कुछ-कुछ यह भी प्रतीत होता है कि यह अपभ्रंश पश्चिमी प्रदेश का ही नहीं अपितु पूर्वी प्रदेश की भाषा का भी प्रतिनिधित्व करती है। उदाहरण—

अपभ्रंश	**बनारसी**
(i) दिअहा जंति झडप्पडहिं	दिनवाँ जॉय झटपट्य
(ii) पडहिं मनोरह पच्छ	पडय मनोरथ पाछ
(iii) वट्टइ	वाट्य
(iv) पुत्तें जाए कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण	पूत भइले कवण गुन अवन कवन मुइले
(v) जावप्पी की भुंहडी	जेकर वापेक भुइयाँ
(vi) चम्पिज्जइ अवरेण	चांपल जाय अवरे
(vii) ओ गोरी मुह निज्जिअउ	ओ गोरी मुँह जीतल
(viii) वद्दलि लुक्कु मियंकु	वदरे लुकल मयंक

(क) इस प्रकार भोजपुरी के जवन, तवन, कवन आदि रूप शुद्ध अपभ्रंश के हैं।

(ख) वट्टइ रहइ का उच्चारण वाट्य रह्य होता है।

(ग) कर, जेकर, तेकर, कन्ताक आदि शब्द अपभ्रंश के संबंध वाचक से विकसित हुए हैं।

(ङ) खल्लडउ=खल्लड़, चम्पिज्जइ=चांपल जाय, वद्दलि=वदरे, लुक्क=लुकल में जो समानता है, वह दोनों भाषाओं के तात्त्विक सम्बन्ध को सूचित करती है।

पिशेल ने **प्राकृत व्याकरण** की भूमिका में (§3) देश भेद से अपभ्रंश का बहुत सा भेद मानते हुए शूरसेन प्रदेश की शौरसेनी अपभ्रंश को प्रमुख भाषा माना है। यह कभी शूरसेन प्रदेश की जनता की बोली रही। आजकल इसकी परम्परा में गुजराती और मारवाड़ी भाषायें हैं। **पिशेल** के अनुसार एक शौरसेनी प्राकृत भी थी जो कि कृत्रिम भाषा थी और नाटकों के काम में लायी जाती थी। इसकी सारी रूपरेखा संस्कृत से मिलती है; किन्तु शौरसेनी अपभ्रंश में भी आत्म संवेदनामय कविता लिखी जाती थी और आत्म संवेदनामय कविता की मुख्य प्राकृत भाषा में महाराष्ट्री के ढंग पर गीत, वीर रस की कवितायें रची जाती थीं; इसमें बोली के मुहावरे आदि मुख्य अंग वैसे ही रहते थे जैसे कविता में प्रचलित थे। **हेमचन्द्र** ने (8/4/446) सूत्र में इसका उदाहरण दिया है :-

कण्ठि पालंबु किदु रदिए,

शौरसेनी प्राकृत में इसका रूप—

कण्ठे पालंबं किदं रदीये

और महाराष्ट्री में—

कण्ठे पालंबं कअम रईए।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि इसी अपभ्रंश का विस्तार साहित्यिक भाषा के रूप में समस्त भारत में हुआ। **हेमचन्द्र** ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा वह वस्तुतः यही अपभ्रंश थी। निरर्थक ही **श्री मोदी जी** ने इस अपभ्रंश का उद्गम स्थल राजस्थान और गुजरात को माना है। उनके अनुसार यहीं से यह भाषा साहित्यिक क्षमता प्राप्त कर उत्तर आर्यावर्त में फैली। इस साहित्य पर उत्कृष्ट

साहित्यिक भाषा वाली महाराष्ट्री प्राकृत के आदर्श की छाप पड़ी। यह अपभ्रंश संस्कृत के असर से भी अछूती नहीं रह सकी है। **हेमचन्द्र** ने स्वतः अपभ्रंश व्याकरण के अन्त में **शेषं संस्कृतवत् सिद्धम्** कहकर इस बात की पुष्टि की है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसने सर्वत्र संस्कृत की ही नकल की है। **हेमचन्द्र** के **संस्कृतवत् सिद्धम्** कहने का एकमात्र तात्पर्य यही है कि संस्कृत व्याकरणबद्धता के अनुकूल ही शास्त्रीय साहित्यिक अपभ्रंश भाषा की भी रचना हुई। वस्तुतः **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश, **पुष्पदन्त** की अपभ्रंश और **दोहा कोश** की अपभ्रंश सब एक ही अपभ्रंश थी।

हेमचन्द्र द्वारा वर्णित अपभ्रंश का स्वरूप

हेमचन्द्र ने चतुर्थ पाद के 329 सूत्र से 446 तक के सूत्रों में स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश भाषा का वर्णन किया है। इसमें परिनिष्ठित शौरसेनी अपभ्रंश का वर्णन किया गया है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों एवं उद्धृत दोहों के देखने से प्रतीत होता है कि **हेमचन्द्र** ने कई बोलियों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। **पिशेल** (प्राकृत व्याकरण §28) ने भी इस बात की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'उसके नियमों को ध्यान से देखते ही यह निदान निकलता है कि अपभ्रंश नाम के भीतर उसने कई बोलियों के नियम दिये हैं।' इस बात की पुष्टि **डा० ए० एन० उपाध्ये**[113] ने भी की है। स्पष्टतः **हेमचन्द्र** ने कहीं भी किसी अपभ्रंश की बोली का उल्लेख नहीं किया है जैसा कि परवर्ती लेखक **मार्कण्डेय** तथा अन्य ग्रन्थकारों ने किया है। सावधानी से **हेमचन्द्र** के नियमों का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी अपभ्रंश एक ही प्रकार की नहीं है। इसके अपभ्रंश में कई उप बोलियों का समन्वय है। इस बात की पुष्टि अपभ्रंश व्याकरण के प्रथम सूत्र 8/4/329 से होती है—**प्रायो ग्रहणाद्यस्यापभ्रंशे विशेषो वक्ष्यते, तस्यापि क्वचित्प्राकृतवत् शौरसेनीवच्च कार्यं भवति।** इसके विषय में पहले विचार किया जा चुका है। उदाहरण स्वरूप प्राकृत और

अपभ्रंश में 'ऋ' की जगह अ, आ, इ, ए, और ओ परिवर्तन होता था, कभी कभी ऋ की रक्षा भी की जाती थी—तृणु 329 सुकृदु 329 और गृहन्ति 341 गृण्हेप्पिणु 394, 438। **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश में स्वर नियम को पूर्ण व्यवस्थित नहीं माना है। कभी-कभी अपभ्रंश में अनावश्यक र का आगम भी हो जाता है—8/4/399 'व्रासु' प्रयोग भी देखा जाता है जो कि 'व्यास' शब्द की जगह प्रयुक्त हुआ है। यह किसी बोली का संकेत करता है। संभवतः यह पैशाची बोली का रूप था। 8/4/360—ध्रुं, त्रं, 4/327—तुध्र, 4/393—प्रस्सदि, 4/391—ब्रोप्पिणु, ब्रोप्पि और कभी कभी ब्रासु की जगह ऋ भी लिखा जाता था। **हेमचन्द्र** ने जो इस प्रकार के नियम विधान किये हैं उससे प्रतीत होता है कि उसने दूसरी बोलियों के शब्दों का विधान किया है। उसके 4/396 के अनुसार अपभ्रंश भाषा में क, ख, त, थ, प, फ क्रमशः ग, घ, द, ध, ब और भ, में बहुधा बदल जाता है। नियम 4/446 भी जिसमें कहा गया है कि अपभ्रंश के अधिकांश नियम शौरसेनी के समान ही हैं वे अपभ्रंश के अन्य नियमों के विरुद्ध हैं। पूर्वोक्त नियम अपभ्रंश के जिन तत्वों को बताते हैं, वे नियम उसके अन्य सूत्रों से मेल नहीं खाते। इस तरह जब हम **हेमचन्द्र** की प्राकृत भाषाओं के साथ उनकी कुछ विशेषताओं पर ध्यान देते हैं तो हमें पता चलता है कि वे आपस में कभी इतनी विरुद्ध जान पड़ती हैं कि एक भाषा में उनकी उपस्थिति संभव प्रतीत नहीं होती। **पिशेल** महोदय पूर्वोक्त विशेषताओं को पैशाची के अन्तर्गत अवलोकन करते हैं। हम देखते हैं कि **हेमचन्द्र** ने कुछ सामान्य विशिष्टताओं के साथ साथ कुछ क्षेत्रीय गुणों को भी अपना लिया है। उन्होंने विकल्प करके अपभ्रंश में प्राकृत के बहुत से रूपों को ग्रहीत किया है। अपभ्रंश में उद्धृत कुछ दोहों में वस्तुतः प्राकृत की कुछ विशेषताओं को भी अपवाद रूप से सम्मिलित कर लिया है उदाहरण स्वरूप सूत्र 4/447[114] में लिखा है कि प्राकृतादि भाषा लक्षणों का व्यत्यय अपभ्रंश में भी होता है। जैसे मागधी में तिष्ठ का चिष्ठ होता है वैसे ही प्राकृत, पैशाची और शौरसेनी में भी होता है। जैसे अपभ्रंश में

विकल्प करके रेफ का निम्न भाग लुप्त होता है वैसे ही मागधी में भी होता है—**शद-माणुश-मंश-भालके कुम्भ शहस्र-वशाहे शंचिदे इत्याद्यन्यदपि द्रष्टव्यम्।** इस तरह हम देखते हैं कि **मार्कण्डेय** ने थोड़े थोड़े भेद के साथ अपभ्रंश भाषा के 3 भेद किये हैं— 1. नागर 2. ब्राचड और 3. उपनागर। इस भेद को **क्रमदीश्वर** ने भी स्वीकार किया है। मुख्य अपभ्रंश नागर है। **मार्कण्डेय** के अनुसार **पिंगल** की भाषा नागर है। ब्राचड नागर अपभ्रंश से निकली हुई बताई गयी है जो कि **मार्कण्डेय** के अनुसार सिन्ध देश की बोली है—**सिन्धु देशोद्भवो ब्राचडोऽपभ्रंशः।** इसके विशेष लक्षणों में से **मार्कण्डेय** ने दो बताये हैं—च और ज के आगे इसमें य लगाया जाना और ष तथा स का श में बदल जाना। ध्वनि के वे नियम जो मागधी के व्यवहार में लाये जाते थे और जिन्हें **पृथ्वीधर** ने सकार की भाषा के ध्वनि नियम बताये हैं, अपभ्रंश में भी लागू बताये जाते हैं। इसके अलावा आरम्भ के त और द की जगह ट और ड का हो जाना एवं भृत्य आदि शब्दों को छोड़कर ऋकार वर्ण को जैसे तैसे रहने देना—इसके विशेष लक्षण हैं। नागर और ब्राचड भाषाओं के मिश्रण से उपनागर निकली है। 'शाक्की' या 'शक्की' को भी अपभ्रंश भाषा में सम्मिलित किया गया है जिसे **मार्कण्डेय** संस्कृत और शौरसेनी का मिश्रण समझते हैं। यह एक प्रकार की विभाषा मानी गयी है। अपभ्रंश के भेद उपनागर[115] के अन्तर्गत **पुरूषोत्तम** ने क्षेत्रीय बोलियों का भी उल्लेख किया है जैसे वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौडी और कुछ प्रदेशों की बोलियाँ जैसे—टक्क, वर्वर, कुन्तल, पाण्ड्य, सिंहल आदि। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा की बोलियाँ सिंध से लेकर बंगाल तक बोली जाती रही होगी। **हेमचन्द्र** ने मुख्य उपबोलियों का उल्लेख करके एक ही प्रकार की अपभ्रंश के अन्तर्गत सबका समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा रही है। इसका सम्बन्ध वैदिक भाषा से भी जोड़ा जाता है। विभक्तियों के कुछ रूप सीधे संस्कृत

से सम्बन्ध न रखकर वैदिक से रखते हैं। **मार्कण्डेय** तथा अन्य लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'देवहो' वैदिक 'देवासः' से अधिक मिलता जुलता है। इस तरह 'देवहँ' प्राकृत के 'देवस्स' से, 'ताहँ' तस्स से, तहिं तसि से और एहु ऐसो से लिया गया है। प्रधान अपभ्रंश नागर अपभ्रंश है। इसी का वर्णन **हेमचन्द्र** ने किया है। 12वीं शदी में लिखा गया **हेमचन्द्र** का **अपभ्रंश व्याकरण** न० भा० आ० की उत्पत्ति का कारण बना। पहले लिखा जा चुका है कि इस अपभ्रंश में स्थानीय बोलियों के लक्षण भी पाये जाते हैं। स्वभावतः गुजरात की बोली भी इससे मुक्त नहीं थी। **प्रो० हरि वल्लभ भयाणी**[116] ने जैन सम्प्रदाय के आधार पर अपभ्रंश का भेद किया है। इसी प्रकार का विभाजन कुछ लोगों ने प्राकृत का भी किया था। दिगम्बरों की रची हुई अपभ्रंश और श्वेताम्बरों द्वारा रची गयी रचना। उन्होंने दिगम्बर अपभ्रंश का प्रभाव व्रजभाषा एवं पश्चिमी हिन्दी की बोलियों पर माना है। श्वेताम्बर या गौर्जर अपभ्रंश के कुछ लक्षण गुजराती और मारवाड़ी में पाये जाते हैं। उन्होंने **धनपाल** की **भविसत्त कहा** और **पुष्पदन्त** की रचनाओं को दिगम्बर जैन अपभ्रंश से प्रभावित माना है। **हरिभद्र** का **णेमिणाह चरिउ** और **सोमप्रभ** के **कुमारपाल प्रतिबोध** की अपभ्रंश आदि रचनाओं में गौर्जर अपभ्रंश का अवलोकन किया है। **हेमचन्द्र** के उद्धृत अपभ्रंश दोहे शिष्ट नागर अपभ्रंश हैं। दूसरे पक्ष में सम्बन्ध भूत कृदन्त में °इ प्रत्यय के °ह विकरण वाले भविष्यत् रूप का अभाव है। कहीं आज्ञा द्वि० पुरुष एक वचन का °उकारान्त रूप, सम्बन्ध भूत कृदन्त का °इकारान्त रूप होता है, इसी के अनुरूप षष्ठी का प्रत्यय होता है। इस लक्षण के अनुसार श्वेताम्बर जैन में गौर्जर अपभ्रंश विशेष रूप से मिलते हैं। इसके विपरीत °इ वाले तृतीया रूप के लक्षण दिगम्बर जैन अपभ्रंश में सामान्यतः पाये जाते हैं। **पउमसिरी चरिउ** की अपभ्रंश में विभिन्न लक्षण वाले कुछ रूप पाये जाते हैं। **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश में न० भा० आ० के आधुनिक लक्षण पाये जाते हैं जिससे कि 12वीं शताब्दी ईस्वी के पूर्व की अपभ्रंश का स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है।

संदर्भ

1. भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोऽपभ्रंशाः (महाभाष्य 1/1/1)।
2. शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्' (दण्डी-काव्यादर्श 1/36)
3. शब्द संस्कार हीनो यो गौरितिप्रयुयुक्षिते।

   तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशिनम्।।

   शब्द प्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढ़तामापाद्यमानाः स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशालभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्येत्तशब्दतया प्रमाणादिभिर्वागव्यादय तयावतयीऽपभ्रंशारूपयर्दाने /वाक्य० 1/148 वार्तिक।
4. ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्ति हेतवः

   तादात्म्युपगम्येव शब्दार्थस्य प्रकाशकः। वाक्यपदीय 1/151
5. सर्वस्यह्यपभ्रंशस्य साधुरेव प्रकृतिः। पुण्यराज, वाक्यपदीयम् में 1/149
6. न त्वेषां साधु त्वमसाधुत्वं व व्यवस्थितम्। वाक्य०
7. केषांचित्त्वसाधुरेव साक्षाद्वाचकइत्याह।

   पारम्पर्यादपभ्रंशा निर्गुणेष्वभिधातृषु।

   प्रसिद्धिमागता ये तु तेषां साधुरवाचकः। वाक्यपदीय 1/115
8. नन्वेवं पङ्कज पदस्येवापभ्रंशानामपि शक्तिस्ततो नियमेनार्थप्रतीतेः व्यवहाराधीन व्युत्पत्तिरेव विशेषात्। वाक्यपदीय पर टीका
9. सा च शक्तिः संस्कृत एव सर्वदेशे तस्यैकत्वात् नापभ्रंशेषु तेषां प्रतिदेशमेकत्रार्थे भिन्न-भिन्न रूपाणां तावच्छक्ति कल्पने गोरवात्।

   (वाक्यपदीय 1/155 पर टीका)
10. मागध दाक्षिणात्य तदपभ्रंशप्रायासाधु शब्द निबन्धना हि ते-**तन्त्रवार्तिक** 1/3/12/पूना प्रकाशन पृ० 237।

11. अत्यारूढ़िर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा।

(शाकुन्तलम् 4/5 बंगला संस्करण)।

12. त एव शक्तिवैकल्य प्रमादालसतादिभिः। अन्यथोच्चारिताः शब्दा–अपशब्दा इतीरिताः (भर्तृहरि)।

13. अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप। देशभाषा विशेषेण।

(विष्णुधर्मोत्तर 3/3)।

14. किं चि अवब्भंस–कआ–दा (अल्फ्रेड मास्टर द्वारा BSOAS. XIII, 2 में उद्धृत), ता किं अवहंस होहिइ ? (अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृ० 17 पर उद्धृत)।

15. सक्कय पायउ पुणु अवहंसउ (सन्धि 5, कड़वक 18)

16. अवहत्थे' वि खल–यणु णिरवसेसु (रामायण–1/4, हिन्दी काव्यधारा में उद्धृत)

17. अवहट्टय सक्कय–पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।

लक्खण छंदाहरणेसुकइत्तं भूसियं जेहि।। (प्रथम प्रकम, छंद 6)

18. देसिल वयना सबजन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा (पृ० 6)

19. पुनु कइसन भाट–संस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची सौरसेनी मागधी–छहु भाषा क तत्वज्ञ–**वर्णरत्नाकर** (षष्ठ कल्लोल, पृ० 44)

20. प्रथम भाषा तरंङः प्रथम आद्यः भाषा अवहट् भाषा (प्रथम गाथा की टीका)

21. 'तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादादिभिर्वागाव्यादयस्तत् प्रकृतयोऽपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते (वाक्यपदीय–1/148 वार्तिक)।

22. गोर गावी–(प्राकृत लक्षणम् 2/16)

23. 'गोणादयः' (सिद्धहेमशब्दानुशासन–4/2/174) सूत्र की टीका में कहा है–गोणादयः शब्दा अनुक्त प्रकृति प्रत्यय लोपागम वर्णविकारा बहुलं निपात्यन्ते गौः, गोणो, गावी, गावः, गावीओ आदि। इन शब्दों को महाराष्ट्र और विदर्भ आदि के शब्द कहा है–इत्यादयो महाराष्ट्र विदर्भादिदेश प्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः।

24. 'खीरीणियाओ गावीओ', गोणं वियालं (आचार–2/4/5), णगर गावीओ विपा० 1,2–पत्र 26–आदि।

25. 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' भूमिका पृ० 73।

26. 'भविसयत्तकहा' की भूमिका पृ० 47।

27. त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समान शब्दैर्विभ्रष्टं देशी मतमथापि वा।
गच्छन्ति पदन्यस्ता ते विभ्रमा (ष्टा) इति ज्ञेयाः–ना० शा० 17/2–4

28. एच० स्मिथ–**डेसिनेंसेस ड्यु टाइप अपभ्रंश इन पालि** बी एस एल 33, 169–72 (1932)।

29. हि० ग्रा० अप० द्वारा उद्धृत, **हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश** §1–डा० जी बी० तगारे, पूना 1948।

30. "भाषा संस्कृतापभ्रंशः, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च, एता एव नाट्ये तु।" (भरत नाट्य शास्त्र–17–48 पर अभिनव भारती)

31. 'संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध प्रबन्धरचना निपुणतरान्तः करणः इत्यादि' (वलभी के धारसेन द्वितीय का दान पत्र)

32. इन्डियन एंटिक्वेरी, भाग 10 अक्टूबर 1881, पृ० 277।

33. 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' वो० 1, पृ० 529, कलकत्ता विश्वविद्यालय 1962, ले०–एस० एन० दास गुप्ता।

34. तदेतत् वाङमयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्।। काव्यादर्श–1/32
संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृत क्रमः। वही 1/33
आभीरादि गिरः काव्येषु अपभ्रंश इति स्मृतः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम्।। वही 1/36

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं सन्धिकादिकम्।
आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादि मिश्रकम्।। वही 1/37

35. पृथ्वीधर on मृच्छकटिक reads शकार and शबर for शयर and सचर Possibly he wants to escape the difficult word सचर. The शकारी besides being included under मागधी, would be in strange company with the dialects that are partly connected with tribes like शबर, आभीर etc. and partly with regiones or countries like द्रविड, औड्र, शाकारी is a name given to a dialect on account of its phonetics peculiarties and is possibly later than the मृच्छकटिक Sir George Grierson apparently sides with पृथ्वीधर।

- J.R.A.S. 1918. p. 491.

36. **ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर**—पृ० 522, कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1962

37. **भविसयत्त कहा की भूमिका**—पृ० 51, डा० गुंणे द्वारा उद्धृत।

38. It goes without saying that as the region occupied by these people changed either from time to time at the same time, their Apabhrans also differed, thus making up the different Varities of Apabhrans mentioned by some later Prākrit Grammarions. **भविष्यत कहा की भूमिका** पृ० 64।

39. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, भाग 6, संख्या 1 से उद्धृत।

40. भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति।। 2/11
प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच, भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः।। काव्यमाला—1/12

41. ता किं अवहंसं होइहि? हूँ तँ पि णो जेण तं सक्कंय पायय—उभय सुद्धासुद्ध पयसम तरंग रंगंत वग्गिरं णव पाउस जलय पवाह पूर पव्वालिय गिरिणइ सरिसं सम विसमं पणय कुविय पिय पणइणी

समुल्लाव सरिसं मणोहरं। (एल० वी० गान्धी—**अपभ्रंश काव्यत्रयी भूमि०**—पृ० 97-98)।

42. देशेषु देशेषु पृथग्विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत्स्यादपभ्रष्ट संज्ञं ज्ञेयं हि तद्देश विदोऽधिकारम्।।

विष्णुधर्मोत्तर—7/3

43. अपभ्रष्टं तृतीयञ्च तदनन्तं नराधिप?
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते।।

विष्णुधर्मोत्तर—अ० 3 खण्ड 3।

44. संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्।
इति भाषा चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्।।

वाग्भटालंकार—2-1।

45. अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्। वाग्भटालंकार 2-3।

46. देशस्य कुरु मगधादेरुद्देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्व स्वदेश सम्बन्धिनी भाषा निबन्धनीयेति। इयञ्च देशगीश्च प्रायोऽपभ्रंशे निपतीति'।

नाट्यदर्पण—124

47. पद्यं प्रायः संस्कृत—प्राकृतापभ्रंश—ग्राम्य भाषा निबद्ध भिन्नात्यन्त्य वृत्तसर्गाश्वास सन्ध्यवस्कन्ध कबन्ध सत्सन्धि शब्दार्थ वैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्। अपभ्रंश भाषा निबद्ध सन्धि बन्धमब्धि मथनादि, ग्राम्यापभ्रंश भाषा निबद्धावस्कन्धकबन्धं भीमकाव्यादि।

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र—8/330-7।

48. **भाषा का इतिहास**—श्री भगवद्दत्त बी० ए०—प्रकाशन लाहौर।

49. मागध—दाक्षिणात्य तदपभ्रंशप्राया साधु शब्द निबन्धना हि ते—। पृ० 239—किमुत यानि प्रसिद्धापभ्रष्ट—भाषाभ्योऽप्यपभ्रष्टतराणि 'भिक्खवे' इत्येवमादीनि द्वितीया बहुवचन स्थाने ह्येकारान्तं प्राकृतं पदं दृष्टम्, न प्रथमा बहुवचने संबोधनेऽपि। 'संस्कृत' शब्द स्थाने ककारद्वयं संयोगोऽनुस्वारलोपः—प्राकृतापभ्रंशेषु दृष्टः, न डकारापत्तिरपि।— **तन्त्रवार्तिक कुमारिल**—पृ० 237 पूना

50. संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचकी।
मागधी शौरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः।। प्राकृत लक्षण।

51 भाषा षट् संस्कृतादिकाः। भाष्यन्ते भाषाः संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी पैशाच्यपभ्रंश लक्षणाः। अभिधान चिन्तामणि (का० 2, श्लो० 199)

52. षड्भाषा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिका पैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्।। षड्भाषाचन्द्रिका–26

53. अपभ्रंशस्तु यो भेदः षष्ठः सोऽत्र न लक्ष्यते।
देश भाषादि तुल्यत्वान्नाटकादावदर्शनात्।
अनत्यन्तोपयोगाच्चाति प्रसङ्ग भयादपि। प्राकृतचन्द्रिका।

54. संस्कृतेनैव कोप्यर्थः प्राकृते नैव चापरः।
शक्योवाचयितुंकश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः।।
पैशाच्या शौरसेन्या च मागध्याऽन्यो निबध्यते।
द्वित्राभिः कोऽपि भाषाभिः सर्वाभिरपि कश्चन।।
अभिधानचिन्तामणि (का० 2, श्लोक० 199)

55. संस्कृते प्राकृते चैव शौरसेने च मागधे।
पैशाचकेऽपभ्रंशे च लक्ष्यं लक्षणमादरात्।।
विवेकविलास 38, श्लो० 13

56. संस्कृतं प्राकृतं चैव शौरसेनी च मागधी।
पैशाचिकी चापभ्रंशं षड्भाषाः परिकीर्तिताः।।
काव्यकल्पलतावृत्ति 4.8

57. शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। काव्यमीमाँसा–पृ० 6

58. 'तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृताः कवयो । पश्चिमे-नापभ्रंशिनः कवयः। दक्षिणतो भूतभाषाकवयः।
काव्यमीमांसा–पृ० 54

59. **पुरानी हिन्दी** पृ० 8–प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा–वाराणसी।

60. विनशनप्रयागयोगङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी। तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः। तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरीयः।

काव्यमीमांसा, पृ० 94

61. गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।।
आवन्त्याः पारियात्राः सहदशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः।।

काव्यमीमांसा अ० 10

62. भादानक राजस्थान और दक्षिण पश्चिम पंजाब के आसपास का ही कोई न कोई हिस्सा होगा।

63. 'सुराष्ट्र त्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृत वचांस्यपि।।

काव्यमीमांसा–पृ० 34, अ० 7

64. 'अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्ग :, समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः। प्राकृतसंस्कृतभाषाविदु अन्तःपुरिकाः, मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः। **काव्यमीमांसा**–पृ० 50, अ० 10

65. 'ततः परं वेद विद्याविदः प्रामाणिकाः पौराणिकाः स्मार्ताभिषजो मौहूर्तिको अन्येऽपि तथाविधाः। पूर्वेण प्राकृताःकवयः। ततः परं नटनर्तकगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवतालचरा अन्येऽपि तथाविधाः। पश्चिमेनापभ्रंश कवयः ततः परं चित्रलेप्यकृतोमाणिक्य बन्धकावैकटिकाः स्वर्णकारवर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथा विधाः। दक्षिणतोभूतभाषा कवयः, ततः परं भुजङ्गणिकाः प्लवकशौ– भिकजम्भकमल्लाः शास्त्रोपजीविनोऽन्येऽपि तथा विधाः।

काव्यमीमांसा–पृ० 54-55, अ० 10

66 'तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः। स चान्यैरूपनागराभीर ग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्।

रुद्रट **काव्यालंकार**–काव्य माला, 2.1.15–

67. 'सकल जगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितः संस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। पाणिन्यादि व्याकरणोदित शब्द लक्षणेन संस्करणात्संस्कृतमुच्यते।

रुद्रट कृत **काव्यालंकार** पर 2–12 टीका

68. प्राकृत भाषैव किञ्चिद्विशेषलक्षणान्मागधिकाभण्यते।

रुद्रट कृत काव्यालंकार पर 2–12 टीका

69. हिन्दी काव्यधारा पृ० 48।

70. पंचविंशति संयुक्तैरेकादश समाशतैः। विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम्। रुद्रट कृत **काव्यालङ्कार** टीका पृ० 174

71. आभीरी भाषाऽपभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते–रुद्रटकृत काव्यालङ्कारटीका पृ० 15

72. अपभ्रंशस्तु चण्डाल यवनादिषु युज्यते।
नाटकादावपभ्रंश विन्यासस्यासहिष्णवः।। 36

73. अन्ये चण्डालकादीनां मागध्यादि प्रयुज्यते।
सर्वेषां कारणवशात् कार्योभाषाव्यतिक्रमः।। 37

74. नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति ते त्रयः।
अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्नपृथङ्मताः।। पाद 1, सूत्र 7, पान 3

75. 'सिन्धुदेशोद्भवोब्राचडोऽपभ्रंशः। मार्कण्डेय, प्रा० स० पा० 18 सूत्र 1 के ऊपर टीका

76. 'अनयोर्यत्रसांकर्य तदिष्टमुपनागरम्। मा० पा० 18 सूत्र 18 टीका–अनयोनागर व्राचडयोः।

77. अथापभ्रंश भाषासु मूलत्वेन प्रथमं नागरमाह। सदर पा० 17 सू० 1 टीका

78 नमिसाधु–रुद्रट के **काव्यालङ्कार** पर टीका 2-12

79. बाचडो लाटवैदर्भावुपनागर नागरौ।।
बार्बरावन्त्य पाञ्चालटाक्क मालव कैकयाः।।

गौडौद्र वैव पांश्चात्यपाण्ड्यकौन्तल सैंहलाः।
कालिङ्गत्यचप्राच्य कार्णाट काञ्च्यद्राविड गौर्जराः।।
आभीरो मध्यदेशीयः सूक्ष्मभेद व्यवस्थिताः।
सप्त विंशत्यपभ्रंशाः वैतालादिं प्रभेदतः।।

प्राकृतसर्वस्व–पान–2 टीका

80. **अपभ्रंश पाठावली**–पृ० 13–प्रकाशन–गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद 1933

81. नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेलि ते त्रयः। अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान्न पृथङ्मताः। **प्रा० सर्वस्व** पृ० 3

अन्येषामपभ्रंशानामेष्वेवान्तर्भावः। **प्रा० सर्वस्व** पृ० 122

82. पाण्ड्य केकय बाहलीक सिंह नेपाल कुन्तलाः।
सुधेष्ण भोजगान्धार हैव कन्नौजनस्तथा।। 29।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत् ।। **षड्भाषाचन्द्रिका**–प्रकाशन–मुम्बपुरीस्थराजकीयग्रन्थमालाधिकारिका ई० सन् 1916

83. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** अनु० डा० मंगलदेव शास्त्री, पृ०. 24।

84. **इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत** पृ०-2 प्रकाशन–पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर।

85. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी **हिन्दी साहित्य की भूमिका** पृ० 24-25-1948 ई०।

86. **पुरानी हिन्दी**–पृ० 9। प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

87. **दोहाकोश की भूमिका**–पृ० 6–प्रकाशन–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद

88. **हिन्दी साहित्य की भूमिका**–पृ० 26-27–प्रकाशन–हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय–बम्बई–सन 1950।

89. अपभ्रंशो नाम न स्वतन्त्रः कश्चन विद्यते। सर्वस्यह्यपभ्रंशस्य साधुरेवप्रकृतिः–वाक्यपदीय-पुण्यराज–1/147।

90. लृकारोपदेशो यदृच्छा शक्तिजानुकरणप्लुताद्यर्थः। शिवसूत्र-वार्तिक 2.2।

91. अशक्तया कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम्। महा० के अन्तर्गत वार्तिक।

92. भूवादि पाठः प्रातिपदिकाणपयत्यादि निवृत्यर्थः—वार्तिक 12—अन्दर पाणि० 1.3.1

93. संस्कृतेनैव कोऽप्यर्थः प्राकृतेनैव चापरः।
शक्यो वाचयितुं कश्चिदपभ्रंशेन वा पुनः।। **सरस्वती कण्ठाभरण**।

94. धीरा गच्छदुमे हतमुदुद्धर वारिसदः सु।
अभ्रमद प्रसरा हरणरविकिरणा तेजः सु।। **काव्यालंकार** 4-15

95. तद् यदा द्राविडादि भाषायामीदृशो स्वच्छन्द कल्पना, तदा पारसी, बर्बर यवन रौमकादि भाषासु किं विकलप्य किं प्रतिपत्स्यन्त इति विद्मः—**तन्त्र वार्तिक**।

96. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी**—डां० सुनीति कुमार चटर्जी—पृ० 116, प्रकाशन राजकमल।

97. प्रो० जैकोबी कृत **सनत्कुमार चरितम्** के संस्मरण के पृ० xviii में पादलिप्त कृत **तरंगवती** काव्य का उल्लेख किया है।

98. **भारत का भाषा सर्वेक्षण**—डॉ० ग्रियर्सन अनु० डा० उदय नारायण तिवारी—पृ० 229, प्रकाशन—सूचना विभाग—उत्तर प्रदेश

99. **भारत का भाषा सर्वेक्षण** डा० ग्रियर्सन—अनु० उदय नारायण तिवारी पृ० 23, प्रकाशन—उत्तर प्रदेश सूचना विभाग

100 "At the coonfrence of the second period (i.e. Middle Indo Aryan Period), we have the literary Apabhramsa's, and these Apabhramsa's of literature are mainly based on hypothetical spoken Apabhramsa's in which the earlier Prakrits die and the Bhāsā or modern Indo Aryan languages have their birth." (The Origin and development of Bengali language) Introduction p.17.

101 **ग्रामर ऑफ गौडियन लैंग्वेजेज** भूमिका—11-12

102. **अपभ्रंश पाठावली** पृ० 4, प्रकाशन–गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद।

103. हि० ग्रा० अपभ्रंश पृ० 19 पूना 1948

104. **दोहा कोश** पृ० 13, प्रकाशन–बिहारराष्ट्र भाषा परिषद–पटना।

105. राहुल सांकृत्यायन **दोहाकोश** पृ० 57, प्रकाशन–बिहारराष्ट्र भाषा परिषद्।

106. A Kind of Mainland or शौरसेनी अपभ्रंश was a sort of literary speech of Northern India in the closing centuries of the 1st millennium A. C. and some centuries later. The Power and prestige of the Rajput courts which had their centeres in the midland and the Ganges Valley, was responsible for it. The Jainas of Gujarat cultivated it a great deal; and after it became a mixed dialect. ' The origin and development of Bengali language' p.90.

107. The western or shourseni Apabhramsa's became current all over Aryan India from Gujarat and western Punjab to Bengal, Probably as a lingua franca, and certainly as a polite language as a birdic speech which alone was regarded as suitable for poetry of all sorts-Chatterji O.D.B.L. Intro p.9.

108. 'Nagar Apabhramsa also cultivated by the Jainas, is probably based on the late M. I. A. source dialects of Rajasthani, Gujarati strongly linged with shourseni, चटर्जी 'O. D. B. L Intro p. 90.

109. 'An Apabharamsa period, eastern poets employed the Shourseni Apabhramsa to the exclusion of their local poetics. This tradition of Writing in a western shourseni literary speech was continued in the east even after the eastern languages had come to their own- O.D.B.L. p. 91

110. 'भारतीय कृष्टि का 'क ख' पृ० 229, प्रकाशन-हिन्दी भवन-इलाहाबाद।

111. **राजपूताने का इतिहास**–गौ० ही० ओझा (1925) 1, 1, पृ० 36–37।

112. अपभ्रंश according to मार्कण्डेय and ढक्की प्राकृत 'A great deal of हेमचन्द्राज 'Apabhramasa is, as is well known old Gujarati, and this shows that his शूरसेन or standard Apabhramsa (realy a mixture of several dialects) was spoken or at least some of it was spoken in Gujarat. J.R.A.S. 1913 p. 882–ग्रियर्सन।

113. 'परमात्म प्रकाश' भूमिका पृ० 2, प्रकाशन मुम्बा पुरीस्थ श्री परम श्रुत प्रभाव मण्डल स्वत्वाधिकारी सम्वत 1993।

114. प्राकृतादि-भाषा-लक्षणानां व्यत्ययश्च भवति। यथा मागध्यां तिष्ठश्चिष्ठः (4,298) इत्युक्तं तथा प्राकृत-पैशाची-शौरसेनीष्वपि भवति। चिष्ठदि। अपभ्रंशे रेफस्याधो वा लुगुक्तो मागध्यामपि भवति। शदमाणुश–मंश–भालके कुम्भ-शहश्र-वशाहे शंचिदे इत्याद्यन्यदपि द्रष्टव्यम्। न केवलं भाषा लक्षणानां त्याद्यादेशानामपि व्यत्ययो भवति। ये वर्तमाने काले प्रसिद्धास्ते भूतेऽपि भवन्ति–8/4/447।

115. एस० के० सेन–'कम्परेटिव ग्रामर आफ मिडिल इन्डो आर्यन' पृ० 30।

116. 'पउम सिरी चरिउ' भूमिका पृ० 12–प्रकाशन–बम्बई सिंधी जैन शिक्षापीठ–भारतीय विद्या भवन।

– – – – – – –

चतुर्थ अध्याय

अपभ्रंश और देशी

देशी शब्द की व्याख्या

अपभ्रंश के साथ बहुधा 'देशी' शब्दों की चर्चा की जाती है। सर्वप्रथम हमें 'देशी' शब्द पर ही विचार करना चाहिए। संस्कृत वैयाकरणों ने कहीं भी देशी शब्द की चर्चा नहीं की है। यह अवश्य है कि **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी** में स्पष्टतः कई जगह देश[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। **पाणिनि** के सूत्रों में प्रयुक्त देश शब्द के उदाहरण से प्रतीत होता है कि यह 'प्रांत'[2] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'देश' शब्द के पूर्व यदि 'एक' जोड़ दिया जाय तो वह ग्राम, जनपद शब्द से अञ्, ठञ् प्रत्यय करके 'एक भाग'[3] के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। **पाणिनि** के पूर्व **यास्क**[4] ने **निरुक्त** में प्रत्यक्ष रूप से देश शब्द का प्रयोग न करके 'दातिः' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि इसका अर्थ कंबोज में कुछ होता है तो उदीच्य में कुछ दूसरा ही। इस पर **दुर्गाचार्य** ने टीका करते हुए उदीच्य आदि के आगे 'देशेषु' का प्रयोग किया है। अतः इससे भी सिद्ध होता है कि यह 'देश' शब्द 'प्रान्त' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। **महर्षि व्यास** ने **महाभारत**[5] के शल्यपर्व में विभिन्न भाषाभाषियों के बारे में वर्णन करते हुए 'देश' शब्द के साथ 'भाषा' शब्द का भी उल्लेख किया है जिससे प्रांत या जनपद का ही बोध होता है। देशभाषा का प्रयोग विभिन्न बोलियों के अर्थ में **भरतमुनि** के **नाट्यशास्त्र** में भी मिलता है:

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषा विकल्पनम्।
अथवा छंदतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः।।

नाना देश समुत्थं हि काव्यं भवति नाटके।।

नाट्यशास्त्र-अ० 17, श्लो० 24, 46, 47।

जिनदास महत्तर ने अर्धमागधी की 18 देशी भाषाओं की सूचना दी है। **जैन सिद्धांत** में भी राजकुमार ने गणिका आदि की 18 देशी भाषाओं में विज्ञता का वर्णन किया है। इससे विदित होता है कि पहले भारतवर्ष में 18 देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा थी। **ज्ञात सूत्र**[6] में भी इसी बात की चर्चा की गई है। **विपाक श्रुत, औपपातिकसुत्त**[7], **राजप्रश्नीयसूत्र**[8] आदि में भी 18 देशी भाषाओं का वर्णन पाया जाता है। विक्रम की नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में **कुवलयमालंकथा** की रचना हुई थी। इसमें भी 18 देशी भाषाओं का वर्णन किया गया है। **कुवलयमालाकथा** में वर्णन आया है: 'क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न आचार्य **उद्योतन** ने दक्षिण प्रदेश में बहादुर जावालिपुर नामक स्थान के ऋषभ जिनेन्द्रायतन में बैठकर शक संवत् 835, चैत्र कृष्ण पक्ष चतुर्दशी के अपराह में इस धर्मकथा की रचना की।' उस समय **श्रीवत्सराज** नामवाले रणहस्ती पार्थिव विद्यमान थे। इस प्राचीन कथा का हस्तलिखित ताड़पत्र वि० सं० 1139 वर्ष के जेसलमेरु दुर्ग के जैन भांडागार में मिला है। वि० सं० 1160 में **देवचंद्र सूरि** ने तथा 13वीं शताब्दी में **माणिक्यचंद सूरि** ने इस कथा का **शांतिनाथचरित** में स्मरण किया है। **रत्नाभ सूरि** ने भी 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में संस्कृत भाषा में संक्षेप रूप से अवतरित किया है। इस **कुवलयमाला**[9] की कथा को मुख्यतया छोटी-छोटी कथाओं में रचकर, प्राकृत भाषा में, कहीं कहीं कुतूहलवश दूसरे के वचनों को संस्कृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषा में भी अनुबंधित किया है। इसी कारण देशी भाषा के लक्षण जानने वाले कवियों ने भी **कुवलयमाला** पढ़ने की प्रार्थना की है। **श्री देवीप्रसाद** विरचित कथा में जिन 18 देशी भाषाओं का वर्णन है उनमें 16 देशी बनियों के शरीरवर्ण, वेशभूषा तथा भाषा का स्वरूप भी बताया गया है। उन 16 देशों[10] (प्रांत या क्षेत्रीय भाग) के नाम हैं गोल, मध्य देश, मगधांतर्वेदी, कीर, टक्क, सिंध, मरु, गुर्जर, लाट, मालव, कर्णाटक, तायिक, कोसल, महाराष्ट्र और आंध्र।

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि देशी भाषा बहुत प्रचीन भाषा है और यह संस्कृत तथा प्राकृत से भिन्न भाषा थी। इसका शब्दकोश आदि भी भिन्न था। **पादलिप्ताचार्य** आदि विरचित देशी शास्त्र के परिशीलन से देशी शब्द संग्रहों की सूचना मिलती है। **हेमचन्द्र** द्वारा संकलित देशी शब्दों की सार्थकता भी परिलक्षित होती है। **वात्स्यायन** ने अपने **कामसूत्र** (1, 4, 50) तथा **विष्णुधर्मोत्तर** में एवं **शूद्रक** ने **मृच्छकटिकम्** के अ० 6 पृ० 225 में तथा **विशाखदत्त**[11] ने **मुद्राराक्षस** में, **बाणभट्ट** ने **कादंबरी**[12] में एवं **धनंजय** ने **दशरूपक** में विभिन्न बोलियों या विभिन्न भाषाभाषियों के लिये **देशभाषा** शब्द का प्रयोग किया है :

देशभाषाक्रियावेशलक्षणाः स्यु; प्रवृत्तयः।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत्।।
यद्देशं नीचपात्रं यत् तद्देशं तस्य भाषितम्।।

दशरूपक, 2, 58, 61।

धनंजय के पूर्वोक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए कि उसने 'देशभाषा' का प्रयोग नीच पात्रों की भाषा के लिये किया है किंतु जैन सिद्धांत के **बृहत्कल्प** ग्रंथ में विभिन्न भाषाभाषियों की कुशलता प्रकट करने के लिये देशी भाषा का प्रयोग किया गया है :

नाणा देसी कुसलो नाणा देसी कल्पस्स सुत्तस्स।
अभिलावे अत्थकुसलो होई तओऽणेण संतव्वं।।

बृहत्कल्प उ० 6, बृ० प० 831।

दंडी ने अपने **काव्यादर्श** में प्राकृत का भेद करते हुए बताया है कि प्राकृत के अनेक भेद होते हैं : **तत्समः तद्भवो देशी इत्यनेकः प्राकृत क्रमः**। विद्वानों ने[13] तत्सम से तात्पर्य निकाला है—संस्कृतसम, तत्तुल्य, तथा समान शब्द। तद्भव से तात्पर्य है संस्कृतभव, संस्कृतयोनि, एवं तज्जविभ्रष्ट और देशी से मतलब है देशप्रसिद्ध या देशी मत। उपर्युक्त

प्राकृत शब्द की व्याख्या से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम प्राकृत शब्द विना किसी परिवर्तन के ही संस्कृत से लिए गए हैं; दूसरे प्राकृत शब्द परिवर्तन के साथ-साथ संस्कृत से लिए गए हैं और तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो संस्कृत से नहीं लिए गए हैं किंतु प्रांतों की विभिन्न बोलियों से या ग्रामीण से आए हुए शब्द हैं और जिनकी जानकारी शब्दकोश से होती है। अभी तक दो शब्दकोशों का पता चल सका है–एक **धनपाल** का और दूसरा **हेमचंद्र** का।

आचार्य **हेमचन्द्र** ने **देशी नाममाला** में देशी शब्दों की व्याख्या करते हुए बताया है कि देशी शब्द वे हैं जो व्याकरण के नियमों से यानी प्रकृति-प्रत्ययादि से सिद्ध नहीं होते और जो संस्कृत शब्दकोशों में भी नहीं पाए जाते तथा जिसकी सिद्धि गौणीलक्षणा द्वारा भी नहीं हो पाती :

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण या गउणलक्खणा सत्तिसंभवा ते इह णिवद्धा।।

देशी नाममाला, श्लोक 3

इस पूर्वोक्त लक्षण से देशी का अर्थ विदेशी शब्दों से होने लगता है जो प्राकृत-अपभ्रंश के शब्दकोशों में है। किंतु **हेमचन्द्र** का यह मतलब नहीं है। उसका कहना है कि मैंने ऐसे शब्दों को इस कोश में संगृहीत किया है जो **सिद्धहेमशब्दानुशासन** में प्रकृति प्रत्ययादि के विभाग के द्वारा सिद्ध नहीं हो पाते। मैंने उन शब्दों को भी छोड़ दिया है जिन्हें दूसरे शब्दकोशकारों ने अपने शब्दकोश में रखा है किंतु उन्हें हमने (सिद्धहेमचंद्र 8.4.2) आदेश आदि के द्वारा (बज्जर, पज्जर आदि) सिद्ध किया है। उसे भी **देशी नाममाला** में ग्रहण नहीं किया है। मैंने उन शब्दों को भी संकलित किया है जो संस्कृत शब्दकोशों में नहीं पाए जाते किंतु प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध किए जा सकते हैं। मैंने उन शब्दों को संकलित नहीं किया है जो संस्कृत शब्दकोशों में नहीं पाए जाते किंतु व्याख्या आदि के द्वारा निष्पन्न किए जा सकते हैं।[14]

उपर्युक्त कथन पर आशंका उठ खड़ी होती है कि आखिर ऐसे शब्द तो संस्कृत में भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्ययादि से नहीं हो सकती। उन्हें भी 'देशी' क्यों न कहा जाय? संस्कृत व्याकरण में शब्द दो प्रकार के माने गए हैं; पहला व्युत्पन्न और दूसरा अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे शब्द हैं जिनकी सिद्धि प्रकृति प्रत्ययादि से की जाती है तथा अव्युत्पन्न वे शब्द हैं जो स्वतः सिद्ध हैं। जिस प्रकार **हेमचन्द्र** ने **देशी नाममाला**[15] के श्लोक 4 में कहा है कि विभिन्न प्रांतों की बोलियों में असंख्य देशी शब्द हैं जिनका पूर्णतया संग्रह करना संभव नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार **पतंजलि** मुनि ने भी कहा है कि लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है। उन शब्दों में न जाने कितने ऐसे शब्द हैं जिनमें धातु प्रत्यय की दाल नहीं गल पाती। हठात् उन शब्दों में धातु प्रत्यय की थकेली लगाकर उन्हें सिद्ध करना केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र है। ऐसे शब्द लोक में स्वतः उत्पन्न होते हैं और अर्थों के साथ उनका संबंध स्वतः जुट जाता है एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे ही शब्दों को **पाणिनी**[16] ने संज्ञाप्रमाण कहा है। संस्कृत में कुछ ऐसे भी शब्द थे जो बिना व्याकरण के नियम के ही प्रयुक्त होते थे। **पाणिनि** ने ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर प्रामाणिक मान लिया था—**पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्**। संभवतः इन्हीं सारी बातों को अपने दृष्टिपथ में रखते हुए **पिशेल**[17] महोदय ने कहा था कि प्राकृत और संस्कृत के वे सभी शब्द जिनकी सिद्धि व्याकरण के अनुसार प्रकृति प्रत्यय से नहीं की जाती, देशी हैं।

19वीं शताब्दी के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से देशी के बारे में अपनी मान्यता प्रकट की है। **बीम्स**[18] महोदय का कहना है कि देशज शब्द वे हैं जो किसी संस्कृत शब्द से व्युत्पन्न नहीं हो पाते। वे शब्द देश के मूल वासियों के शब्दों से लिए हुए शब्द हो सकते हैं या आर्यों ने परवर्ती संस्कृत के समय उन शब्दों को गढ़ा था। **ए० एफ० आर० हार्नले**[19] का कहना है कि प्राकृत वैयाकरणों ने देशी को तत्सम एवं तद्भव के बाद तीसरी श्रेणी में रखा है। देशी का अर्थ हैं—ग्रामीण, प्रांतीय, क्षेत्रज या आदिवासियों के शब्द। इस प्रकार की व्युत्पत्ति मान

लेने पर सभी शब्द इस कठघरे में नहीं आ पाते। कुछ ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं की जा सकती। अतः उन शब्दों की उत्पत्ति ग्रामीण शब्दों से ही संभव हो सकती है। **हार्नले** महोदय का कहना है कि जिस तरीके से लोगों ने देशी की व्युत्पत्ति का अनुमान किया है वह वस्तुतः अधिक स्पष्ट नहीं है। वास्तव में वे शब्द या तो आदिवासियों से लिए गए हैं या संभवतः परवर्ती संस्कृत के समय में ग्रामीण आर्यों की देन है (बीम्स, पृ० 12)। यह भी संभव हो सकता है कि जनसाधारण के द्वारा अज्ञानवश संस्कृत के शब्द इतने अधिक बिगाड़ दिए गए हों कि उनकी व्युत्पत्ति का पता लगाना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। **हार्नले** साहब ने अंतिम कारण को बहुत संभव माना है। यथार्थतः इस विषय पर विद्वानों की भावना से भी निर्णय किया जा सकता है। आधुनिक अनुसंधान ने बहुत से देशी शब्दों का पता लगाा लिया है। **देशी नाममाला** में प्रयुक्त बहुत से देशी शब्दों की व्युत्पत्ति प्रकृतिप्रत्यय से की जा चुकी है। तब इस विषय पर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वे शब्द आर्यों के हैं कि नहीं ? इस समय इस प्रश्न का निर्माण करना बड़ा कठिन है। कारण, कोई भी शब्द संस्कृत या प्राकृत का होते हुए यह आवश्यक नहीं है कि वह आर्यों का ही हो क्योंकि भारतीय आर्यों में आर्येतर शब्द विराजमान रहने पर भी वे शब्द इस प्रकार सँवार सुधार लिए गए कि अब उनका पता लगाना कठिन सा हो गया है। फिर भी संस्कृत में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो पैशाची या अपभ्रंश के कहे जा सकते हैं।

सर आ० जी० भाडारकर[20] ने देशज पर विचार करते हुए बताया है कि जो शब्द संस्कृत से व्युत्पन्न नहीं हो पाता तथा जो दूसरे उपायों द्वारा उदाहरण में दिया जा सकता है वह देशज है। पुनः आगे उन्होंने अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि प्राकृत में तथा अपभ्रंश में जो देशी शब्दों का बाहुल्य है वह उन आदिवासियों के यहाँ से आया हुआ है जिन्हें जीतकर आर्यों ने पराधीन बना लिया था। इसके विपरीत **डॉ० पी० डी० गुणे**[21] का कहना है कि **पाइयलच्छी नाममाला** और **देशी नाममाला** में जो देशी शब्द संगृहीत है उनमें से

कुछ तो संस्कृत के वंशज हैं और कुछ शब्द स्पष्टतः द्रविड़ भाषा के हैं। **पाइयलच्छी नाममाला** की भूमिका (पृ० 14)[22] में **डा० ब्यूलर** ने देशी शब्दों के बारे में कहा है सभी या लगभग सभी देशी शब्द सस्कृत शब्दों से व्युत्पन्न हैं। कुछ शब्द संस्कृत शब्दों से बहुत अधिक संबंधित हैं। उन पर **हेमचन्द्र** ध्यान देने में क्यों असमर्थ रहे, इस पर आश्चर्य होता है। अगर प्राकृत 'हलुअं' शब्द संस्कृत 'लघुक' (2-122) से व्युत्पन्न माना जा सकता है तो क्यों नहीं प्राकृत 'अइराभा' को संस्कृत **अचिराभा** से व्युत्पन्न माना जाय। किंतु **हेमचन्द्र** ने हलुअं को तद्भव और अइराभा को देशी माना है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि **हेमचंद्र** परवर्ती शब्दों के (1-34) प्रति सतर्क नहीं थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि इन दोनों शब्दों का कोई नाता नहीं है। कुछ और दूसरे शब्द, जो स्पष्टतया संस्कृत से व्युत्पन्न हो सकते हैं, प्राकृत वैयाकरणों के ध्वनि विषयक नियम से सिद्ध नहीं होते। **डॉ० ब्यूलर** ने उसी जगह फिर कहा है: 'वैयाकरणों के व्याकरणों में ध्वन्यात्मक व्याकरणिक नियमों की भिन्नताएँ रहते हुए भी वे शब्द अत्यधिक मात्रा में पाऐ जाते हैं।' इस प्रकार कल्ला, चूओ, दुल्लं, हेरिवो आदि शब्दों का संस्कृत के कल्यं, चूचुक दुकूल और हैरंब से घनिष्ठ संबंध है। दूसरी ओर उसी प्रकार की **देशी नाममाला** है जिसमें 'गंडीवं' और 'णंदिणी' जैसे शब्दरूप हैं जिनके अर्थ थोड़े बदल जाते हैं—धनुः, धेनुः आदि। अदंसणो, थूलघोणो, धूमद्दारं, मेहच्छीरं, परिहार, इत्थिआ, मुहरो, मराई आदि का अर्थ दिए बिना ही देशी शब्दों में उल्लेख किया गया है जैसा **धनपाल** की **पाइयलच्छी** में हैं। **हेमचन्द्र** को अपनी रचना में शब्दों के उचित अर्थ देने में कठिनाई का सामना करना पड़ा है। फिर भी उसने दूसरों की गलतियाँ दिखाई हैं। 8–13,17 में 'साराहयं' और 'समुच्छणी' शब्दों के निर्णय में विस्तृत वादविवाद करने के अनन्तर एक निर्णय किया है। इस तरह **हेमचन्द्र** ने प्राकृत साहित्य के विस्तृत ज्ञान के आधार पर बहुत से शब्दों का अर्थ निश्चित किया है यद्यपि उन्हीं शब्दों का पूर्ववर्ती लेखकों ने गलत अर्थ दिया है। 1–47 में उनका कहना है कि 'अयतचिअं' शब्दरूप ही उचित है, 'अवअच्चिअं' शब्द गलत है। वे

बहुतर पुस्तक प्रामाण्यात् के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। प्रत्येक समय मतभेद उपस्थित होने पर **हेमचन्द्र** दूसरों द्वारा प्रदत्त अर्थों या शब्दरूपों का निर्देश करने में नहीं चूकते।

इसी प्रकार के और भी शब्द हैं जो संस्कृत से लिए गए हैं। वे उनकी विशेषता बताते हैं। वे हैं चोरः, सूकरः, गवाक्षः, उदकम्, ऋतुमती और भ्रू शब्द आदि। **देशी नाममाला** के बहुत से शब्द इसी प्रकार के हैं किन्तु कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो आर्येतर हैं। उनका संस्कृत के अलावा और सभी शब्दों के साथ घनिष्ठ संबंध है। उनमें से बहुत से शब्द द्रविड़ शब्दों से संबंधित हैं, उदाहरणार्थ–उरो=टाउन के अर्थ में, चिक्का=छेरे के अर्थ में, तमिल शब्द छाणी (काउ डंग)=गोबर, पुल्ली–दे० टाइगर के लिये, भावो=तेलगु बहनोई के अर्थ में, मम्मी=तमिल चाची के लिये, आदि बहुत से शब्द बताए जा सकते हैं। **श्री के० अमृतराव** ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि **देशी नाममाला** में बहुत से फारसी और अरबी के शब्द हैं।[23] **सर जार्ज ग्रियर्सन** ने भी अरबी शब्दों की ओर संकेत किया है।[24] इस प्रकार **हेमचन्द्र** ने देशी शब्दों के अंतर्गत न केवल संस्कृत शब्दों को ही रखा है अपितु संस्कृत से भिन्न भारतीय और विदेशी शब्दों का भी संनिवेश किया है। अगर **हेमचन्द्र** प्रा० लट्टी और हेट्ठं शब्दों को संस्कृत यष्टिः और अधः से लिया हुआ मानते हैं तो हम यह नहीं समझ पाते कि वे सभी देश्य शब्दों को संस्कृत शब्दों से उत्पन्न क्यों नहीं मानते, किन्तु सर्वत्र ऐसी बात नहीं हैं। अतः अगर हम ऐसे शब्दों को छोड़ भी दें तो भी उनमें से बहुत से शब्द संस्कृत स्रोतों से व्युत्पन्न नहीं दिखाई पड़ते।

देशी शब्दों पर विचार करते हुए **डॉ० ग्रियर्सन**[25] ने कहा है कि प्राकृत के लिये स्वीकृत तद्भव शब्द ही **देशी** शब्द कहलाएगा या भारतीय वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त स्थानीय शब्द भी देशी कहा जायेगा। इस तरह वे सभी शब्द देशी के अंतर्गत लिए जायँगे जिनका वैयाकरण लोग संस्कृत से संबंध जोड़ने में प्रायः असमर्थ से रहे हैं। यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वानो ने तद्भव शब्दों के समान देशी शब्दों को भी संस्कृत से व्युत्पन्न माना है तथापि यह बात पूर्णतया सत्य नहीं प्रतीत होती।

देशी के कुछ शब्द अवश्य मुंडा या द्रविड भाषा से लिए गए हैं। फिर भी अधिकांश शब्द मूल प्राकृत से ही लिए हुए हैं। यह मूल प्राकृत भाषा बाद में समाप्त हो गई। साहित्यिक पाली या प्राकृत से इनका कोई संबंध नहीं है। अतः इन शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत से जोड़ना नितांत भ्रम है। वस्तुतः जो शब्द तद्भव हैं, जिन्हें वैयाकरणों ने उस भाव में नहीं लिया है, उन्हें प्राचीन बोलियों का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि देशी शब्द स्थानीय बोलियों के रूप थे, और जैसी संभावना की जाती है, वे अधिकांश शब्द गुजरात प्रदेश के साधारण साहित्य में प्रयुक्त भी होते थे। ऐसे शब्द **मध्यदेश** की परिनिष्ठित संस्कृत की प्रकृति से काफी भिन्न थे। फिर भी उन शब्दों का संबंध तद्भव से जोड़ा जा सकता हैं।

इस प्रकार **ग्रियर्सन** महोदय का विश्वास है कि मूल प्राकृत की सुरक्षा कुछ न कुछ प्राकृत साहित्य में अवश्य है। वे शब्द न तो परिनिष्ठित संस्कृत से लिए गए हैं और न वैदिक संस्कृत से। अपितु वे उस मूल प्राकृत से लिए गए हैं जो वैदिक युग के आर्यों की बोली थी। उसी से वैदिक (छांदस) एवं परिनिष्ठित संस्कृत का विकास हुआ है। अतः देशी शब्द 'मध्य देश' के आसपास के प्रांतों की बोलियों से आए हुए शब्द थे। उन शब्दों में वैदिक एवं संस्कृत के प्रांतीय शब्द नहीं मिलते। अगर तत् पद से मूल प्राकृत का या संस्कृत का भाव लिया जाय तो उन देशी शब्दों में से अधिकांश शब्द तद्भव भी कहे जा सकते हैं। फिर भी **देशी नाममाला** में कुछ शब्द तो द्रविड़ भाषा के भी हैं ही।

यहाँ विचार करने के लिये हमें द्रविड़ भाषाओं के व्याकरणों को भी देखना चाहिए कि कैसे इन शब्दों की व्याख्या उन भाषाओं में की गई है। उनसे पता चलता है कि जैसे प्राकृत व्याकरण में शब्दों को तीन विभागों में बाँटा गया है—तत्सम, तद्भव और देशी—वैसे ही द्रविड़ भाषाओं में भी तत्सम वे शब्द हैं जो बिना किसी परिवर्तन के संस्कृत भाषा से लिए गए हैं। उदाहरणार्थ तेलगु—रामदु, विद्य, पित को वन, धन और वस्त्र; तमिल-कमलम् कारणम् आदि। अंतिम वर्ण को छोड़

कर यहाँ शब्दों में कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं दीखता। तद्भव का अर्थ है संस्कृत के वे शब्द जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ द्रविड़ भाषाओं में घुल मिल गए हैं। ऐसे बहुत से परिवर्तन ठीक उसी प्रकार हुए हैं जैसे प्राकृत व्याकरणं में पाए जाते हैं। तद्भव शब्दों के उदाहरण–तेलगु–आकासमु, सं० आकाश, मेगमु सं० मृग, वंकर सं० वक्र, पयाण सं० प्रयाण आदि। किन्तु वे शब्द जो इन दोनों में नहीं आते, यानी जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता किन्तु वे जनभाषा में प्रचलित हैं, देशी के अंतर्गत आएंगे। उदाहरण–तेलगु=उरु=शहर, भेद=दुतल्ला मकान, इलु=घर, होल=मैदान आदि। इस तरह देशी का अर्थ हुआ, वे शब्द जिनका संस्कृत से किसी प्रकार का संबंध नहीं है और जो कहीं से भी लिए गए हैं किंतु संस्कृत के नहीं हैं। वे शब्द देश्य वर्ग के अन्तर्गत रखे जाते हैं। यहाँ द्रविड़ वैयाकरणों का कथन ठीक उसी तरह है जिस तरह प्राकृत वैयाकरण अपना विचार रखते हैं। किंतु जहाँ पर इस तरह की समता है वहीं मतभेद भी है। जहाँ प्राकृत वैयाकरण संस्कृतभव प्रधान शब्दों को भी देशी में गिनते हैं और उसके लिये कोई कठोर नियम नहीं बनाते, वहीं द्रविड़ भाषाओं के वैयाकरण सभी शब्दों का संस्कृत से नहीं के बराबर संबंध जोड़ते हैं। वस्तुतः द्रविड़ वैयाकरण देशी शब्द के विषय में मौन हैं। वे भी प्राकृत वैयाकरणों की तरह कहते हैं कि देशी की व्युत्पत्ति नहीं होती और वे भाषा के व्यवहार में प्रचलित हैं, उन्हें कवि लोग भी व्यवहार करते हैं।

यह सामान्यतया विश्वास किया जाता है कि परिनिष्ठित संस्कृत से जो शब्द साहित्यिक प्राकृत के लिये लिए गए हैं वे थोड़ा क्षेत्रीय (कोलोकियल) भाषा से भिन्न हैं। यही वास्तविक प्राकृत थी। कुछ देशी शब्द संभवतः प्राकृत के अस्तित्व में आने के पूर्व से ही बोलचाल की भाषा में उपलब्ध थे। वे शब्द क्षेत्रीय भाषाओं से लिए गए और क्षेत्रीय (कोलोकियल) भाषाएँ कभी भी साहित्य में मान्य नहीं रहीं। अतः उनसे हमारा लाभ नहीं हो सकता। हम यह भी संभावना कर सकते हैं कि भारत में आर्य लोग सहसा एक ही साथ नहीं आए। दो

समूहों में आने के समय के बीच जो मध्यांतर हुआ, उस समय में कुछ शब्दों का व्यवहार उन आर्यों के घरों में प्रायः समाप्त प्राय हो गया था। पुराकाल में जिस द्वितीय समूह के लोगों ने इस देश में प्रवेश किया, उन लोगों ने उन शब्दों की रक्षा की जिन्हें पूर्ववर्ती प्रथम समूह के लोगों ने छोड़ दिया था। इन दोनों वर्गों के शब्दों के विषय में **जे० बीम्स**[26] ने कहा है कि यद्यपि वे शब्द भारतीय साहित्य में प्रयुक्त नहीं होते थे फिर भी जनता उन शब्दों का प्रयोग करती थी; यहाँ तक कि सामान्य कृषकों द्वारा भी कभी-कभी उनका प्रयोग होता था। इन सभी कारणों पर विचार करते हुए हम देशी शब्द की प्रकृति के संबंध में संभावित अनुमान करते हैं कि वे सभी आर्य शब्द हैं अथवा मूल में वे भारोपीय थे। परिनिष्ठित संस्कृत की शब्दावली के लिये वे उपयोगी सिद्ध नहीं हो सके। कुछ शब्दों के विषय में दोनों—संस्कृत और प्राकृत—जानकारी नहीं रखते। वे शब्द समय के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते गए और हमारे समक्ष उनके विषय में किसी भी प्रकार की जानकारी नहीं आ पाती। कुछ देशी शब्दों का ज्ञान हमें प्राकृत और संस्कृत के व्याकरणों से होता है। **हेमचन्द्र** ने बहुत से प्राकृत शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न माना है जिन्हें दूसरे वैयाकरणों ने विशुद्ध देशी कहा है।

अभी विचार किया जा चुका है कि कुछ देशी शब्द प्राकृत से, कुछ भारोपीय बर्नाक्युलर से और कुछ द्रविड़ भाषाओं की बोलियों से लिए गए हैं। द्रविड़ भाषाओं में देशी शब्द उच्चारणध्वनि के विशेष अंग समझे जाते हैं। किंतु देशी शब्द के मूल के विषय में पूर्ववाली दृष्टि भाषाविषयक वंचना ही कही जा सकती है जो उनका मौलिक उत्तराधिकार समझा जाता है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि भारोपीय[27] वर्नाक्यूलर की बोली से 'देशी' शब्द लिए गए हैं और तत्सम तथा तद्भव के बगल में रख दिए गए हैं। परिणामस्वरूप सभी द्रविड़ भाषाओं की ध्वनियाँ भारोपीय भाषाओं से ली गई हैं। इस तरह, दक्षिण भारत के भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार, द्रविड़ और भारोपीय भाषाओं का आंतरिक सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया। इन सभी दृष्टियों से द्रविड़ लोग हमारे देश में आर्यों से पूर्व आए हुए माने जाते हैं। किंतु द्रविड़ भाषाओं

के व्याकरणों का ढाँचा बिल्कुल भिन्न तरीके का है। वाक्यनिर्माण की द्रविड़ पद्धति में पूरक क्रिया सदा अंत में आती है। यह पद्धति पुरानी भारोपीय रचना से भिन्न है। उसमें शब्दों का अनुशासन बहुत कम होता है। किंतु आधुनिक आर्यभाषा और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में समता सी दीखती है।

निष्कर्ष यह कि बहुत कुछ संभावना इस बात की है कि बहुत से देशी शब्द आर्य हैं भले ही मूल में वे संस्कृत के शब्द न हों। किंतु उनका कोई स्थान जरूर रहा होगा। वह छोटा हो सकता है। द्रविड़ों के लिये यही मूल साधन है। इस देश में प्रवेश करने पर आर्यों ने यहाँ विभिन्न जातियों द्वारा अधिकृत स्थानों को देखा और बहुत शताब्दियों तक निरंतर संघर्ष करने के बाद, भारत के विस्तृत भूभाग पर अपना अधिकार जमाया। पहले से अधिकार किए हुए लोगों में से कुछ लोग आर्यों में घुल मिल गए और उन लोगों ने अपनी भाषाओं से उनकी भाषाओं को प्रभावित किया। विजित जातियों पर अधिकार करनेवाले आर्य लोग अधिक बुद्धिमान थे। उन लोगों ने अपनी भाषाओं के शब्दों को मरने नहीं दिया, यद्यपि उन लोगों ने विजित जातियों के शब्दों को भी ग्रहण कर लिया था। इस विचारधारा के अनुसार और इसमें सच्चाई होने के कारण देशी प्राकृत में दोनों प्रकार के आर्य और अनार्य, शब्द पाए जाते हैं।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि देशी में बहुत से शब्द मूल संस्कृत के हैं। इन दोषों को स्वीकार करते हुए भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि शताब्दियों के प्रयोग से वे सबके सब शब्द खो गए हैं। वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत ध्वनि-शास्त्र के नियमों के अनुकूल वे शब्द नहीं पड़ते। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उन शब्दों का परिनिष्ठित संस्कृत से सम्बन्ध नहीं बैठ पाता। दूसरे प्रकार के शब्द भारोपीय हो सकते हैं, भले ही वे शब्द मूल संस्कृत के न हों। वे शब्द थोड़े से परिवर्तन के साथ भारोपीय की दूसरी जातियों की बोलियों में पाए जाते हैं। उसका थोड़ा सा भाग भारोपीय से इतर जातियों की भाषा में पाया जाता है। वे जातियाँ आर्यों के प्रवेश के पूर्व

यहाँ थीं। **हेमचन्द्र** के **देशी नाममाला** में अरबी और फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं जो **हेमचन्द्र** से कुछ पूर्व देश की प्रचलित भाषाओं में घुल मिल गए थे।

उपर्युक्त बातों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साहित्यिक भाषाएँ सदा और सर्वत्र जनभाषा से ही विकसित हुई हैं। जनभाषा की तुलना बहती हुई नदी से की जा सकती है जो स्थान-स्थान पर बदलती हुई भी सदा एक धारा के समान प्रवाहित होती रहती है। साहित्यिक भाषाओं की तुलना शाखाओं से भी की जा सकती है या किसी नहर से भी उसकी तुलना की जा सकती है। नहर की धारा का बहाव सदा सीमित होता है। उसकी धारा अपने ही स्थान पर घूम फिरकर चलती रहती है। इस तरह साहित्यिक भाषाएँ जनभाषारूपी माँ बापवाली नदी से पृथक् होकर धीरे-धीरे उनसे अपनी सत्ता पृथक् कर लेती है और अंत में उसका जनभाषा से बिलगाव हो जाता है। बिलगाव हो जाने पर जनभाषा इतनी निर्मल हो उठती है कि वह जनसाधारण के लिये बहुत ही उचित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतीत होने लगती है। यथार्थतः भाषा का कार्य है जनता के विचारों को समाज के समक्ष स्पष्टतया प्रकट करना। जब कभी साहित्यिक भाषा जनसाधारण से दूर हो जाती है और कुछ शिक्षितों की भाषा हो जाती है तो वह कुछ काल के बाद समाप्त हो जाती है। इस बात की पुष्टि संस्कृत, प्राकृत एवं आधुनिक आर्यभाषाओं से की जा सकती है। भारतीय आर्यों की मूल भाषा की सफलता का पता बहती हुई नदी की भाँति प्राकृत से किया जा सकता है। उस समय की साहित्यिक भाषा वैदिक, परिनिष्ठित संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि थीं। नाटकों की प्राकृत बोलियाँ, साहित्यिक अपभ्रंश, न० भा० आ० भाषा की साहित्य में सफलता तत्कालीन विभिन्न प्रांतीय प्राकृत बोलियों से हुई है और पुरानी साहित्यिक भाषाएँ क्षीण होकर मरती गई हैं।

संस्कृत तद्भव से तुलना

तद्भव शब्दों की भेदकता तीन रूपों में की जाती है :

1. संस्कृत के कुछ शब्दरूप ऐसे हैं जिनमें मुख्य अक्षरों का लोप हो जाता है।

2. कुछ शब्दरूप ऐसे हैं जिनके स्थान पर दूसरे शब्द प्रयुक्त होकर उसी पूर्ववर्ती शब्द का अर्थ देते हैं।

3. अन्य रूप वैकल्पिक अक्षरों का है जो संस्कृत रूपों में नहीं पाया जाता। इसी बात को प्राकृत वैयाकरणों ने क्रमशः वर्णलोप, वर्णादेश तथा वर्णागम कहा है। इस तरह वैयाकरणों के वर्णन करने की अपनी प्रणाली थी। यद्यपि शब्दरूपों के परिवर्तन की यह स्थिति प्राकृत के पूर्व संस्कृत में भी थी, तथापि उसकी प्रक्रिया वहाँ दूसरे ढंग की मानी गई है। अतः तद्भव में विभिन्न प्रकार की बोलियों के शब्द पाऐ जाते हैं। **डा० हार्नले**[28] ने तद्भव की प्रथम पद्धति को सिद्ध तद्भव माना है तथा दूसरे प्रकार के तद्भव को साध्यमान तद्भव। प्रथम सिद्ध की सिद्धि विनष्ट तद्भव की भाँति है और बाद के तद्भव पुराने तद्भवों की भाँति हैं। यह तद्भव सम्बन्धी निष्कर्ष या तो विभिन्न प्रकार की बोलियों की व्याख्या से निकाला जा सकता है अथवा परवर्ती संस्कृत शब्दों के परिचय से। अतः तद्भव के विभिन्न प्रकार के रूपों का अनुमान परवर्ती काल की साहित्यिक प्राकृत की मूल बोली के शब्दों से किया जा सकता है। ये अधिकाँश तद्भव शब्द प्राकृत के मूल रूपों से क्षीण होकर बने हुए रूप हैं। विशुद्ध तद्भव शब्दों की अपेक्षा वे शब्द बहुत अधिक क्षीणावस्था के थे और प्रत्यक्षरूपेण संस्कृत से उन शब्दों का परिचय नहीं था, जब कि तत्सम शब्द प्रत्यक्षरूपेण संस्कृत से साहित्यिक प्राकृत में आए थे। तत्सम शब्दों में भी तद्भव की भाँति विभिन्न प्रकार के शब्दों की क्षीणावस्था का पता लगता है। उसका पता हम तत्सम शब्दों के साथ संस्कृत शब्दों की तुलना करके लगा सकते हैं। अस्तु **मुरलीधर बनर्जी**[29] का कहना है कि प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत के आधार पर आगम और आदेश के द्वारा प्राकृत बोलियों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों की व्याख्या की है जो कृत्रिम है और काल्पनिक भी। ये नियम केवल व्याकरणसंबंधी नियमपालन के लिये किए गए थे। **भरत मुनि** ने अपने **नाट्यशास्त्र** के 17-24 अध्याय में 18 देशी भाषाओं का वर्णन किया है जो विभिन्न प्राँतों की बोलियों के तद्भव रूप मालूम पड़ते हैं। निश्चय ही वे शब्द संस्कृत से आए हुए प्रतीत नहीं होते।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, कुछ देशी शब्द आर्येतर भाषाओं के हैं। किंतु इससे यह अंतिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि देशी शब्द आर्येतर ही हैं। बहुत संभव है कि देशी शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति का अनुमान प्रायः संस्कृत शब्दों से नहीं किया जा सकता, विभिन्न देशी भाषाओं से आए हों। यह संभव हो सकता है कि वे शब्द मूल प्रारंभिक आर्यों के प्राँतीय शब्द रहे हों, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में इस प्रकार से घुल मिल गए हैं कि उनका पता लगाना असंभव सा प्रतीत होता है। संस्कृत में कोई भी देशी शब्द की चर्चा नहीं करता क्योंकि संस्कृत तो 'मध्यदेश' की भाषा से अभिवृद्ध हुई थी। वही बाद में शौरसेनी के साहित्यिक रूप में सुरक्षित रही। इसी बात को थोड़ा सा परिष्कृत रूप देकर **श्री सेठ हरगोविंददास**[30] ने कहा है कि वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यप्रदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई। पंजाब और मध्यप्रदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं उन्हीं से देशी शब्द गृहीत हुए हैं। यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशी शब्दों के अनुरूप कोई शब्द (प्रतिशब्द) नहीं पाया जाता है। **पिशेल महोदय**[31] का भी यही कथन है कि देशी शब्दों में ऐसे शब्द भी आ गए हैं जो स्पष्टतया संस्कृत मूल तक पहुँचते हैं किंतु उनका संस्कृत में कोई ठीक-ठीक अनुरूप शब्द नहीं मिलता, वे भी देशी शब्दों में संकलित कर लिए गए हैं।

इस प्रकार अगर किसी देशी शब्द की व्युत्पत्ति का पता आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्रारंभिक शब्दों से नहीं चलता और अगर उन्हीं शब्दों का पता आर्येतर भाषाओं के परवर्ती साहित्य में लग जाता है तब भी कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता और देशी शब्दों के विषय में अंतिम सैद्धांतिक[32] मत की स्थापना नहीं की जा सकती। **देशी नाममाला** में कुछ 3978 देशी शब्द हैं जिनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं :

तत्सम	100
उपेक्षित तद्भव	1850
संदेहास्पद तद्भव	528
देशी	1500
कुल योग	3978

1500 देशी तद्भव नहीं मालूम पड़ते। **प्रो० मुरलीधर बनर्जी** का कहना है कि इनमें 800 शब्द आधुनिक भारतीय **वार्नाक्युलर** भाषा में कुछ परिवर्तन के साथ पाए भी जाते हैं। ये आदिम आर्यों के मूल शब्द हैं, अवशिष्ट 700 देशी आर्येतर मूल शब्दों से संबंधित हो सकते हैं।

क्या देशी ही अपभ्रंश भाषा थी ?

कुवलयमालाकहा में जिन 18 देशी भाषाओं का वर्णन आया हे उसे **एल० बी० गांधी** महोदय[33] ने अपभ्रंश के अंतर्गत ही संनिविष्ट किया है। **रुद्रट**[34] ने **काव्यालंकार** में देशविशेष के भेद से अपभ्रंश के बहुत से भेद किए हैं। **विष्णुधर्मोत्तर**[35] में भी कहा गया है कि देशों में विभिन्न प्रकार के जो भेद पाऐ जाते हैं, उन्हें लक्षण के द्वारा नहीं बताया जा सकता। अतः लोक में जिसे हम अपभ्रष्ट कहते हैं उसी को देशी कहना चाहिए। **वाग्भट**[36] ने अपभ्रंश को विभिन्न देश की भाषा माना है। यही बात **रामचंद्र** और **गुणचंद्र**[37] ने भी कही है। आधुनिक काल में **डॉ० हीरालाल जैन**[38] ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः देशी भाषा और अपभ्रंश भाषा एक ही है। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने **कीर्तिलता** का यह पद उद्धृत किया है :

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तैं तैसन जम्पओ अवहट्ठा।।

इसमें वर्णित 'देसिल वअना' और 'अवहट्ठ' को उन्होंने एक ही भाषा से संबंधित माना है। यद्यपि इस मत पर **डॉ० ज्यूल्स ब्लॉख** ने

शंका प्रकट की थी, फिर भी **डॉ० जैन** ने उन चरणों का संस्कृत अनुवाद कर –

देशी वचनानि सर्वजनमिष्टानि।
तद् तादृशं जल्पे अपभ्रष्टम्।।

यह आग्रह प्रकट किया कि देशी ही अपभ्रष्ट है। उन्होंने तादृशं का अर्थ तदेव के भाव में किया है **तद्वद्** के अर्थ में नहीं। अतः उनके अनुसार अपभ्रंश और देशी एक ही वस्तु है।

यह सच है कि **पतंजलि** ने अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृत से इतर सभी भाषाओं के लिये किया है–उसमें अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि सभी आ जाती हैं। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग सदा भ्रष्ट के अर्थ में किया है, किसी विशिष्ट भाषा के अर्थ में नहीं। इस बात की पुष्टि **दंडी** के **काव्यादर्श** से भी होती है –

आभीरादि गिरः काव्येषु अपभ्रंश इति स्मृता।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यत् अपभ्रंश तयोदितम्।।

उपर्युक्त दूसरे चरण से पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। यहाँ पर शास्त्र पद से 'व्याकरण' ही समझना चाहिए। परंतु प्रथम चरण से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश एक भाषा है जो काव्य में प्रयुक्त होती थी। मुख्यतया यह आभीरादि लोगों की भाषा थी। अर्थात् अपभ्रंश एक सुनिश्चित रूपवाली भाषा थी जिसका अपना साहित्य तथा व्याकरण था। देशी की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि 'देशी' का प्रयोग एक विशेष पारिभाषिक रूप में होता था। **भरत** मुनि ने **नाटयशास्त्र** के 17 वें अध्याय में जो देश भाषा का प्रयोग किया है वह वस्तुतः तत्तद् विशिष्ट देशों की बोलियों के लिए किया है। दूसरे रूप में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि वे भाषायें उस उस प्रदेश की जनभाषा थीं। अपभ्रंश भाषा के भी जैसा कि सभी साहित्यिक भाषाओं में होता है दो रूप थे (1) साहित्यिक भाषा जो कि शिष्टों की भाषा होती है, (2) ग्राम्य

भाषा या बोली जो कि सर्वसाधारणं जनता की होती है। इस बात की पुष्टि आचार्य **हेमचन्द्र** के **काव्यानुशासन** (अ० 8, 330–7) से होती है–**अपभ्रंशभाषानिबद्धसन्धिबन्धमब्धिमथनादि, ग्राम्यापभ्रंश भाषानिबन्धावस्कन्ध कबन्धभीमकाव्यादि।** अतः 'देसिलवअन' का प्रयोग जो अवहट्ठ के साथ किया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह भाषा एक समय जनसाधारण की भाषा थी। और उस प्रकार की भाषा में कवि ने काव्य करने में गर्व का अनुभव किया क्योंकि **विद्यापति** मैथिल कवि थे। उनके गीतों की भाषा तथा **कीर्तिलता** की भाषा में अंतर पाया जाता है। यद्यपि **कीर्तिलता** में पूर्वी प्रयोग हैं किंतु वह गीतों की भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अतः पूर्वोक्त उदाहरणों से देश भाषा जनसाधारण की (ग्राम्य) भाषा ही प्रतीत होती है। यह साधारण समाज में तथा-कथित निम्नवर्गवालों की भी एक भाषा कही गई है। **भरत मुनि** ने (अध्याय 17) भाषा तथा विभाषा दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है।

भाषा के अंतर्गत सात भाषाओं का उल्लेख किया है–मागधी, आवंती, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या और विभाषा के अन्तर्गत शबर, आभीर, चांडाल, सचर, द्रविड़, उद्रज, हीन बनेचरों की भाषाएँ। जिस विभाषा का प्रयोग **भरत** मुनि ने किया है वह सुसभ्यों की भाषा नहीं थी। वह वस्तुतः अपढ़ असभ्यों की भाषा थी। उस भाषा को बोलनेवालों में आभीर आदि आते हैं। **भरत मुनि** से परवर्ती **दंडी** ने आभीर आदि की भाषा को 'अपभ्रंश' कहा है जो कि साहित्य में प्रयुक्त होती थी। इन समस्त विचारों के होते हुए भी देशी भाषा के अंतर्गत समस्त भाषाएँ एवं विभाषाएँ आ जाती थीं। जो कुछ भी हो, देशी और अपभ्रंश एक ही वस्तु नहीं थी। यदि होती तो फिर अपभ्रंश व्याकरण में **हेमचन्द्र** के देशी आदेश करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। दूसरी ओर हम **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों में उद्धृत दोहों से पता लगा सकते हैं कि देशी शब्दों की अपेक्षा तत्सम और तद्भव शब्द कहीं अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

क्या भाषा को देशी कहने का प्रचलन है ?

वस्तुतः भाषा कवियों ने प्रारंभ से ही अपने काव्य को देशी भाषा का काव्य कहा है। कुछ प्राकृत कवियों ने भी अपने काव्य को देशी भाषा का काव्य कहा है। **तरंगवाई कहा**[39] के लेखक **पादलिप्त** ने 500 ई० के आस-पास अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण' कहा है। 769 ई० में **उद्योतन**[40] ने **कुवलयमालाकहा** में महाराष्ट्री प्राकृत को ही 'देशी' कहा है। **कोऊहल**[41] ने भी **लीलावाई** काव्य में उसी महाराष्ट्री प्राकृत को देशी कहा है। यद्यपि **लीलावाई** में देशी शब्द मिलते हैं फिर भी एक स्थान पर कवि ने **देशी भाषा** को ही प्राकृत भाषा कह डाला है —

एमेय युद्धजुयई मनोहरं पाययाएं भासाए।
पविरल देसी सुलक्खं कहसु कहं दिव्य माणुसियं।।

लीलावाई गाहा, 41।

अपभ्रंश कवियों ने भी अपनी भाषा को 'देशी' कहा है। **स्वयंभू** ने अपने **पउमचरिउ** में अपनी कथा की भाषा को 'देशी भाषा' कहा है:

दीह समास पवाहालंकिय, सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय।
देसी भाषा उभय तडुज्जल, कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल।।

पाहुड़ दोहा की भूमिका, पृ० 43 से उद्धृत

इस पर **डा० हीरालाल**[42] जैन का कहना है कि यद्यपि यहाँ पर स्पष्ट नहीं कहा गया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ को कवि ने किस भाषा में रचा है किन्तु **श्री जैन** के मत में 'देसी भाषा' से कवि का अभिप्राय अपने काव्य की भाषा से है। **कवि पुष्पदंत**[43] (965 **ई०**) ने अपने **महापुराण** की भाषा के लिये देशी का प्रयोग किया है। 10वीं शताब्दी के **पद्मदेव** ने **पासणाइ चरिउ**[44] (पार्श्वनाथ चरित) को 'देशी सद्दत्थगाढ़' (देशी शब्द व अर्थ से गाढ़) कहा है। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि यद्यपि

व्याकरण और देशी शब्द तथा अर्थ से गाढ़ आदि लक्षणों से युक्त काव्य दूसरे कवियों ने भी लिखे हैं, तो भी क्या उनकी शंका से दूसरा कोई अपना भाव प्रकट न करे। तात्पर्य यह है कि देशी शब्दों में अनेक काव्य उच्चकोटि के बन चुके हैं तथापि मैं भी देशी शब्दों में काव्य बनाने का साहस कर रहा हूँ। **संदेश रासककार** के कवि **अब्दुल रहमान** ने काव्य के आरम्भ में नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि जो लोग पंडित हैं वे तो मेरे इस कुकाव्य पर कान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं—अरसिक हैं—उनका प्रवेश मूर्खता के कारण इस ग्रन्थ में हो ही नहीं सकेगा। इसलिये जो न पंडित हैं, न मूर्ख हैं, अपितु मध्यम श्रेणी के हैं, उन्हीं के सामने हमारी कविता सदा पढ़ी जानी चाहिए—

णहु रहइ बुहा कुकवित्तरेसि,
अबुहत्तणि अबुइह णहु पवेसि।
जिण मुक्खण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पठिब्बउ सब्बवार।।

इस पर **पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी**[45] का कहना है कि यह काव्य बहुत पढ़े लिखे लोगों के लिये न होकर ऐसे रसिकों के लिये है जो मूर्ख तो नहीं हैं पर बहुत अधिक अध्ययन भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त कवियों की बातों पर ध्यान देने से यही प्रतीत होता है कि 'देशी' शब्द का प्रयोग जनभाषा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों ने अपने काव्य को देशभाषा यानी जनभाषा के रूप में प्रयुक्त किया है। **श्री एल० वी० गाँधी** तथा **डा० जैन** का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता कि देश भाषा और अपभ्रंश भाषा एक ही हैं।[46] यह अवश्य है कि अपभ्रंश भाषा जनभाषा के बहुत समीप है। अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों की प्रधानता है। किन्तु यह शब्द किसी विशिष्ट भाषा के लिये रूढ़ नहीं हुआ था।[47] हिन्दी के कवियों ने भी अपने काव्य को देश भाषा यानी जनभाषा कहा है। **गो० तुलसीदास** ने भी मानस की भाषा को 'भाषा' कहकर पुकारा है। अतः देशी या देशभाषा का प्रयोग समसामयिक भाषा काव्य के लिए

प्रयुक्त हुआ है। देशी यानी देशी भाषा का प्रयोग प्राकृत[48] के लिये भी हुआ है। देशी या देशी भाषाएँ (प्रादेशिक भाषाएँ) भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी आर्य लोगों की कथ्य भाषाएँ थीं। **पं० हरगोविन्द दास**[49] के शब्दों में देशी भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की कथ्य भाषा के साथ अनेक अंशों में जैसे सादृश्य था वैसे किसी किसी अंश में भेद भी था। जिस-जिस अंश में इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की प्राकृत भाषा के साथ भेद था उनमें से जिन भिन्न-भिन्न नामों ने और धातुओं ने प्राकृत साहित्य में स्थान पाया है वे ही हैं प्राकृत के देशी या देश्य शब्द।

अपभ्रंश के देशी आदेश तथा देशी नाममाला से तुलना

हेमचन्द्र के देशी आदेश और देशी का क्या संबन्ध है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। व्याकरण में 'आदेश' और 'आगम' का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ में होता है। साधारणतः संस्कृत के पंडित लोग इन पारिभाषिक शब्दावलियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं **आगमः मित्रवद् भवति** और **आदेशः शत्रुवद् भवति।** आगम से वर्णों में विकार भर होता है किन्तु आदेश किसी शब्द के स्थान पर होता है अर्थात् किसी 'शब्दप्रयोग' के स्थान पर कोई दूसरा शब्दप्रयोग होता है परन्तु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। संस्कृत वैयाकरणों के यहाँ कहा जाता है कि जैसे गुरू[50] के स्थान पर यदि गुरूपुत्र को बिठाया जाय तो उसके साथ भी गुरूवत् व्यवहार होता है, उसी प्रकार जिस शब्द के स्थान पर जो आदेश होता है उसमें भी वे ही भाव होते हैं जो कि पहले में थे। **हेमचन्द्र** ने अपने अपभ्रंश व्याकरण में कुछ देशी आदेश किए हैं जो कि तत् तत् संस्कृत शब्दों के अर्थों के द्योतक हैं। इसके साथ ही अपभ्रंश दोहों में कुछ ऐसे भी देशी आदेश पाए जाते हैं जिनका कि सूत्रों द्वारा आदेश नहीं किया गया है पर वे हैं देशी ही।

हेमचन्द्र ने **देशी नाममाला**[51] में लिखा है कि देशी सिद्धार्थ शब्दानुवादपरक होता है किन्तु धात्वादेश साध्यार्थ परक है। **प्राकृत**

व्याकरण के 8वें अध्याय में धात्वादेश किए गए हैं जिन्हें **हेमचन्द्र** ने देशी धात्वादेश माना है। फिर भी उन धात्वादेशों का **देशी नाममाला** में उल्लेख करना उचित नहीं समझा गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों को भी जो कि क्रियावाची हैं तथा जिनका प्रयोग तिङत की भाँति होता है किन्तु उन्हें व्याकरण के 'धात्वादेश' में नहीं पढ़ा गया है **देशी नाममाला** में संग्रह कर लिया है। **हेमचन्द्र** का कहना है कि वह देशी शब्दों की धातुओं पर ध्यान नहीं देता परन्तु वह उनमें से कुछ शब्दों को ले लेता है। इस कार्य में वह पूर्ववर्ती लेखकों का अनुसरण करता है। 1-13 में 'अज्झस' प्राकृत शब्द को संस्कृत धातु 'आक्रुश' से व्युत्पन्न मानता है। पूर्वाचार्यों की संमति के कारण अज्झस्सं=आक्रुष्टं को संकलित कर लिया है। **दे० ना० मा०** 4-11 में 'डोला' को देशी शब्द कहा है। किन्तु उसने **प्राकृत व्या०** 4, 1, 217 में इसे संस्कृत 'दोला' से व्युत्पन्न माना है। **दे० ना० मा० 5-29** में उसने 'थेरो' शब्द को ब्राह्मण अर्थ में देशी माना है किन्तु उनके **प्राकृत व्याकरण 1–166** में यह संस्कृत 'स्थविर' से व्युत्पन्न है। इन दोषों से अपने को मुक्त करते हुए **हेमचन्द्र** ने कहा है कि हमने ऐसे शब्दों को एकत्र किया है जो कि **संस्कृतेष्वप्रसिद्धेः** या **संस्कृतानभिज्ञ प्राकृतज्ञमन्य दुर्विदग्ध जनावर्जनार्थम्** हैं। **हेमचन्द्र** ने बहुत से देशी शब्दों को **देशी नाममाला** में संकलित किया है जो कि संस्कृत से व्युत्पन्न हैं। इसके अतिरिक्त **हेमचंद्र** ने आहित्थ, लल्लक्क, विड्डिर आदि ऐसे शब्दों को भी संकलित किया है जिन्हें उसने स्वतः अपने व्याकरण 4-17-4 में प्रांतीय शब्द गिनाया है—**महाराष्ट्र विदर्भादि देश प्रसिद्धा**। इस तरह हम देखते हैं कि न तो उसने और न उसके उत्तराधिकारियों ने ही स्वतः स्थापित देशी शब्द की व्याख्या के अनुसार कार्य किया है। प्रतीत होता है कि उन्होंने तथा और लोगों ने देशी शब्द को बहुत विस्तृत पैमाने में लिया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उन लोगों ने प्राकृत बोली के सभी शब्दों को जो उनके समय में प्रचलित थे, देशी के अन्तर्गत मान लिया है।

यहाँ पुनः धात्वादेश या क्रियारूप की प्रकृति पर प्रश्न उठ खड़ा होता है। कुछ लेखकों ने स्पष्टतया धात्वादेश को 'देशी' कहा है।

किन्तु **हेमचन्द्र** ने स्पष्टरूप से अपने प्राकृत व्याकरण[52] (4-2) और **देशी नाममाला**[53] (1-37) में उसे देशी के अन्तर्गत मानने से इन्कार कर दिया है। उनका कहना है कि देशी शब्दों में (1–47) प्रकृति प्रत्यय का भेद नहीं हो सकता और न तो देशी शब्दों के लिये (नहि देशी शब्दानामुपसर्गो संबंधो भवति 1–95) उपसर्ग का ही विधान किया जा सकता है। इस प्रकार की बातों को प्रस्तुत करते हुए **हेमचन्द्र** ने दूसरी दृष्टि से संभवतः अन्य लोगों की आलोचना की है। 'धात्वादेश' की दृष्टि से प्रकृति (मूलरूप) के विभिन्न क्रियारूप और अर्थ हो सकते हैं। इस दृष्टि से देशी शब्द की प्रकृति भूल सी जाती है। मतलब यह कि जब धात्वादेश का एक ही रूप हो सकता है दूसरा नहीं, तब तो उसे देशी हरेक दृष्टि से कह सकते हैं। इसीलिए **हेमचन्द्र** ने उन शब्दों को भी **देशी नाममाला** में संकलित किया है। कप्परिअं, कडंतरिअं, अविअं, अट्टट्टो, अज्झत्थो (1–10) इत्यादि उद्धरणों को **हेमचन्द्र** ने **दे० ना० मा०** में उद्धृत कर अपनी समीक्षा दी है कि यद्यपि ये क्रियावाची हैं फिर भी संज्ञा में दिखाई देने से धात्वादेशों में संकलित नहीं किये गये हैं और इसी कारण देशी में संकलित कर लिया[54] है। इससे स्पष्ट होता है कि **हेमचन्द्र** पूर्ववर्ती लोगों से अपना भिन्न मत रखता है।

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों ने देशी शब्दों के नाम और धातुओं को संस्कृत के नाम (संज्ञा) और धातुओं के स्थान में आदेशों द्वारा सिद्ध करके तद्भव विभाग के अन्तर्गत रख दिया है। **हेमचन्द्र** के प्राकृत व्याकरण के द्वितीय पाद तथा चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों से पूर्वोक्त बात की प्रतीति होती है। **हेमचन्द्र** ने **देशी नाममाला** में देशी नामों का संग्रह किया है तथा देशी धातुओं का प्राकृत व्याकरण में, संस्कृत धातुओं की जगह आदेश रूप में उल्लेख करते हुए पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मत का प्रतिवाद किया है—**एतेचान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिधात्वादेशीकृताः** (हेम० प्रा० व्या० 4/2)। अतः धात्वादेश भी देशी ही कहे जायेंगे, तद्भव नहीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि **हेमचन्द्र** ने **देशी नाम माला** (1/10) में लिखा है कि जिनका व्याकरण में धात्वादेश किया

गया है उनका संकलन नहीं हुआ है जैसे **प्रा० व्या०** 4/389 'क्रिये' का 'कीस' आदेश होता है; (4/390 में) भू का हुव्व आदेश आदि **देशी नाममाला** में नहीं पाए जाते। परन्तु इन धात्वादेशों के आगे देशी शब्द का प्रयोग किया भी नहीं गया है। 'कीसु' का द्वितीय रूप 'क्रिये' संस्कृत माना गया है। किन्तु **8/4/395--तक्ष्यादीनां छोल्लादयः** सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि **आदि ग्रहणाद् देशीषु ये क्रियावचना उपलभ्यंते ते उदाहार्याः। पी० एल० वैद्य** ने 'तक्ष' के स्थान पर 'छोल्ल' आदेश को देशी माना है। **देशी नाम माला** में 'छोल्ल' नाम का कोई आदेश नहीं है। परन्तु उसी सूत्र का दूसरा उदाहरण 'चूडुल्लउ' देशी अपभ्रंश (दे० ना० मा० वर्ग 3, श्लोक 18) चूडोवलयावली कंकण अर्थ है। यहाँ उल्ल प्रत्यय होकर, स्वार्थिक क = अ को उ होकर 'चूडुल्लउ' बना है। 'झलक्किअउ' = झल्ल, झालणें=झलक्क धातु 'तापय' के भाव में प्रयुक्त हुआ है। **देशी नाममाला**–3/53 में झला=मृगतृष्णा; 3/56 में झलंकिअं=दग्धम् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अब्भडवंचिउ' में गम् के अर्थ में 'अब्भड' है। **दे० ना० मा०** में अब्भड कोई शब्द नहीं है पर 'अबडओ' (1, 20, 53 में) तृण पुरुष के लिए, कूप या आराम अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जिसका 'अब्भडवंचिउ' से कोई संबंध नहीं दीखता। 'खुडुक्कइ' का (देशी नाममाला 2/74)=खुडुं–लघु अर्थ में; 2/75 'खुड्डियं'=सुरतम् के अर्थ में, 2/76–खुडुक्कडी प्रणयकोप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'खुड' शब्द से उक्क प्रत्यय करके भी 'खुडुक्कइ' रूप बन सकता है। घुडुक्कइ **दे० ना० मा०** में ऐसा कोई शब्द नहीं है। 'चम्पिज्जइ' भी देशी शब्द है जो कि **दे० ना० मा०** में नहीं है। 'वप्पी' 6/88 'सुभट' और 'पिता' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'धुट्ठुअइ' या 'धुद्धुअइ' ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 8/4/401 'वद्दलि' मेघ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **पी० एल० वैद्य** वद्दल या बादल को मराठी का शब्द मानते हैं। हिन्दी में भी यही प्रचलित है। लुक्कु–लुकना छिपने के अर्थ में **दे० ना० मा०** 7/23 में लुको–सुप्त या **उत ओति लोकोइति च** के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द भोजपुरी और मगही बोली में प्रचलित है। 8/4/422–**शीघ्रादीनां बहिल्लादयः** वाले आदेश को **पी० एल० वैद्य** ने देशी माना

है। शीघ्र का बहिल्ल आदेश होता है। **दे० ना० मा०** में कोई 'बहिल्ल' शब्द नहीं है। 7/39 में 'बहोलो' शब्द है जो कि लघु जल प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त होता है : 'झटक' का 'घंघल' आदेश कलह के अर्थ में होता है। **दे० ना० मा०** में घंघल शब्द नहीं है। घंघो–गृहम् के अर्थ में 2/105 में मिलता है तथा 2/107 घग्घरं–जघनस्थल वस्त्र भेद है जिसका कि घंघल से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः झकट शब्द भी विशुद्ध संस्कृत नहीं है। विट्टाल–अस्पृश्यसंसर्ग के अर्थ में, भय का द्रवक्क, दृष्टि का द्रेट्टि, गाढ़ का निच्चइ आदेश होता है जो **दे० ना० मा०** में नहीं मिलता। साधारण का सड्ढल आदेश होता है। **दे० ना० मा०** 8/46–सढं–विषमं, सढा–केशाः, सढो–स्तबकः के अर्थ में मिलता है। ढ को द्वित्व के बाद ल प्रत्यय करके 'सड्ढल' की सिद्धि करने पर भी अर्थ साम्य नहीं होता। कौतुक का कोड्ड या कुड्ड आदेश होता है। **दे० ना० मा०** 2/33 कुड्ड आश्चर्य के अर्थ में–**केचित् कोड्डं इत्याहुः। तच्च उकार ओकार विनिमये सिद्धम्** (कुतुक्–कौतुक इति); क्रीडा का खेड्ड आदेश होता है। **दे० ना० मा०**–2/77–**खेयालू-निःसहः।** असहन इत्यन्ये। वहीं पर कहा है कि 'रमते' के अर्थ में खेड्डइ का प्रयोग धात्वादेश में किया जा चुका है। इसीलिए **दे० ना० मा०** में नहीं कहा।[55] 2/76–में खेल्लियं–हसितं के अर्थ में अवश्य मिलता है। रम्य का रवण्ण, अद्भुत का ढक्करि आदेश होता है। यह **दे० ना० मा०** में नहीं मिलता। पृथक्-पृथक् का जुअंजुअः आदेश होता है–**दे० ना० मा०** में नहीं मिलता। 3/47–जुअ लिअं, द्विगुणित के अर्थ में, जुअलो तरूण के अर्थ में आया है। मूढ़ का नालिम, अवस्कन्द का दडवड आदेश होता है। **दे० ना० मा०**–5/35 दडवड शब्द घाटी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यदि का छुड्ड, सम्बन्धिन का केर आदेश होता है। **प्रा० व्या०** (8/4/423)-हुहुरु एवं घुग्घ शब्दानुकरण तथा चेष्टानुकरण में प्रयुक्त होते हैं। **दे० ना० मा०** में ये शब्द नहीं मिलते। 2/109 में घुग्घुरी मंडूक अर्थ में, 'घुघुरूडो' उत्कर के अर्थ में आया है। कसरक्क कचर-कचर कर खाने की ध्वनि में प्रयुक्त होता है। **दे० ना० मा०** 2/4-'कसरो' अधम बैल (बलीवर्द) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

संदर्भ

1. **अष्टाध्यायी**—एङ् प्राचां देशे 1/1/75; तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि 4/2/67।

2. **महाभाष्य** 1/1/75 सूत्र पर नागेश भट्ट की टीका— 'विधेयसंबंधलाभात्प्राग्ग्रहणमाचार्यनिर्देशार्थम्। अन्यथा प्राग्देश इत्येव वदेदिति भावः। ...वाहीकश्च देशविदेशः तत्र स ग्रामः प्राग्देश इत्येव बहिर्भूतः। वाहीक देशश्चोभयसंबंधः प्राग्देश बहिर्भूतो वा...शरावत्यास्तु योवधेः। देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तर, इत्यमरेण दर्शितः।

3. ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ—'ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च प्रातिपदिकाद्दिक्पूर्वपदादर्धान्तादञठञौ प्रत्ययौ भवतः। ...इमे खलु अस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वधाः इत्यादि। **काशिका** 4–3–7.

4. **निरुक्त** अ० 2, पा० 1 पर दुर्गाचार्य एवं मोहरचंद पुष्करणी की टीका।

5. नानाचर्ममृगच्छिन्ना नाना भाषाश्च भारतः।
   कुशला देशभाषास्तु जल्पंन्तोऽन्योन्यमीश्वराः।।
   महा०, शल्य०, अ० 46

6. 'तते णं से मेहे कुमारे बावत्तरि कलापंडियेणव गंधसुयत्त (णवंगसुत्त) पडिबोहिए अट्ठारस विहि (ट्ठ) प्पयार देसि भासा विसारए गीयरई गन्धब्वगट्ठ कुसले...। (ततः खलु समेधः कुमारो द्वासप्तति कलापंडितोसुप्त प्रतिबोधित नावङ्गेऽष्टादशविध देशी भाषा विशारदो गीतरतिर्गन्धर्व नाट्यकुशलः।) (ओ० इ० ता० प० 25, 7।—समित प्र० 38–92) एल० पी० गांधीः **'अपभ्रंश काव्य'** पृ० 89।

7. आ० समित प्र० प० 98।

8. आ० संमित प्र० प० 148।

9. पायय भासा रइया मरहट्ठय देसी वयण्णय णिबद्धा।
सुद्धा सयल कहच्चिय तावस-सत्थ-वाहिल्ला।
कोऊह लोण कत्थइ पर वयण वसेण सक्कय णिबद्धा,
किंचि अवब्भंसकआदा विय पेसाय भासिल्ला।

कुवलयमाला कथा (जे मां ता पं० 3)।

10. वही (जे मां० ता० 131–2)।

11. प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्त जनजिज्ञासया बहुविध देशवेष भाषाऽचारसंचार वेदिनो नाना व्यंजनाः प्रणिधयः।

12. शिक्षिताशेषदेश भाषेण सर्व लिपिज्ञेन—पृ० 102।

13. विशेष के लिये देखिए—प्राकृत स्प्रीचनस्ट्रेसवर्ग, पृ० 190।

14. लक्षणे शब्दशास्त्रे सिद्ध हेमचंद्र नाम्नि ये न सिद्धाः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धाः। ये तु वज्जर, पज्जर, उफ्फाल, पिसुण, संघ, बोल्ल, चव, जंप, सीस साहादयः कथ्यादीनामादेशत्वेन साधिता स (सिद्ध हेमचन्द्र 8/4/2) तेऽन्यैर्देशीषु परिगृहीता अप्यस्माभिर्ननिबद्धाः। ये च सत्यामपि प्रकृतिप्रत्ययादि–विभागेन सिद्धौ संस्कृताभिधानकोशेषु प्रसिद्धास्तेऽप्यत्र निबद्धाः। यथा अमृत निर्गमछिन्नोद्भवा महानटादयश्चंद्रदूर्वाहरादिष्वर्थेषु। ये च संस्कृताभिधानकोशेष्वप्रसिद्धा अपि गौण्यादि लक्षणया चालंकार चूणामणिप्रतिपादितयाशक्त्या संभवन्ति। यथा मूर्खे वइल्लो। गंगातटे गंगा शब्दस्त इह देशी शब्दसंग्रहहेतु निबद्धाः।

15. **देशी नाममालाः** 'देस विसेस पसिद्धीइ भाणमाणा अणन्तयाहुन्ति। तम्हा बाणाइ पाइठा पणट्ठ भाया विसेसओ देसी।

देश विशेष महाराष्ट्र विदर्भाभीरादयस्तेषु प्रसिद्धा इत्येव मादयः शब्दा यदुच्येरंस्तदा देशविशेषाणामनन्तत्वात् पुरूषायुषेणापि न सर्वसंग्रहः स्यात्।

16. **अष्टाध्यायी**–'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्' 1/2/53।

17. 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' §9।

18. **ए कंपैरेटिव ग्रामर आव् द मॉडर्न आर्यन लैंग्वेजेज आव् इंडिया**–खंड 1, पृ० 12–बीम्स–'देशजज आर दोज वर्ड्स ह्विच कैन नॉट बी डिराइव्ड फ्रॉम एनी संस्कृत वर्ड ऐंड आर देयरफोर कंसिडर्ड टू हैव बीन बॉरोड फ्रांम द अबौरिजिनीज ऑवद कंट्री ऑर इन्वेंटेड बाइ द आर्यस इन पोस्ट–संस्कृतिक टाइम्स।'

19. ए कंपैरेटिव ग्रामर आव् द गोडियन लैंग्वेज (1880), भूमिका पृ० 39–41।

20. भंडारकरः–'विल्सन फाइलोलाजिकल लेक्चर, 1914 पृ० 106।

21. **इंट्रोडक्शन टु कंपरेटिव फिलोलोजी**, पृ० 22 गुणेः।

22. 'दे आर फाउंड एकार्डिंग टु मोर ऑकल्ट फोनेटिक– ग्रामैटिकल लॉज डिफरिंग फ्राम द ऑब्बियस वंस, ह्विच ग्रैमेरियंस एंबौडीड इन देयर व्याकरणाज'–**पाइयलच्छी नाममाला**, भूमिका।

23. इंडियन ऐंटीक्वेरी, भाग 17, पृ० 33 तथा आगे।

24. जे० आर० ए० एस० 1919, पृ० 235।

25. डॉ० ग्रियर्सन। 9 (69–1)।

26. 'दो नाट यूज्ड इन इंडियन लिटरेचर, दे मे हैव वीन इन यूस इन दि मोस्ट आव दि पीपुल ऐंड मे बी करेंट अंडर सम स्लाइट डिस्गाइज इन दि माउथ आव् लिथुआनिअन पेजेंट्स इवेन येट।'–कंपैरेटिव ग्रामर आव् आर्यन लैंग्वेजेज इन इंडिया, पृ० 24।

27. पिशेल : **देशी नाममाला**, सन् 1938, भूमिका, अनु० वेंकेट रामानुजम् पृ० 10।

28. **कंपैरेटिव ग्रामर आव् दि माडर्न इंडियन लैंग्वेजेज**, भूमिका पृ० 38।

29. **देशी नाममाला**–भूमिका–पृ० 30।

30. **पाइय सद्दमहण्णवो**, कलकत्ता, संवत् 1985, भूमिका, पृ० 6।

31. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**, भूमिका 9, पृ० 13।

32. ट्रांसेक्शनल प्रोसीडिंग्ज ऑव दि इटरनेशनल कांग्रेस ऑव ओरियंटैलिस्ट' जिल्द–1, 1883 में रिचर्ड पीरोज एम० ए०, एल० डी० का **पाली, संस्कृत और प्राकृत के तत्व** नामक शीर्षक।

33. **अपभ्रंश काव्यत्रयी**, गायकबाड़ ओरियंटल सीरीज पृ० 96।

34. षष्ठोऽत्रभूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः, 2,12।

35. देशेषु देशेषु पृथग्विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत् स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयंहि तद्देश विदोऽधिकारम्।।
— **विष्णुधर्मोत्तर**, सं० 3, अ० 7।

36. अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।—**काव्यालंकार** 2, 3।

37. 'स्वोपज्ञ विवरोपेतनाट्यदर्पण' पृ० 124—देशस्य कुरुमागधादेरुद्देशः प्राकृतत्वं तस्मिन् सति स्व स्वदेशसंबंधिनी भाषा निबंधनीयेति। इयं च देशगीश्च प्रयोऽपभ्रंशे निपतीति।

38. **पाहुड़ दोहा** की भूमिका–पृ० 33-46

39. पालित्तएण रइया वित्थरओ तहय देसीवयणेहिं।
नामेण तरंगवईकहा विचित्ताय विचित्ताय विउलाय।।

40. पायय भासारइया मरहट्टय देसी वयण णिवद्धौ।
(डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा, लीलावाई की भूमिका से उद्धृत)।

41. भणियं च पिनय भाए रहयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अंगाई इमीय कहाए सज्जणासंग जोड गाई।।
(लीलावाई गाहा, 1330)।

42. **पाहुड़ दोहा**, भूमिका, पृ० 43।

43. णं विणाभिदेसी—**महापुराण**। 1,8,10।

44. वायुरणु देसि सद्दत्थगाढ़, छंदालंकार बिसाल पोढ।
ससमय–परसमय–वियारसहिय, अवसद्दवाय दूरेण रहिय।।
जइ एव माए–बहुलक्खणेहिं, इह विरइय वियक्णणेहिं।
ता इयर कईयण संकिएहिं, पयडिब्बउ किं उप्पउ ण तेहिं।।
पाहुड़ दोहा, भूमिका, पृ० 44।

45. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, पृ० 42, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् संस्करण, सन् 1952 ई०।

46. **अपभ्रंश काव्यत्रयी**, पृ० 13।

47. पाहुड़दोहा की भूमिका, पृ० 46।

48. 'प्राकृतलक्षणम्' चंड पृ० 1–2–'सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृतं त्रेधात्रिप्रकारं भवति संस्कृतयोनि....., संस्कृत समं....., देशी प्रसिद्धंतच्चेदं हर्षितं=ल्हसिअ।

49. **पाइय सद्दमहरणओ भूमिका** पृ० 6।

50. देखिए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र पर पतंजलि **महाभाष्य** की टीका।

51. 'देशी नाममाला वर्ग। श्लो० 37 की वृत्ति–'एते धातवः धात्वादेशेषु शब्दानुशासनेऽस्माभिरूक्ता इति नेहोपात्तः। न च धात्वादेशानां देशीषु संग्रहोपयुक्तः। सिद्धार्थ शब्दानुवाद पराहि देशी, साध्यार्थ पराश्च धात्वादेशाः। दे० ना० मा०, वर्ग 5, श्लोक 24; 'यद्यप्येते क्रिया वाचिनस्तथापित्यादिषु प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेष्वस्माभिर्नपठिता-इत्यत्र निबद्धाः। दे० ना० मा० 1, 10–यद्यप्येते त्रयोऽपि क्रियावाचिनस्तथापित्यादिषु प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेष्वस्माभिर्न पठिता इत्यत्रनिबद्धाः।

52. एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषुप्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति। **हेमचन्द्र** 8/4/2

53. एतेधात्वादेषु शब्दानुशासनेऽस्माभिरुक्ता इति नेहोपात्तः। न च धात्वादेशानां देशीषु संग्रहोयुक्तः। सिद्धार्थशब्दानुवाद परा हि देशी, साध्यार्थपराश्चधात्वादेशाः। ते चेत्यादि–तुम–तव्यादि प्रत्ययैर्बहुरूपाः संग्रहीतुमशक्या इति। **देसी नाममाला**–वर्ग, 1–37 की वृत्ति

54. यद्यप्येते त्रयोपि क्रियावाचिनस्तथापित्यादिषु प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेषु अस्माभिर्न पठिता इत्यत्र निबद्धाः। एवमन्यत्रापि–**देशी नाममाला** वर्ग 1-श्लो० 10

55. अत्र खेड्डइ रमते धात्वादेशेषूक्त इति नोक्त।

पंचम अध्याय

प्राकृत वैयाकरण और अपभ्रंश व्याकरण

वररुचि

प्राकृत व्याकरण के सबसे पुराने वैयाकरण **वररुचि** माने जाते हैं। अपने **प्राकृत प्रकाश** नामक ग्रन्थ में वे केवल चार प्राकृत का ही वर्णन करते हैं। महाराष्ट्री का 1–9 परिच्छेद में, पैशाची का 10वें परिच्छेद में; मागधी का 11वें परिच्छेद में और शौरसेनी का 12वें परिच्छेद में वर्णन किया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण में अर्धमागधी और अपभ्रंश का वर्णन नहीं किया है। वर्णन नहीं करने का कारण यह हो सकता है कि उन्होंने अर्धमागधी को आधा मागधी और आधा महाराष्ट्री के अन्तर्गत समझा हो। अपभ्रंश को प्राकृत से भिन्न भाषा समझने के कारण संभवतः उसका वर्णन अपने प्राकृत व्याकरण में नहीं किया। इस विचार में तथ्य का अभाव मिलता है। यह सर्वविदित सत्य है कि जैनी लोग अपनी लिपि की परम्परा की इज्जत करते हैं। उनकी परम्परा कभी टूटी नहीं। उनके आगमों की सुरक्षा विभिन्न स्थानों में हुई थी और जिनका एक जगह संग्रह किया गया था। यह 5 पाँचवीं शताब्दी में **देवर्धिगणिन** ने किया। संभवतः इसी कारण जब **वररुचि** ने प्राकृत का व्याकरण लिखा तो उस समय अर्धमागधी का साहित्य निश्चित नहीं हो पाया था। अतः हम **वररुचि** को 5 पाँचवीं शताब्दी पूर्व का मान सकते हैं। यह सदा से होता आया है कि जब साहित्य की उपलब्धि हो जाती है तब भाषा का व्याकरण लिखा जाता है। यही निष्कर्ष हम अपभ्रंश के उल्लेख न करने के कारण में भी निकाल सकते हैं। किन्तु **पिशेल** महोदय इस विचार से

सहमत नहीं हैं। **लास्सन** और **ब्लॉख** के विचारों का खण्डन करते हुए **पिशेल** महोदय (§4)[1] ने लिखा है कि **वररुचि** के ऐसा लिखने का कारण यह है कि वह अन्य वैयाकरणों के साथ साथ यह मत रखता है कि अपभ्रंश भाषा प्राकृत नहीं है, जैसा कि **रुद्रट** के **काव्यालंकार** (2–11) पर टीका करते हुए **नमिसाधु** ने स्पष्ट लिखा है कि कुछ लोग तीन भाषायें मानते थे—प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश–

यदुक्तं कैश्चिद् यथा। प्राकृतम् संस्कृतम् चैतद् अपभ्रंश इति त्रिधा।।

प्राकृत वैयाकरण **वररूचि** के व्याकरण पर विचार न करते हुए इतना ही हम कह सकते हैं कि सामान्यतया अपभ्रंश साहित्य की प्राप्ति हमें छठी शताब्दी से होती है। प्राकृत वैयाकरण **वररुचि** वार्तिककार **वररुचि** से भिन्न हैं। विद्वानों ने **वररुचि** का समय तीसरी शताब्दी के लगभग रखा है। अतः यदि उसने अपभ्रंश का वर्णन नहीं किया तो कोई अनुचित नहीं था।

चण्ड

संभवतः **जैन चण्ड** ही ऐसा पहला प्राकृत वैयाकरण है जिसने अपने व्याकरण **प्राकृत लक्षणम्** में अपभ्रंश का व्यवहार किया है। यद्यपि उसने 1–5 सूत्रों में वैकल्पिक रूपों को गिनाया है जो कि अपभ्रंश की खास विशेषता है। एक जगह और दूसरे तथा 19वें सूत्र में धातु से जुड़े हुए प्रत्यय का संकेत किया है—**न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य, सागमस्याप्यामोणों हो वा** तथा **त्तु त्ता च्चा ट्टु त्तं तूण ओप्पिपूर्वकालार्थे** ये तीनों सूत्र **हार्नले** के सम्पादन में हैं। यद्यपि **हार्नले** ने बहुत से सूत्रों को परिशिष्टांक में रखा है, फिर भी उसमें तीसरा एवं दूसरा सूत्र मान्य हो सकता है किन्तु **पिशेल**[2] महोदय को इन सभी पर सन्देह है।

श्री दलाल[3] एवं **गुणे, चण्ड** के उन सूत्रों को प्रामाणिक मानते हैं। मानने का कारण यह है कि –

(1) **चण्ड** ने विभक्ति विधान में साधारण नियमों को संस्कृत की भाँति लागू किया है, उदाहरणों के साथ ही साथ उन्होंने विभक्ति

विधान कारकों का भी किया है– उदाहरणः– सिदेवो, अग्गि, जस्। देवा, कुलानि, तुम्हें आदि, अम्–देवं, अग्गिं आदि। यह विचारने की बात है कि **चण्ड** ने द्वितीया ब० व० शस् को छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त उसने पंच० ए० व० ङसि और ब० व० भ्यस्, सम्ब० ए० व०–ङस् और अधि०–ए० व० और ङि को भी छोड़ दिया है। यह अवश्य है कि यदि हम **हार्नले** द्वारा स्वीकृत **प्राकृत लक्षणम्** के परिशिष्टाँक को देखें तो 3 की आवश्यक पूर्ति हो जाती है। पुनः **चण्ड** ने।

(2) दूसरे भाग में सर्वनाम की व्याख्या दी हैः– 18–31 तक के सूत्रों को दो भागों में विभक्त किया है। 18–25 तक के सूत्रों में युष्मद् अध्याय तथा 26–31 तक के सूत्रों में अस्मद् अध्याय का वर्णन किया है। यहाँ भी कारकों के वर्णन में सम्बन्ध ब० व० एवं सप्तमी को छोड़ दिया है। अस्मद् अध्याय के वर्णन में भी प्रथ० ए० व०, ब० व० तथा कर्म ए० व० का वर्णन भी छोड़ दिया गया है। हार्नले ने इसकी पूर्ति परिशिष्टांक के द्वारा की है। परिशिष्टांक में परवर्ती भाग के 26वें सूत्र में हमें अपभ्रंश का 'हउं' रूप मिलता है।

(3) अपभ्रंश की दृष्टि से मुख्य प्रामाणिक रूप परिशिष्टांक 11, 27 सूत्रों में है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि सभी स्वीकृत पुस्तकें अव्यवस्थित हैं। सूत्रों का पूर्ण परिपाक नहीं हो सका है। इस प्रकार समस्त रचनाएँ आधी व्यवस्थित हैं। यह भाग स्वर विधान कहलाता है। प्रथम 14 सूत्र केवल नाम के हैं। अवशिष्ट 15 सूत्रों में सब कुछ मिला हुआ है–उदाहरण स्वरूप–**ता ताव तावतः** 21, **खलो खुः** 24, **मे सर्वासु युष्मदः** 26, **भावेत्तणः** 29 आदि अपभ्रंश का वैशिष्ट्य बताते हैं। कुछ और अतिरिक्त सूत्र पाये जाते हैं। वे हैं–

1. इजेराः पाद पूरणे, 2. जि अव्ययं एवार्थे, 3. णवरि आनन्तर्यार्थे, 4. णवरु केवलार्थे, 5. यदेश्छडु, 6. थू थू छि छि कुत्सायां, 7. दडवड शीघ्रार्थे-दडवडहोइविहाणु, 8. अतिरभसादूर्ध्व-मुखस्येतस्ततोगमने-डवडव-डवडव चरियाए, 9. णं णउ णाइं णावइ

जणि जाणु मणु इवार्थे–, मिव, पिव, विव, व्वव विअइवार्थे वा भवन्ति, 10. दाणिं एण्हिं एत्तहे एवहिं इदानीमः, 11. यथा तथा अनयोः स्थाने जिमतिमौ आदि–

दोहा– कालुलहेविणु जोइया जिम जिम मोह गलेइ।
तिम तिम देसणु लहइ जो णिय में अप्पु मुणेइ।।

पूर्वोक्त उद्धरणों में 1 से लेकर 6 तक का कथन विना उदाहरण का है और इस पर आपत्ति की जा सकती है। क्योंकि **चण्ड** ने सदा अपनी बातों के लिये उदाहरण दिया है। यही बात 9 और 10वें के लिये भी कही जा सकती है। नम्बर 7, 8, और 11 वाँ बिल्कुल **चण्ड** की प्रकृति के अनुकूल है। इन सबों में अपभ्रंश की क्रिया की विचित्रता वाला रूप 'दडवड' शब्द अर्थ के साथ है। **हेमचन्द्र** ने अपने **प्राकृत व्याकरण** (4/422 सूत्र) में **दडवड** 'शब्द' का अस्वाभाविक अर्थ अवस्कन्द लिया है। नं० 8 में दडवड शब्द को देशी माना गया है जो कि अपभ्रंश में असामान्य नहीं है। किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण अपभ्रंश नं० 11 है। उसमें अपभ्रंश जिम और तिम शब्द है जो कि यथा और तथा के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, दोहा में इसका विस्तार है।

उपर्युक्त जितने भी उदाहरण दिये गये हैं वे सभी कुछ हेरफेर के साथ **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों में पाये जाते हैं। इस रूप में देखने पर **हेमचन्द्र** सदा संग्रह कर्ता ही माने जायेंगे। **हेमचन्द्र** बहुत बड़े संग्रह कर्ता थे इस बात की पुष्टि उनके दूसरे साहित्य से भी होती है।

अतः यह निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि **चण्ड, हेमचन्द्र** के पूर्ववर्ती थे। किन्तु **हार्नले**[4] का यह कथन कि **चण्ड** का व्याकरण पुरानी प्राकृत भाषा का प्रतिनिधित्व करता है कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उनका दूसरा दावा कि **चण्ड, वररुचि** से भी पहले हुआ था और उसने अपना व्याकरण तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से कुछ बाद लिखा था–यह कथन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः **चण्ड** उस समय हुआ था जब अपभ्रंश आभीरों की एक प्रमुख बोली हो चुकी थी और साहित्यिक भाषा बन चुकी थी। अतः उसका समय छठी शताब्दी के बाद ही होना चाहिये पहिले नहीं।

निष्कर्ष यह कि **चण्ड** ने मुख्यतया जिस भाषा का व्याकरण लिखा है, वह महाराष्ट्री है, किन्तु इसके साथ-साथ वह स्वयं 3, 37 में अपभ्रंश, 3, 38 में पैशाचिकी, तथा 3, 39 में मागधिका का उल्लेख करता है। 'आर्ष भाषा' का भी वर्णन उसने किया है। पूर्वोक्त समस्त बातों पर विचार करते हुए **पिशेल** (§ 34) ने अपना निर्णय दिया है कि **चण्ड, हेमचन्द्र** से पुराना प्राकृत वैयाकरण है और **हेमचन्द्र** ने जिन-जिन प्राचीन व्याकरणों से अपनी समग्री एकत्रित की है, उनमें से एक यह भी है। **पिशेल** का पुनः यह कथन है कि इसकी अति प्राचीनता का एक प्रमाण यह भी है कि इसके नाना प्रकार के पाठ मिलते हैं। **चण्ड** संज्ञा और सर्वनाम के रूपों से (विभक्ति विधान) अपना व्याकरण आरम्भ करता है। इसके दूसरे परिच्छेद में उसने स्वरों के बारे में लिखा है (स्वर विधान) और तीसरे परिच्छेद में व्यंजनों के विषय में नियम बताये हैं (व्यंजन विधान)। अन्तिम चौथा परिच्छेद है—(भाषान्तर विधान) जिसमें अन्य भाषाओं के नियम दिये हैं। इस नाम का अनुसरण करके इस परिच्छेद में महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी को छोड़कर अन्य प्राकृत भाषाओं के नियमों और विशेषताओं के बारे में लिखा गया है।

हेमचन्द्र

अपभ्रंश की दृष्टि से सभी प्राकृत वैयाकरणों में **हेमचन्द्र** सर्व प्रमुख हैं। अपने **सिद्धहेमचन्द्र** प्राकृत व्याकरण में उसने बड़ी सावधानी से अपभ्रंश का चित्रण किया है। इसमें सबसे बड़ी भारी विशेषता यह है कि उसने सूत्रों की व्याख्या में अपभ्रंश दोहों को प्रस्तुत किया है। महाराष्ट्री को छोड़ कर दूसरी प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के विषय में उसने अधिक ईमानदारी दिखाई है। 8/4/329 से 448 तक के सूत्रों में उसने इसका वर्णन किया है। प्राकृत धात्वादेश सूत्र 8/4/2 से लेकर 4/259 तक हैं जिनमें कि बहुत से सूत्र वस्तुतः अपभ्रंश के लिये भी

हैं। वस्तुतः वे सभी धातु सूत्र अपभ्रंश में भी लागू हो जाते हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश के लिये लगभग 378 सूत्रों को लिखा है जबकि शौरसेनी के लिये 27, मागधी के लिये 16, और पैशाची के लिये 26 ही सूत्र लिखे हैं। अगर हम धात्वादेश को छोड़ भी दें तो भी अपभ्रंश के 120 सूत्र बचे रहते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि **हेमचन्द्र** जैसे वैयाकरण ने भी अपभ्रंश की बोलियों पर ध्यान नहीं दिया है। उस पर इनसे सैंकड़ों वर्ष पूर्व **नमिसाधु** ने ध्यान दिया था और उस पर विचार किया था। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों तथा उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपभ्रंश की दो बोलियों को एक में मिला दिया है इसके उदाहरण है :—

(1) ऋ, ए तथा ग की रक्षा है। 4/329—तृणु, तणु, सुकृदु और सुकिउ; 4/341—गृहन्ति, 4/370—कृदन्त हो; 4/394—ग्रह का गृण्ह—गृह्णेप्पिणु।

(2) 4/396—स्वर के बाद चवर्ग को छोड़ कर किसी भी वर्ग के असंयुक्त प्रथम वर्ण का तृतीय और द्वितीय वर्ण का चतुर्थ वर्ण में परिवर्तन हो जाता है अर्थात् स्पर्श प्रथम अल्प प्राण का तृतीय स्पर्श अल्प प्राण और स्पर्श द्वितीय महाप्राण का चतुर्थ स्पर्श महाप्राण हो जाता है—4/396— विच्छोह गरु < विक्षोभकरः, सुध < सुख, कधिदु < कथित, सबधु < शपथ, और सभलु < सफल की तुलना कीजिये—4/269—शौरसेनी णाधो, कधं, णाहो, कहं, आदि।

(3) असंयुक्त म का अनुनासिक व होता है—कवँलु, भवँरू।

(4) संयुक्त र व्यंजन की सुरक्षा—4/398- प्रियेण, प्राउ। 4/393-प्रस्सदि; 4/360—ध्रुं, त्रं; 4/422—द्रम्मु, द्रवक्कु; 4/404—प्रयावदी।

(5) वर्तमान काल ए० व० और ब० व० में उँ और हुँ का वैकल्पिक रूप—4/385, 396—कड्ढउँ, लहहुँ।

(6) वर्तमानकाल तृतीय पु०, ए० व० और ब० व० में दि और हि होता है—4/382—धरहिं, करहिं, (परवर्ती रूप); 4/393—प्रस्सदि (शौरसेनी का द्योतक);

(7) आज्ञा वाचक म० पु० ए० व० के लिये इ, उ, और ए रूप होता है—4/387—सुमरि, करे; 4/330—करु; आदि।

(8) भविष्यत्काल में ह के रहते हुए भी स को रखना—4/388—होसइ (शौरसेनी की विशेषता है)।

(9) कर्म वाच्य के लिये वैकल्पिक रूप—4/389—कीसु।

(10) 4/406—जामहिं, तामहिं जैसे रूपों का निर्देश। इस प्रकार उसने शौरसेनी अपभ्रंश और संभवतः महाराष्ट्री अपभ्रंश के रूपों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया है।

हेमचन्द्र ने अपभ्रंश विषयक व्याकरण की रचना में किसी खास बोली का उल्लेख नहीं किया है। उनकी अपभ्रंश विषयक रचना परिपूर्ण है। उनके अपभ्रंश व्याकरण की महत्ता तब और बढ़ जाती है जब वे प्रत्येक सूत्र के लिये उद्धरण स्वरूप दोहा उपस्थित करते हैं। कभी-कभी तो एक सूत्र के लिये उन्होंने बहुत से दोहे उपस्थित किये हैं। उनमें से बहुत से दोहों का पता लगाने का प्रयत्न किया गया है। **पिशेल** ने उनमें से बहुत से दोहों को **हाल** की **सतसई** का बताया है। (1) बहुत से दोहे (कुछ छन्द) प्रेम सम्बन्धी चरित्र से युक्त हैं, लगभग 18 दोहे वीरता के चरित्र से परिपूर्ण हैं। (2) 60 दोहे के लगभग उपदेश से युक्त हैं (3) दश दोहे जैन धर्म से प्रभावित हैं। (4) 5 दोहे ऋषियों की कहानियों के संग्रह और पौराणिक कथः से परिपूर्ण हैं—एक दोहा **कृष्ण** और **राधा** का, दूसरा बलि और वामन का, एक दोहा **राम** और **रावण** का और दो दोहे **महाभारत** सम्बन्धी हैं। प्रेम संबंधी दो दोहे ऐसे हैं जो कि **मुंज** से संबंधित हैं। ये संभवतः उन्हीं दिनों बनाये गये थे या तत्काल 10वीं शताब्दी के दुर्भाग्यशाली राजा

मुंज की मृत्यु के बाद बनाये गये थे। 4/357 का 2, 3 दोहा और 4/420 का 5 वां दोहा **हेमचन्द्र** के सैंकड़ों वर्ष पुराने **सरस्वती कण्ठाभरण** में पाया जाता है। **डा० हीरालाल जैन** ने कुछ दोहों को **पाहुड़ दोहा** (पृ० 22) से लिया हुआ सिद्ध किया है। इन सभी कारणों से पता चलता है कि **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश साहित्य से उदाहरणों को संकलित किया था जो कि 9वीं या 10वीं शताब्दी में बने थे।

हेमचन्द्र की अपभ्रंश रचना को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी रचना **चण्ड** के **प्राकृत लक्षणम्** के अनुकूल नहीं है। कारण कि **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश के प्रथम सूत्र में स्वर का विधान किया है तब व्यंजन का, तदनन्तर विभक्ति आदि का विधान किया है। अपभ्रंश रचना की यह शैली परवर्ती लेखकों के लिये आदर्श का प्रतिमान बन गयी।

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर और सिंहराज

त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर और **सिंहराज** इन तीनों लेखकों ने **वाल्मीकि** के मौलिक सूत्रों पर टीका की है। **लक्ष्मीधर** ने स्वतः इस बात का संकेत **षड्भाषा चन्द्रिका** में किया भी है। किन्तु **त्रिविक्रम** ने सूत्रों को निजी रचना बतायी है :—

प्राकृत पदार्थ सार्थ प्राप्त्यै निज सूत्र मार्गमनुजिगमिषताम्।
वृत्तिर्यथार्थ सिद्धयै त्रिविक्रमेणागम क्रमात् क्रियते।।

यहाँ पर **प्रो० पिशेल** ने 'निज' पद की व्याख्या दो रूपों में की है। मूलतः उसने इसे 'अपने' अर्थ में लिया है और इसे 'अनुजिगमिषताम्' से मिलाया है । फिर इसे **त्रिविक्रम** के साथ जोड़ा है। **ईहाल्च** का कहना है कि 'निज' शब्द का सम्बन्ध 'स्व' पद से है। ऐसा मान लेने पर **त्रिविक्रम** सूत्र के रचयिता भी माने ज़ायेंगे। किन्तु **प्रो० रंगाचार्य** का **मद्रास केटलाग** (पृ० 1083 नं० 1548) से पता लगता है कि सूत्र की व्याख्या **त्रिविक्रम** ने की थी और **सिंहराज** ने

उसे सजाया था। परम्परा के अनुसार **रामायण** के रचयिता **बाल्मीकि** ही सूत्रकार भी हैं। **लक्ष्मीधर** ने भी सूत्र के रचयिता **वाल्मीकि** को ही माना है तथा उन मूल सूत्रों की उन्होंने टीका की है। **पिशेल** (द ग्रामेटिक प्राकृतिक, पृ० 8, §38) का विश्वास है कि **त्रिविक्रम** ने **हेमचन्द्र** के प्राकृत व्याकरण के आधार पर सूत्रों को व्यवस्थित किया है।

त्रिविक्रम तथा हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की तुलना

त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरण के सूत्रों में तथा **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों में बहुत कुछ साम्य है। **त्रिविक्रम** ने अपभ्रंश के 117 सूत्र लिखे हैं। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों से इन सूत्रों का अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध बना हुआ है। यद्यपि दोनों लेखकों की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि **त्रिविक्रम** ने **हेमचन्द्र** की टीका से बहुत अधिक संग्रह किया है। यहाँ तक कि कुछ उदाहरण भी उसके अपभ्रंश संग्रह से लिये गये हैं। फिर भी **त्रिविक्रम** की रचना की विशेषता है कि उसने बहुत से उदाहरणों को नाटकों तथा प्राकृत साहित्य से दिया है। **हेमचन्द्र** के सम्पूर्ण अपभ्रंश उदाहरणों को संस्कृत में अनुवाद करना एक बड़ी भारी विशेषता है। इस तरह **हेमचन्द्र** के सूत्रों के साथ **त्रिविक्रम** के सूत्रों को मिलाने पर पता चलता है कि दोनों के अपभ्रंश सूत्रों में बहुत कुछ साम्य है :—

	हेमचन्द्र	त्रिविक्रम
1.	(क) स्यादौ दीर्घह्रस्वौ	i. (क) दिहौ सुपि
	(ख) स्यमोरस्योत	(ख) स्वम्येत उत
	(ग) सौ पुंस्यौद्वा	(ग) ओन सौ तु पुंसि
	(घ) एट् टि	(घ) टि
	(ङ) ङिनेच्च	(ङ) ङि नच्च

2. (क) स्त्रियां डहे	2. (क) स्त्रियां डहे
(ख) यत्तदः स्यमोर्धुत्रं	(ख) यत्त द्रुं त्रुं स्वमोः
(ग) इदम इमुः क्लीबे	(ग) इदमः इमु नपुंसके
(घ) एतदः स्त्री पुँक्लीबे	(घ) एतदेह
(ङ) एह एहो एहु	(ङ) एहो एहु स्त्री नृनपि
(च) एईर्जश्शसोः	(च) जश्शसोरेइ
3. (क) त्वतलोप्पणः	3. (क) त्वत लौप्पणं
(ख) तव्यस्य इं एव्वउं	(ख) तव्यस्य एव्वइ
(ग) एव्वउं एवाः	(ग) एव्वइ एव्वाः
(घ) क्त्व इ इउइविअवयः	(घ) क्त्व इ इ उ ए अवि
(ङ) एप्योप्पिण्वे व्ये विण्वः	(ङ) एण्येप्पिण्वेप्येप्पिणु
(च) तुम एवमणाणहमणहिं च	(च) तुमएवमणाणहमणहिं च

पूर्वोक्त तुलना से सिद्ध होता है कि **हेमचन्द्र** का प्रभाव **त्रिविक्रम** पर बहुत अधिक था। **त्रिविक्रम** की सारी रचना शैली एवं उदाहरण **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश सूत्रों से लिये गये हैं।

लक्ष्मीधर

लक्ष्मीधर ने **षड्भाषा चन्द्रिका** में 1085 सूत्रों की व्याख्या की है जो कि एक तरह से **त्रिविक्रम** की टीका की टीका है। **लक्ष्मीधर** की सबसे बड़ी भारी विशेषता है कि उसने सूत्रों को विषय के अनुकूल व्यवस्थित कर सजाया है यानी **भट्टोजी दीक्षित** की **सिद्धान्त कौमुदी** के आधार पर प्रक्रिया के अनुसार—कारक, तिङन्त, कृदन्त, अव्ययादि सूत्रों में विभक्त किया है। इस प्रक्रिया के विभाजन से लोगों को सरलता से व्याकरण का ज्ञान हो जाता है। **लक्ष्मीधर** ने शब्द रूप

(प्रयोग) सिद्धि के अतिरिक्त कोई उदाहरण नहीं दिया है। अतः अपभ्रंश के लिये यह रचना कोई विशेष उपयोगी नहीं कही जा सकती।

मतलब यह कि **लक्ष्मीधर** की रचना **त्रिविक्रम** की व्याख्या मात्र कही जा सकती है। **लक्ष्मीधर** ने स्वतः **त्रिविक्रम** का आदर के साथ प्रमाण दिया है और कहा है कि वे लोग जो **त्रिविक्रम** की कठिन वृत्ति की व्याख्या चाहते हैं, **षड्भाषा चन्द्रिका** का अध्ययन करें–

वृत्तिं त्रैविक्रमीं गूढां व्याचिख्या सन्ति ये बुधाः।
षड्भाषा चन्द्रिका तैस्तद् व्याख्या रूपा विलोक्यताम्।।

सिंहराज

सिंहराज का **प्राकृत रूपावतार** वाल्मीकि सूत्र की टीका कही जाती है जैसा कि **लक्ष्मीधर** ने भी यही कहा है। 1085 सूत्रों में से उसने 575 सूत्रों पर टीका की है। इन्होंने **हेमचन्द्र, त्रिविक्रम** एवं **लक्ष्मीधर** के उदाहरणों का ही पिष्टपेषण किया है। इनमें कोई विशेष वैशिष्ट्य नहीं है। अतः इनकी रचना अपभ्रंश के लिये कोई विशेष उपयोगी नहीं कही जा सकती। इन्होंने स्वतः भूमिका भाग में कहा है–**तत्रादौ शास्त्रीय संव्याहार परिज्ञानार्थं संज्ञे परिभाषे वर्ण्येते।** अतः इनकी रचना में सूत्रों के नाम तथा पारिभाषिक शब्दावली की व्याख्या ही विशेषतया कही गयी है।

मार्कण्डेय

मार्कण्डेय का **प्राकृत सर्वस्व** अपभ्रंश की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण रचना है। **मार्कण्डेय** स्वतन्त्र विचार का वैयाकरण है। ये न तो पश्चिम भारत के वैयाकरणों का ही अनुकरण करते हैं और न तो जैनियों का ही। इन्होंने प्राकृत के साथ देशी भाषा का भी वर्णन किया है। तीन प्रकार की अपभ्रंशों का व्यवहार बताकर उसकी स्वतन्त्र व्याख्या दी है। प्राकृत का भाषा, विभाषा, अपभ्रंश एवं पैशाची में भेद करते हुए **मार्कण्डेय** ने कहा है :–

चतुर्विधं तच्च भाषा विभाषा पंचधा पृथक्।
अपभ्रंशास्त्रयस्त्रिरुत्रः पैशाच्यश्चेति षोडशः।।

अपभ्रंश की व्याख्या करते हुए **मार्कण्डेय** ने किसी अज्ञात लेखक के अनुसार 27 अपभ्रंशों की सूचना दी है। स्वतः उसने तीन अपभ्रंश भाषायें स्वीकार की हैं:– नागर, उपनागर और ब्राचड। इससे अतिरिक्त अन्य अपभ्रंश भाषाओं का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं माना है। वे सभी इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती हैं :–

अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वात् न पृथङ्मताः।

उन्होंने अपभ्रंश के 27 भेद किये हैं, इनमें पाण्ड्य, कालिंग्य, कारणाट, कांच, द्राविड़ आदि को भी सम्मिलित कर लिया है। इस पर **पिशेल** महोदय का कहना है कि **मार्कण्डेय**[5] ने अपभ्रंश के अन्तर्गत आर्य और अनार्य दोनों प्रकार की भाषाओं का वर्गीकरण किया है। **डा० रामकुमार वर्मा**[6] का कहना है कि यद्यपि यह कठिनता से माना जा सकता है कि आर्य और अनार्य भाषाओं में सूक्ष्म भेद है ही और वे स्वतन्त्र भाषाओं की संज्ञा से विभूषित नहीं की जा सकतीं। जिस प्रकार प्राकृत में महाराष्ट्री प्राकृत मान्य है उसी प्रकार अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मुख्यतः गुजरात में बोली जाती थी। नागर का अर्थ यह भी है जो कि नागर देश में बोली जाती हो। गुजरात के पंडित नागर कहे जाते थे, अतएव नागर अपभ्रंश का स्थान गुजरात में था किन्तु नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था जो कि **मध्य प्रदेश** के होने के कारण संस्कृत के प्रभाव से वंचित नहीं हो सकती थी। व्राचड़ सिंध में बोली जाती थी और उपनागर सिंध के बीच के प्रदेश में अर्थात् पश्चिम राजस्थान और दक्षिण पंजाब में बोली जाती थी।

इन अपभ्रंशों पर विचार करते समय प्राकृत साहित्य तथा नाटकों से उदाहरण लिये जाते हैं–

(1) काव्यों में **बृहत्कथा, सप्तशती, सेतुबन्ध** और **गउडवाहो** से उद्धरण दिया गया है।

(2) नाटकों में **शाकुन्तल, रत्नावली, मालती माधव, मृच्छकटिक, वेणी संहार, कर्पूरमंजरी** और **विलासवती सत्तक** आदि से उद्धरण लिये गये हैं।

(3) **भरत, कोहल, भट्टि, भोजदेव** और **पिंगल** का भी उल्लेख किया है।

इस प्रकार अपभ्रंश की दृष्टि से **हेमचन्द्र** के बाद **मार्कण्डेय** का **प्राकृत सर्वस्व** ही अधिक सुरक्षित, समुचित एवं पूर्ण ज्ञाता होता है। यद्यपि उसने पूर्ववर्ती लेखकों में **शाकल्य, भरत, कोहल, भामह** और **वसंतराज** का उल्लेख किया है, पर यह पता नहीं चल पाता कि उसने केवल उन लोगों का नाम गिनाने के लिये उल्लेख किया है या उनसे प्रभावित भी है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उन लोगों का नामोल्लेख ठीक उसी प्रकार किया है जिस प्रकार **सिंहराज** ने **वाल्मीकि** का उल्लेख किया है। अस्तु; जो कुछ भी हो **प्राकृत सर्वस्व** में अपभ्रंश सूत्रों को देखते हुए यह मानना ही पड़ता है कि उसने अपने से पूर्ववर्ती वैयाकरण यानी **हेमचन्द्र** से लेकर **सिंहराज** तक के व्याकरणों का समुचित उपयोग कर परिष्कृत रूप में अपनी रचना प्रस्तुत की है। पूर्वोक्त प्राकृत वैयाकरणों के अतिरिक्त और भी प्राकृत वैयाकरण हो चुके हैं। किन्तु उन लोगों के व्याकरण में अपभ्रंश विषयक कोई नूतनता नहीं पायी जाती।

आधुनिक प्राकृत वैयाकरण

आधुनिक प्राकृत वैयाकरणों में **ए० सी० वुलनर** का **इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत** (1939 सन्), **दिनेश चन्द्र सरकार** का **ए ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज** (943 सन्), **ए० एल० घाटगे** का **एन इन्ट्रोडक्शन टू अर्धमागधी** (1940), **होएफर** का **डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ** (बर्लिन सन 1836), **लास्सन** का **इन्स्टीट्यूत्सी ओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाए** (बौनई 1839), **कौवे** का **ए शोर्ट इन्ट्रोडक्शन टु द ऑर्डनरी प्राकृत ऑव द संस्कृत ड्रामाज् विथ लिस्ट ऑव कॉमन**

इरेगुलर प्राकृत वर्डस (लन्दन सन् 1875), **रिचर्ड पिशेल** का **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** (सन् 1958), **पं० वेचर दास दोशी** का **प्राकृत व्याकरण** (अहमदावाद ई० 1925), **डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल** का **प्राकृत विमर्श** (सन् 1953) आदि। अपभ्रंश के लिये **पिशेल** की पुस्तक परिपूर्ण तथा बहुत ही उपयोगी है। अपभ्रंश के सामान्य ज्ञान के लिये **वुलनर** भी आवश्यक है। **पं० बेचर दास** जी ने सरल भाषा में अभिव्यक्ति की है। प्राकृत भाषाओं पर इन लोगों की विचारपूर्ण भूमिका बहुत ही उपादेय है। **ज्यू व्लॉख** तथा **डॉ० ग्रियर्सन** ने **म० भा० आ०** तथा **न० भा० आ०** का उद्धार तो किया ही है। **डा० तगारे** का अपभ्रंश व्याकरण संतुलित है। **डा० ए० के० सेन** का **तुलनात्मक व्याकरण** भी अपभ्रंश पर पूर्ण प्रकाश डालता है।

संदर्भ

1. **प्राकृतभाषाओं का व्याकरण** पृ० 4, प्रकाशन–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना।
2. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**, 34 भूमिका पृ० 74।
3. **भविसत्त कहा** भूमिका पृ० 61।
4. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** ह 34–भूमिका पृ० 74।
5. **अपभ्रंश एकार्डिगं टु मार्कण्डेय**–जी० ए० ग्रियर्सन (जे० आर० ए० एस०) पृ० 815।
6. **हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास** पृ० 47–48। डा० राम कुमार वर्मा, प्रकाशक–राम नारायण लाल, इलाहाबाद, स० 1954।

षष्ठ अध्याय

व्याकरण प्रस्तुत करने की विधि

अपभ्रंश का क्षेत्रीय भेद अपभ्रंश भाषा के निर्णय करने में विघ्न पैदा करता है। मध्य भारतीय आर्य भाषाओं की बोलियों की ध्वनियों से इसकी भिन्नता दिखाना कठिन है। वस्तुतः पूरे मध्य भारतीय आर्य भाषाओं की ध्वनियाँ पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हैं। प्राकृत की बोलियाँ महाराष्ट्री तथा शौरसेनी की ध्वनियों से कोई खास अन्तर नहीं रखती हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं का परिवर्तित रूप ही इनमें पाया जाता है जैसे – प्रा० भा० आ० त और थ और र्य य्य में (हेम० 8/4/286–98), पैशाची त को द, ण को न, ल को ञ (हेम० 8/4/303–24), मागधी में र को ल, स, ष को श, ज को य और प्रायः य की सुरक्षा रहती है इसी तरह प्राकृत वैयाकरणों ने ऋ और र दोनों की सुरक्षा की है। व्यंजन क, ख, त, थ, प और फ की जगह ग, घ, द, ध, ब और भ हो जाता है, अपभ्रंश में स्वर विनिमय तथा उनके दीर्घ या ह्रस्व करने की स्वतन्त्रता है; जैसे एक ही कारक में 'हँ' या 'हुँ' और 'हे' या 'हु' प्रत्यय पाये जाते हैं, और ओ की जगह 'उ' हो जाता है। म का बहुत कम उच्चारण होता है क्योंकि इसके स्थान में प्रायः 'वँ' हो जाता है। विभक्ति के अन्त में 'स' के स्थान में 'ह' होता है और इससे अनेक रूप समझ में आ जाते हैं, जैसे **मार्कण्डेय** तथा अन्य लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'देवहो' वैदिक 'देवासः' से मिलता जुलता है। इसी प्रकार 'देवहँ' प्राकृत के 'देवस्स' से, 'ताहँ' 'तस्स' से, 'तहिँ' तसिं से मिलता है। वस्तुतः शब्द रूपों के कारण ही अपभ्रंश प्राकृत से अपनी भिन्नता प्रकट करती है। ये ही शब्द रूप अपभ्रंश को म० भा० आ० भाषा की अन्य बोलियों से पृथक् करता है। इसके अतिरिक्त

उच्चारण को सरल बनाने के लिए प्राकृत की संधियाँ प्रायः शिथिल कर दी जाती हैं। शब्द रूपों पर 'स्वर परिवर्तन' का प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी कर्ता, कर्म और सम्बन्ध कारक में प्रत्यय नहीं लगाया जाता; इन सभी दृष्टियों से अपभ्रंश के शब्द रूप शेष म० भा० आ० से पृथक् हो जाते हैं। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण के कुछ नियम अपभ्रंश साहित्य में लागू नहीं होते। **डा० ए० एन० उपाध्ये** ने **परमात्म प्रकाश** में ऐसे बहुत से उदाहरण दिखाये हैं।

अपभ्रंश ध्वनि की प्रमुख विशेषतायें

पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती अपभ्रंश में भाषा की विकासात्मक प्रवृत्तियाँ दीख पड़ती हैं। परवर्ती अपभ्रंश में और भी शब्द रूपों की ढ़िलाई दीख पडती हैं। विभक्तियाँ प्रचुर मात्रा में क्षीण हो चली थीं। ध्वन्यात्मक परिवर्तन भी काफ़ी दीख पड़ने लगा था। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण के उद्धरणों में भी ये चीजें परिलक्षित होती हैं। अपभ्रंश ध्वनि की कुछ मुख्य भिन्नतायें देखी जा सकती हैं :–

(1) स्वर परिवर्तन की अव्यवस्था।

(2) कहीं-कहीं ऋ स्वर की सुरक्षा करना।

(3) म का वँ में परिवर्तन।

(4) व्यंजन र की सुरक्षा (अनावश्यक रूप से र का आगमन) यह प्रवृत्ति प्रा० भा० आ० में नहीं दीख पड़ती।

(5) अपभ्रंश में र की सुरक्षा होते हुए भी प्रायः र का लोप हो जाता है। जैसे – चन्द < चन्द्र, पिड, पिय < प्रिय।

(6) म्ह का म्भ विकल्प करके होता है। प्राकृत में भी म्ह को म्भ होता था। गिम्भ, गिम्ह < ग्रीष्म

(7) ह्रस्व स्वरों का सानुनासिक तथा सानुस्वार रूप परवर्ती अपभ्रंश में भी मिलता है, तथा ण्ह, म्ह ध्वनियाँ भो पायी जाती हैं। न एवं न्ह का प्रयोग भी होता था। **हेमचन्द्र** ने आदि न की सुरक्षा का

विधान किया है किन्तु अपभ्रंश रचनाओं में ण एवं ण्ह का ही रूप मिलता है। **पिशेल** ने अपभ्रंश के संस्करणों में ण का ही प्रयोग किया है। **परमात्म प्रकाश** में भी ण का ही प्रयोग मिलता है। अन्य रचनाओं में न एवं न्ह का प्रयोग भी मिलता है।

(8) **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश में यद्यपि ण एवं ड का ही विधान मिलता है तथापि परवर्ती अपभ्रंश में एवं न० भा० आ० में ड़ की ध्वनि भी पायी जाती है। ड़ वस्तुतः ड ही ध्वनि है। वस्तुतः यह कोई भिन्न ध्वनि नहीं है। कभी-कभी ल की जगह ड का उच्चारण भी पाया जाता है। न० भा० आ० की व्रज भाषा आदि में न, म्ह एवं ड आदि ध्वनियाँ ही पायी जाती हैं।

(9) अपभ्रंश में अनुस्वार एवं अनुनासिक दोनों तरह के रूप पाये जाते हैं। विभक्त्यन्त रूप प्रायः सानुनासिक मिलते हैं। किन्तु अनुस्वार युक्त शब्द रूप भी देखे जाते हैं। यह प्रवृत्ति नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के व्रज भाषा आदि में भी देखी जाती है। **पिशेल महोदय** (§178) ने वर्तनी सम्बन्धी खास समस्या का कारण यह बताया है कि 'म० भा० आ० में अनुस्वार के अतिरिक्त हमें दो प्रकार के नासिक्य स्वर उपलब्ध होते हैं, जिनमें एक अनुस्वार के चिह्न से व्यक्त किया जाता है, दूसरा अनुनासिक के चिह्न से'। प्राकृत के करण बहुवचन में एक साथ –हिं, हिँ, तथा–हि तीनों रूप–मिलते हैं। 'शुद्ध अनुस्वार तथा नासिक्य स्वर का विभेद यह है कि जहाँ ँ का संबंध पूर्ववर्ती न्, म् से जोड़ा जा सके वहाँ अनुस्वार होगा, अन्यत्र नासिक्य स्वर। यह नासिक्य स्वर कहीं तो ° के द्वारा और कहीं ँ के द्वारा चिह्नित किया जाता है।'

य ध्वनि तथा य श्रुति का प्रयोग

जैन अपभ्रंश पुस्तकों में कभी-कभी 'य' के स्थान पर 'इ' तथा 'इ' के स्थान पर 'य' का भी प्रयोग पाया जाता है जैसे रय =रइ=रति, गय (=गइ=गति) **संदेश रासक** आदि में इसके बहुत से उदाहरण पाये

जाते हैं। **हेमचन्द्र** ने (8/1/180) बताया है कि 'अ' या 'आ' के साथ प्राकृत या अपभ्रंश में 'य' श्रुति पाई जाती है। कुछ प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राकृत में विकल्प से 'य' श्रुति तथा 'व' श्रुति वाले प्रयोग पाये जाते हैं—गअणं, गयणं, सुहओ, सुहवो आदि। अपभ्रंश में पदान्त उद्धृत्त स्वरों के स्थान पर 'य' श्रुति प्रायः देखी जाती है। कभी-कभी उद्धृत्त स्वर अ की जगह इ तथा 'उ' भी देखा जाता है, उद्धृत स्वर की रक्षा भी की जाती है। **पिशेल**[1] महोदय का कहना है कि 'जहाँ पद के बीच में स्वर मध्यगत व्यञ्जन लुप्त होता है, उन दो स्वरों के बीच 'य' श्रुति का विकास हो जाता है, यह 'य' श्रुति-जैन हस्त लेखों में तथा सभी विभाषाओं में लिपि कृत होती है, और अर्ध-मागधी, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी का खास लक्षण है। उनका यह भी कहना है कि जैनेतर हस्तलेखों में यह 'य' श्रुति नहीं मिलती। इस श्रुति का प्रचुर प्रयोग अ-आ के साथ ही होता है, किन्तु इसका अस्तित्व इ तथा उ के साथ अ, आ, आने पर भी देखा जाता है जैसे—'पियइ'—(=पिबति) इन्दिय (=इन्द्रिय), हियय (=हृदय), गीय (=गीत), रुय (रुव), दूय (=दूत) (प्रा० व्या० §187)।'

व श्रुति का प्रयोग

यद्यपि **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में व श्रुति नहीं दीख पड़ती किन्तु यह श्रुति अपभ्रंश में दृष्टिगत होती है। प्रायः उ, ऊ या ओ के पश्चात 'अ'—ध्वनि के रहने पर 'व' श्रुति पायी जाती है। अंसुव (=अंशुकः), कंचुव (=कंचुक), भुव (=भुज), हुवास (=हुताश) आदि। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में भी ऐसे रूप दीख पड़ते हैं—रुवइ (=रुदति), उवर (=उदर), केवइ (=केतकी) आदि।

(1) उपान्त्य स्वर की प्रायः सुरक्षा की जाती है।

(2) यद्यपि बोलचाल की अपभ्रंश में उद्वृत्त स्वरों को एकीकरण द्वारा संयुक्त स्वर कर देने का आभास मिलता है, तथापि साहित्यिक अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बहुत कम देखी जाती है।

शब्द रूप

शब्द रूपों के कारण ही अपभ्रंश की अन्य प्राकृत भाषाओं से भिन्नता है। शब्द रूपों में निरन्तर विकास होने के कारण और भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दरूपों में सामान्यतया ह्रास की प्रवृत्ति आने के कारण अपभ्रंश में एकरूपता परिलक्षित होने लगी। शब्द रूप प्रायः अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त होने लगे (यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से स्त्रीलिंग वाची आकारान्त, ईकारान्त और ऊकारान्त रूप भी हैं) इनमें भी आकारान्त रूप अधिक हो चले।

प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार अपभ्रंश की 'लिंग प्रक्रिया' अव्यवस्थित है। सच्ची बात तो यह है कि प्रा० भा० आ० की लिंग पद्धति शनैः-शनैः पालि और प्राकृत में क्षीण होती गयी। यद्यपि पश्चिम अपभ्रंश के शब्द रूपों की पद्धति ने बहुत कुछ प्राकृत के रूपों को सुरक्षित रखी है, क्योंकि **हेमचन्द्र** द्वारा उद्धृत अपभ्रंश दोहों में प्राकृत के भी कुछ शब्द रूप परिलक्षित होते हैं; फिर भी पूर्वी अपभ्रंश के शब्द रूपों में बहुत कुछ विशिष्टतायें दीख पड़ती हैं।

इस सन्देह का मुख्य कारण यह है कि अपभ्रंश में रूपों को सामान्य बनाने की प्रवृत्ति है। इसके सभी शब्द स्वरान्त होते हैं जबकि प्रा० भा० आ० में ऐसी बात नहीं है। नपुंसक लिंग के शब्द रूप अपभ्रंश में धीरे-धीरे अदृश्य हो चले। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की विभक्तियाँ अ, इ और उकारान्त शब्द रूपों से प्रभावित होने के कारण, अपभ्रंश के पुल्लिंग अकारान्त शब्द रूपों की अधिकता हुई। इस कारण लिंग निर्णय करने में अव्यवस्था सी हो गयी और **हेमचन्द्र** जैसे प्राकृत वैयाकरण को **लिंगमतन्त्रम्** कहना पड़ा।

प्राकृत की तरह अपभ्रंश में शब्दों के दो रूप नहीं होते। इस समय तक बहुत से कारकों की संख्या घट चली थी और हमें प्रत्यक्षतः तृतीया, सप्तमी, और चतुर्थी, षष्ठी तथा पंचमी में एकरूपता सी दीखती है। वस्तुतः तीन ही कारक विभक्तियाँ अपभ्रंश में दृष्टिगत होती हैं। सामान्यतः कुछ विभक्तियों में एकरूपता सी है जैसे तृतीया, सप्तमी और चतुर्थी एवं षष्ठी के बीच।

पुल्लिंग और नपुंसक लिंग के रूपो में अकारान्त शब्द रूप प्रमुख हैं और ये सामान्यतया प्रचलित थे। दूसरे संज्ञा और सर्वनामों के रूप सामान्य कर दिये गये। संज्ञा शब्दों के अन्त में ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ स्वर का ह्रस्व होता है—सामक्त=सामक्ता, खड्गाः=खग्ग, दृष्टि=दिट्ठि, पुत्री=पुत्ति।

इस तरह अपभ्रंश के निम्मलिखित कारक रूप हैं :—

एक०	**बहु०**
कर्ता०—उ, हो	०
कर्म०—उ, हो	०
तृ०—एं	०
चतु०—सु, हो, स्सु	हं, ०
पंच०—हे, हु	०
ष०—सु, हो, स्सु	हं, ०
सप्त०—इ, हि	हिं

सम्बो०—कर्ता की तरह।

(1) इन रूपों के पहले अन्तिम स्वर (अ, इ या उ) विकल्प करके ह्रस्व हो जाते हैं—या दीर्घ होते हैं।

(2) तृ०, ए०, व० के पहले यह ए में बदल जाता है।

(3) जहाँ पर कोई विधान नहीं होता वहाँ पर पहला (1 का) नियम लागू होता है।

(4) बहुत से तद्धित प्रत्यय जैसे दा, दी, उल्ल, उल्ली, अ (=क) आदि संज्ञा और विशेषण शब्द रूपों के पहले लगते हैं।

(5) कर्ता कारक ए० व० पुल्लिंग के अन्त का अः—अ या—उ का सामान्यतः ओ (—इ) होता है। नपुं० लिंग के अन्त में—उ या अ—साधारणतः—अम् होता है। तृ० ए० व०, पु० नपुं० के पदान्त में—एण (म्), इण (म्)—एम् या म् होता है। इस प्रकार तेण (म्), तिण (म्), तें महुयें, महुं। पंचमी के अन्त में—हे और हुं। यह दो कारकों में

प्रयुक्त होता है, ए० व० के लिए आदु भी प्रयुक्त होता है। इस प्रकार रुच्छहे, रुच्छहुं, रुच्छादु < वृक्ष—। षष्ठी ए० व०—ह,—हे,—हो,—सु इसके अतिरिक्त स्स—भी होता है। इस प्रकार रुच्छह, रुच्छहे, रुच्छहो, रुच्छसु, रुच्छस्स < वृक्ष सप्त० ए० व०—हिं—रुच्छहिं। ऐतिहासिक रूप भी इसी तरह हैं। स्त्रीलिंग के रूपों में तृ०, चतु०, ष०, सप्त० के अन्त में हे और हें प्रायः पाया जाता है। इस प्रकार खत्ताहे, रयिहें (< रति—)। सम्बोधन के बहुवचन के अन्त में हो होता है—अग्गिहो, महिलाहो। स्त्रीलिंग के इकारान्त और उकारान्त रूपों में 'क' भी होता है। स्त्रीलिंग के ईकारान्त और ऊकारान्त रूप पुल्लिंग के रूपों से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। यद्यपि स्त्री० और पुं० के अकारान्त रूपों ने कुछ विशिष्टतायें रखी हैं। चतु०, पं०, ष० और सप्त० के सामान्य रूप (ये रूप यद्यपि प्राकृत से भिन्नता दिखाते हैं) न० भा० आ० के रूपों का निर्माण कर रहे थे। हम यह भी पाते हैं कि ब० व० और चतु०, पं०, और ष०, ए० व० के रूप क्षेत्रीय भिन्नतायें रखते हैं। पूर्वी और पश्चिमी अपभ्रंश के रूपों में कुछ भिन्नता है, पूर्वी—ह, पश्चिमी—हे, हु।

इस प्रकार कारक विभक्तियों में प्रायः भ्रम पैदा हो जाने की आशंका से—भाषा में परसर्ग का प्रचलन हो चला। होन्त, होन्तउ, और होन्ति का प्रयोग पंचमी के अर्थ में, केरअ और केर का प्रयोग षष्ठी के लिए और तण का प्रयोग तृतीया के भाव में प्रयुक्त होने लगा। विदित होता है कि इन परसर्गो का प्रयोग विभिन्न विभक्तियों के अर्थ में होता था। इन परसर्गों का प्रयोग आगे चलकर न० भा० आ० में बड़ा ही महत्वपूर्ण हो चला, तण और केर का प्रयोग अत्यधिक पाया जाने लगा।

सर्वनाम शब्द रूप

सर्वनाम के रूप विभिन्न प्रकार के और विचित्र तरह के हैं जैसे—तुम्हार (तुंभार), आम्हार (आंभार), (सर्वनाम विशेषण); तइ (म्), मइ (म्), (कर्म०, तृ०, सप्त०, ए० व०); तुह, तुहु, तुज्झ, महु, मज्झु (ष० ए० व०), तुम्हे, अम्हे (कर्ता० ब० व०); तुम्हहं, तुम्हाइं, अम्हहं (कर्म० ब० व०)। उत्तम और मध्यम पुरुष सर्वनाम के बहुत से रूप होते हैं। उत्तम०

और मध्यम० के रूप बता चुके हैं। उ० पु० ए० व० अहम, ब० व० अम्ह, म० पु० ए० व०–तु, त, प; और तुम्ह म० पु० ब० व० के रूप हैं। दोनों पुरुषों के रूप प्रायः पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में एक ही हैं। अपभ्रंश साहित्य में पूर्वोक्त बहुत से रूप नहीं दीख पड़ते हैं तथापि प्राकृत वैयाकरणों ने उन रूपों का निर्देश किया है। फिर भी इन रूपों में सर्वत्र स्थिरता पाई जाती है। इन रूपों से यह विदित होता है कि ये रूप न० भा० आ० भाषा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन रूपों के अतिरिक्त अन्य पुरूष के रूप हैं जो कि सर्वनाम विशेषण के रूप में भी प्रचलित हैं; जैसे–त (< तद्), एअ, एय (एतद्) और आय, आअ, (= इदम् जो कि * अतृ० पर आधारित है); सम्बन्ध वाची ज–(यद्), प्रश्नवाचक–क, कवण–(किम्), निजवाची–अप्प (आत्मन्); अदस् शब्द ही इसका अपवाद है। ये सर्वनाम सामान्यतया संज्ञा के विशेषण रूपों के अनुरूप होते हैं, रूपों की सरलता के निर्देशक हैं। इससे लिंगों और वचनों का भ्रम संज्ञा के रूपों की तरह होता है। पूर्वोक्त रूपों के अतिरिक्त यद्, तद् और किम् के रूप समान रूप से चलते हैं। इदम् और एतद् शब्द के रूप स्वच्छन्द रूप से परस्पर मिलते रहते हैं। आत्मन् शब्द का रूप पुल्लिंग एकवचन में चलता है, अवशिष्ट सर्वनाम के रूप अप्रसिद्ध हैं और उनके शब्द रूपों की अपनी कोई खास विशोषता नहीं है जिससे कि उनकी भिन्नता संज्ञा रूपों से दिखायी जा सके। पूर्वोक्त रूपों के सर्वनाम विशेषण रूप होगा–एह (यह), तेह (वह), जेह (वह), केह (क्या), किस (क्यों), किण (क्यों), एवड्ड (इतना), केवड्ड (कितना), जेम (जिस तरह), केम (किस तरह) आदि।

क्रिया रूप-रचना

अपभ्रंशों के क्रिया रूप प्राकृत और पुरानी न० भा० आ० के बीच के हैं। ये क्रिया रूप भारतीय आर्य भाषा की सरलता और आधुनिकता की ओर निरन्तर झुकाव का निर्देश करते हैं। प्राकृत और न० भा० आ० के समान अपभ्रंश के सामान्य नियमों की क्रिया पद्धति में नाममात्र के मुहावरेदार प्रयोग हैं। क्रिया पद्धति की प्रणाली प्रा० भा०

आ० के वर्तमान कालिक क्रिया रूपों पर आधारित हैं। ध्वन्यात्मक परिवर्तन के कारण रूपों में परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु अपभ्रंश के क्रिया रूप पूर्वोक्त पद्धति पर ही आधारित हैं। इस तरह अपभ्रंश न० भा० आ० का प्रतिनिधि है।

अपभ्रंश धातुएँ प्रा० भा० आ० की तरह 'सकर्मक' और 'अकर्मक' रूपों में विभक्त हैं। अपभ्रंश के क्रिया रूपों की पद्धति प्रा० भा० आ० पर आधारित होते हुए भी सामान्यतया ध्वन्यात्मक रूप में परिष्कृत है या भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से नवीन रूप में रची हुई है। प्रा० भा० आ० की क्रिया पद्धति का आधार है—(1) वर्तमान कालिक कर्तृवाच्य (2) वर्तमान कर्मवाच्य (3) वर्तमान, भूत कृदन्त और (4) शब्द ध्वनि पर आधारित। इन्हीं आधारों को क्रिया प्रकरण में विस्तृत किया गया है। प्रेरणार्थक क्रिया का प्रत्यय 'आय' और 'आव' है। कभी-कभी आदि कालीन रूपों के अ की वृद्धि भी होती है (और इ, उ को गुण भी होता है)। कभी कुछ आदि कालीन और सामयिक रूप भी दीख पड़ते हैं। आव का आ हिन्दी में दीखता है—पढ़ना, पढ़ाना, पढ़वाना और न० भा० आ० में आर, आल और आद पाया जाता है।

वर्तमान काल का रूप संस्कृत काल से निरन्तर दिखाई देता है। संस्कृत और प्राकृत की छाप अपभ्रंश पर दीख पड़ती है। यह ध्यान देने की बात है कि अपभ्रंश का विशुद्ध रूप उत्तम पुरुष एक वचन अउं रूप प्र० पु० कर्ता ए० व० के प्रभाव के कारण है। सर्वनाम के अन्तिम—अउं < प्रा० भा० आ०—अकम् का है। मध्यम पु० ए० व० में अहि < प्रा० भा० आ० आज्ञा। पश्चिमी अपभ्रंश के म० पु० ए० व० में धि रूप भी प्रचलित था, असि का भी प्रयोग पाया जाता है। यह महाराष्ट्री अपभ्रंश और आधुनिक मागधी भाषाओं में भी पाया जाता है। अन्य पु० ए० व० अइ < प्रा० भा० आ० अति का रूप है और यह न० भा० आ० के अ० पु० ए० व० में भी पाया जाता है। पूर्वी अपभ्रंश में अ < अइ का रूप बहुत कम पाया जाता है। वर्तमान काल आज्ञा के रूपों से प्रभावित है, तीन रूपों में मध्य० पु० ब० व० अहु और अह आज्ञा म० पु० ब० व० में प्रयुक्त होता है। यह प्रा० भा० आ० के म० पु० * थस्

से व्युत्पन्न माना जा सकता है। और उत्तम पु० ए० व० के मस के आधार पर है। संभवतः अपभ्रंश के ह इससे प्रभावित है। उत्तम पु० और अन्य पु० ब० व०—अहुं, तथा अहि भी इससे प्रभावित है।

अपभ्रंश साहित्य की आज्ञा (लोट् लकार) में विभिन्न प्रकार के रूप पाये जाते हैं, **हेमचन्द्र** ने कुछ ही रूपों का निर्देश किया है। बहुत से रूपों का क्रमिक-विकास भी पाया जाता है—अहि < प्रा० भा० आ०-धि का रूप सर्वत्र पाया जाता है। अन्य पु० ए० व० उ < प्रा० भा० आ० तु का रूप बहुत स्थलों पर पाया जाता है, मध्य० पु०—हु < प्रा० भा० आ० * थु,—असु,—एसु < प्रा० भा० आ०—स्व और—उ का रूप है। अपभ्रंश में उ का रूप बहुत पाया जाता है। यह सामान्यतया वर्तमान काल और आज्ञा में पाया जाता है। आज्ञा वस्तुतः वर्तमान काल ही है। आज्ञा म० पु० ब० व०—ह (अह, एह रूप पश्चिमी अप० में पाया जाता है) रूप प्राकृत से प्रभावित है। म० पु० ए० व० में – अहि, इ और उ भी प्रचलित है; अह, अहु, उ के रूप पूर्वी अपभ्रंश में देखे जाते हैं। पश्चिमी अपभ्रंश में सामान्यतया अहु, अहि – इ वाला रूप देखने को मिलता है; असु और—एसु रूप भी देखने में आता है। म० पु० ब० व० में अहु, अहू, अह तथा कभी-कभी पूर्वी अप० में इज्जह—हु रूप भी दीख पड़ता है। **हेमचन्द्र** ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अहु की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० —* थु से मानी जा सकती है। अहु अन्य० पु० ब० व० के आधार पर—अह < प्रा० भा० आ० थ का अहा भी हो सकता है। इस तरह वर्तमान का प्रभाव लोट् लकार (आज्ञा) पर देखा जा सकता है। अन्य पु० ए० व० उ < प्रा० भा० आ० तु का विकास स्पष्ट है; अन्य पु० ब० व०—अहु, वर्त० का० इ, अहि, उं—अहु के आधार पर है। इसके विभिन्न रूप न० भा० आ० में देखे जा सकते हैं।

प्राकृत भविष्यत्काल के रूप की तरह अपभ्रंश में भी होते हैं। स और ह < प्रा० भा० आ० स्य से व्युत्पन्न है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में दोनों प्रकार के रूप पाये जाते हैं। इन दोनों के रूप न० भा० आ० में पाये जाते हैं।

अपभ्रंश में भूतकालीन रूप कृदन्तज होते थे। भूतकाल की क्रिया √अस् या √भू लगाकर व्यक्त किया जाता था; परवर्ती अपभ्रंश में ल लगाकर व्यक्त किया जाता था।

अपभ्रंश में विधि का प्रयोग प्रा० भा० आ० का प्रकार (Mood, में प्रयोग होता था और कभी विधि में प्रयुक्त होता था। इसका रूप—इज्ज < प्रारम्भिक प्राकृत एय्य है और कर्म० इज्ज के रूप में सन्देह हो जाता है। यह कभी-इअव्व (< तव्य) के रूप से भी मिलता है। परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश में इज्ज का प्रयोग नहीं पाया जाता, सभी पुरुषों में प्रयुक्त होता था।

वर्तमान, भूत कर्मवाच्य और भविष्यत्काल, पूर्वकालिक क्रिया आदि अपभ्रंश में प्रधान हैं। अपभ्रंश में अन्त और माण प्रत्यय प्रा० भा० आ० की तरह धातुओं में जुटते हैं। प्राकृत की तरह अपभ्रंश में प्रा० भा० आ० का इ—त का प्रयोग बिना क के भी होता था। यह पुरानी धातुओं या देशी धातुओं में भी लगता था। प्रा० भा० आ० की अनिट धातुओं की तरह या देशी धातुओं के साथ मिला दिया जाता था। देशी धातुओं में (इ) अ < इत-उय, इय या-इअ लगता था। वर्तमान कृदन्त में तीन काल होते हैं। इसमें कई प्रत्यय लगते हैं—प्पण,—इप्पि (णु),—इवि (णु), भविष्यत्कृदन्त के प्रत्यय हैं—एव्वउ, एवा। कुछ मुख्य क्रिया रूप भी हैं—बोल्ल-वद के लिये, मुक के लिए मेल्ल, मुक्क, मुअ; स्थापय के लिए थव; वेस्तय के लिए वेल्ल, वेद्ध; मस्ज के लिए बुड्ड, खुप्प आदि होता है।

प्राचीन वैयाकरणों द्वारा कथित भाषा और उसकी प्रमुख बोलियाँ

पुरूषोत्तम ने अपने प्राकृत व्याकरण में **प्राच्या** को प्राकृत में तीसरा स्थान दिया है। उसका कहना है कि प्राच्या का **शौरसेनी** से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आवन्ती का महाराष्ट्री और शौरसेनी से समान रूप में सम्बन्ध है (महाराष्ट्री शौरसेनयोरेकयम्)। शाकारी मागधी की

विभाषा मानी गयी है (विशेषो मागध्याम्) और चाण्डाली मागधी की विकृत बोली है (मागधी विकृतिः)। **पुरूषोत्तम** ने शावरी को भी मागधी की बोली माना है तथा **टक्क** देशी या **टक्की** को संस्कृत और शौरसेनी की मिश्रित विभाषा कहा है (अथ टक्क देशीया विभाषा; संस्कृत शौरसेनयोः....) किन्तु **पुरूषोत्तम** के ही अनुसार **हरिश्चन्द्र** ने टक्की को अपभ्रंश की बोली कहा है।

पुरूषोत्तम आदि वैयाकरणों ने अपभ्रंश की प्रधान बोली नागरक माना है। नागरक की कुछ प्रमुख विशेषताएँ बतायी जाती हैं :–

अ उ दो स्वर में भी विभक्त हो जाता है।

श, ष का स, य का ज, न का ण होता है; अल्प प्राण क और ग प्रायः लुप्त हो जाते हैं। प को ब, फ को भ और ख, घ थ तथा ध को ह हो जाता है, एवं क, ख, त, थ का क्रम से ग, घ, द और ध होता है।

व्यास > व्रास, भूत > भुह, स्वच्छन्द > चच्छन्द।

क्रिया कृ, गम, भू > कर, गम, हो क्रम से होता है।

त्वदीय, मदीय > तुम्हार, अम्हार होता है।

यावत, तावत > जिम, तिम,

ण, णइ, णावइ, णहम, जिम, जणि, आदि इव के भाव में प्रयुक्त होता है।

कइ, किंप्रदु, किंप्रु, किर (कीर) किं के भाव में प्रयुक्त होता है।

पुरुषोत्तम ने अपभ्रंश का दूसरा भेद 'ब्राचड' बोली की कुछ प्रमुख विशेषताएँ दी हैं :

ष, स > श

च का उच्चारण स्पष्ट तालव्य में होता है, त, ध का उच्चारण अस्पष्ट होता है। त, द का त, द होता है।

एव > जे, ज्जि, भू > भो आदि।

पुरूषोत्तम ने अपभ्रंश का भेद उपनागर के अन्तर्गत क्षेत्रीय बोलिओं का किया है जैसे—वैदर्भी, लाटी, औड्री, कैकेयी, गौडी इसके अतिरिक्त कुछ आंचलिक या स्थानीय बोलियों का भी किया है—टक्क, वर्वर, कौन्तल, पाण्ड्य, सिंहल आदि। **पुरूषोत्तम** के अनुसार **वैदर्भी** के उल्ल प्रत्यय प्रमुख हैं, लाटी में सम्बोधन के चिह्न अधिक हैं; औड्री में इ और ओ सामान्य ध्वनियाँ अधिक हैं—और कैकेयी पुनरावृत्ति करने में अभ्यस्त है।

कैकेयी पैशाचिक संस्कृत मिश्रित शौरसेनी का विकृत रूप माना जाता है। शौरसेनी पैशाचिक, पांचालि पैशाचिक के अलावा एक चूलिका पैशाचिक भी है, इसका उल्लेख **हेमचन्द्र** ने किया है।

अपभ्रंश के परवर्ती रूप का नाम अवहट्ठ है। इसका उल्लेख परवर्ती वैयाकरणों ने नहीं किया है। यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों के समय में यह जनता की भाषा थी। उस समय यह देशी या देश भाषा नाम से भी प्रसिद्ध थी। इसका साहित्यिक नाम 'अवहट्ठ' है जो कि अपभ्रंश का ही परवर्ती रूप है। **संक्षिप्त सार** के लेखक ने 'अवहट्ठ' का उल्लेख अवश्य किया है और उसने इसे अपभ्रंश ही कहा है। **विद्यापति** ने **कीर्तिलता** में इस शब्द का उल्लेख किया है। अपभ्रंश शब्द से अवहट्ठ की व्युत्पत्ति मानी जाती है कुछ ने अभभ्रष्ट से इसे व्युत्पन्न माना है।

अवहट्ठ का सम्बन्ध साहित्यिक न० भा० आ० से अधिक है। इसमें भी बहुत से साहित्य उपलब्ध होते हैं। इसकी प्रमुख विशेषताएँ:—

स्वरों में सन्धि होकर दीर्घीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है—अंधार < अंधआर < अंधकार, जाणी < जाणिय < * जानित (=ज्ञात)।

अन्तिम म जब किसी संयुक्त सन्धि से भिन्न हो तथा स्वर के बाद हो तो वह समाप्त हो जाता है जैसे तहि < तहिं, < जे < जेम < जेणम < जेण।

अन्तिम ए, ओ सामान्यतया इ, उ हो जाता है उदाहरण—परु < परो < पर:, देउ < देओ < देवो < देव:, खणि < खणे < क्षणे।

आदि ए का कभी-कभी इ भी हो जाता है—इक्क < एक्क < ऐक्य > एक, पिच्छिवि < पेच्छिवि < प्रेक्ष। स्वर युक्त म सामान्यतया व हो जाता है और स्वर अनुस्वारात्मक हो जाता है—सँव < सम।

अन्तिम–अम् या तो समाप्त हो जाता है या उ हो जाता है–नर, नरू < नरं < नरम्, वर, वरु < वरम्।

इसी तरह अन्तिम अः का विसर्ग या तो समाप्त हो जाता है या उ (<–०) हो जाता है–नर, नरु < नरः, पिअ, पिउ, < प्रियः।

पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का भेद बताने का रूप स्पष्ट है–जुवइह (षष्ठी ए० व० का युवति), माअह (षष्ठी ए० व० मातृ)।

नवीन सर्वनाम के रूप इस तरह हैं–एह (यह), जेह (वह क्या), केह (क्या) तीनों लिंगों में होता है।

इमु < इदम्; केमु, किव = कथम्; जिम, तिम = यादृक, तादृक; मइ (म्), तइ (म्), अम्ह, तुम्ह = हम, तुम (एक वचन में भी प्रयुक्त होता है) अम्हार, तुम्हार=अस्मदीय–(मदीय–), युष्मदीय (त्वदीय–) आदि।

क्रिया रूपों में निम्नलिखित प्रत्यय होते हैं। (लोट् और विधि में भी) (i) उत्तम पुरूष–ए० व०–हुं, मि, ब० व०–म (ii) मध्यम पु०–ए० व०–इ,–उ,–हि०, ब० व०–ह; (iii) अन्य पु० ए० व० – (अ) इ–अ, ब० व० न्ति,–हि।

संज्ञा और क्रिया के लिए मुहावरे भी प्रयुक्त होते हैं।

क्रिया और संज्ञा के नये रूपों के शब्द समूह स्पष्ट हो जाते हैं–वट (वद) मूर्ख, कल्ल (कल्ली) = कल, खोज्ज-खोज, काल (बहिर), वुड-डूबना, वड्ड-बड़ा, आदि।

संदर्भ

1. प्राकृत व्याकरण–§45

सप्तम अध्याय

ध्वनि-विचार

अपभ्रंश में प्राकृत की प्रायः सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। प्राकृत का पालि से बहुत कुछ साम्य रहा। पालि के समय में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ऐ एवं औ स्वर समाप्त हो चुके थे। पालि में ऋ का परिवर्तन प्रायः अ, इ, एवं उ आदि ध्वनियों में हो गया था। लौकिक संस्कृत में भी ऌ एवं ॠ का प्रयोग प्रायः समाप्त सा हो चला था। **पाणिनि** ने **अष्टाध्यायी** में ऌ का प्रयोग केवल 'क्लृपु' धातु **लुटि च क्लृपोः** के लिये ही किया था। पालि में संस्कृत ऐ और औ की जगह ए एवं ओ का प्रयोग होने लगा।

स्वर परिवर्तन के साथ-साथ व्यंजनों में भी कुछ परिवर्तन हुआ। पालि के समय में ही श एवं ष का स्थान दन्त्य स्थानीय स ने ले लिया था। विसर्ग तो सदा के लिये समाप्त हो गया। शेष समस्त ध्वनियाँ प्रायः संस्कृत की तरह ही रहीं।

इस तरह अपभ्रंश में प्राकृत की प्रायः सभी ध्वनियाँ मिलती हैं। अपभ्रंश साहित्य की निम्नलिखित ध्वनियाँ हैं—

अपभ्रंश की ध्वनियाँ

स्वर

ह्रस्व—अ, इ, उ, ऍ, ओ॑

दीर्घ—आ, ई, ऊ, ए, ओ

ऋ का अपभ्रंश में कहीं अ हो जाता है और कहीं इ भी—**हेमचन्द्र** 8/4/329 तणु, तिणु एवं तृणु।

अपभ्रंश की लेखन शैली संस्कृत एवं प्राकृत की भाँति रही। अतः ह्रस्व ऍ एवं ह्रस्व ओ॑ के लिए कोई पृथक् चिह्न नहीं रहा। उच्चारण में ह्रस्व ऍ तथा ह्रस्व ओ॑ का विधान **हेमेचन्द्र** ने 8/4/41 में किया है। संवृत अ तथा विवृत अ के लिये भी कोई पृथक् चिह्न नहीं था। **पाणिनि** ने 8/4/62 **अष्टाध्यायी** में एवं **पतञ्जलि** ने **महाभाष्य** में इसका उच्चारणगत भेद किया है। अतः **डा० तगारे** का कथन है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषा–अवधी एवं बंगला आदि की भाँति उस समय भी 'अ' के उच्चारण में भेद अवश्य रहा होगा। इसी तरह उस समय अपभ्रंश के कुछ लेखकों ने लुप्त मध्यग व्यंजन के स्थान पर अ रहने दिया, कुछ ने 'य' श्रुति का समावेश कर दिया और कुछ ने पूर्व स्वर अथवा व्यंजन स्वर के साथ इसकी सन्धि कर दी है। इन्हीं सभी कारणों से अपभ्रंश ध्वनियों का विभाजन कर पाना कठिन सा प्रतीत होता है। व्यञ्जन ध्वनियों के बारे में लिखते हुए **हेमचन्द्र** ने कहा है कि प्राकृत में ङ, ञ, ण तथा न का व्यवहार नहीं होता (ङ ञ ण नो व्यञ्जने 8/1/25) उनके स्थान पर अनुस्वार होता है। **षड्भाषा चन्द्रिकाकार** का कहना है कि प्राकृत में 40 अक्षर होते हैं। 10 स्वर होते हैं। ऋ, ऌ, ऐ तथा औ का व्यवहार नहीं होता। व्यंजनों में असंयुक्त ङ तथा ञ का प्रयोग नहीं होता। श, ष के स्थान पर स प्रयुक्त होता है।

प्राकृतानान्तु सिद्धिः स्यात्तैश्चत्वारिंशदक्षरैः।
ऋ ऌ वर्णौविनैकारौकाराभ्यां दश स्वराः।
श षावसंयुक्त ङ ञौ विनैवान्ये हलो मताः।।

चण्ड ने भी **प्राकृत लक्षणम्** में यही बात कही है :–

ऐ औ स्वरौ ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, चतुः स्वराः।
अः ङ ञ न श षाः सन्ति प्राकृते नैव कर्हिचित्।

प्रायः ये सारे नियम अपभ्रंश में भी पाये जाते हैं।

व्यंजन

1. क, ख, ग, घ, (कण्ठ्य) } अपभ्रंश में ङ तथा
2. च, छ; ज, झ (तालव्य) } ञ का अभाव है।
3. ट, ठ, ड, ढ, ण (मूर्धन्य)
4. त, थ, द, ध, न (दन्त्य)
5. प, फ, ब, भ, म, (ओष्ठ्य)
6. य, र, ल, व (अन्तस्थ) य एवं व अर्धस्वर हैं।
7. स, ह (ऊष्म)।

स्वर विकार

प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश में स्वर परिवर्तन को अनियमित बताया है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में अपभ्रंश ने साहित्यिक प्राकृतों का अनुसरण किया है। अपभ्रंश में ऋ स्वर की विचित्र स्थिति रही। संस्कृत में ही ऋ का कभी 'अर'[1] होता था तो कभी 'इर'[2] एवं 'उर'[3] भी हो जाया करता था। फिर भी उस समय ऋ स्वर अवशिष्ट था। जैसे—मृग, वृन्द, या ऋतीयते[4] इत्यादि। पालि एवं प्राकृत में ऋ के स्थान पर अ, इ, एवं उ स्वर पाये जाते हैं। फिर भी ऋ की क्षीण अवस्था इन कालों में भी अवश्य रही। नहीं तो अपभ्रंश में क्वाचित्क ऋ का प्रयोग नहीं पाया जाता। निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश में भी ऋ के स्थान पर अ, आ, इ, ई, एवं उ, ऊ, ए तथा रि होता है। कहीं कहीं ऋ भी मिलता है—तणु, तिणु तथा तृणु भी मिलता है।

1. ऋ का अ में परिवर्तन—**हेमचन्द्र** 8/4/420—नच्चविय = नच्च < * नृत्य। कसण < कृष्ण। तणु < तृणु, धरइ < धरति = धृ **हेम०** 8/4/344—**तणु धरइ। हेम०** 8/4/338—करइ < * करति = कृ, घय < घृत, कय < कृत, मच्छि < मृगाक्षी, तण्हा < तृष्णा। विसरइ < विस्मरति—वि + स्मृ।

2. ऋ का आ में परिवर्तन :– यह परिवर्तन प्रायः प्रेरणार्थक क्रियाओं में पाया जाता है जिसे हम प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का ही विकसित रूप कह सकते हैं। जैसे–वारिया < वारितः = वृ, मारइ, कारइ इत्यादि–हेम० 8/4/330।

3. ऋ का परिवर्तन इ में–8/4/330 हिअइ < हृदये, दिट्ठी < दृष्टी, मियांक < मृगांक < मिअलोअणी < मृगलोचनी, दिट्ठ < दृष्ट, किय < कृत, किविणु < कृपण, घिय < घृत, दिक्ख < * दृक्ष=दृश = कभी कभी **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में देक्ख या देक्खन्त रूप भी मिलता है। अमिअ < अमृत, निग्घिण < निर्घृण, सुकिय < सुकृत।

4. ऋ का कभी-कभी ई में भी परिवर्तन पाया जाता है–दीसइ < दृश्यति, **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश के दो दोहे में यह कई बार प्रयुक्त हुआ है।

5. ऋ का उ में परिवर्तन–सुमरि < स्मर=स्मृ, सुमिरिज्जइ, पुच्छइ <, पृच्छति, पुच्छाविय < पृच्छापित, पुहवी < पृथ्वी 8/4/330 कुरु < कुरु–कृ, परहुअ < परभृत, पुट्ठी < पृष्ठ, सुणइ < *सुनति = श्रृणोति, मुअइ < मृत इत्यादि।

6. ऋ का ऊ में परिवर्तन–इसका उदाहरण **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में नहीं के बराबर मिलता है। फिर भी ह्रस्व उ का दीर्घ होना सरल है।

7. ऋ का ए – गेह < गृह; गेण्हइ < गृह्णाति।

8. ऋ का रि, री – रिण < ऋण, रिसहो < ऋषभ, रीछ < ऋच्छ।

9. इस तरह कहीं-कहीं ऋ का स्वरूप ही सुरक्षित रहता है। तृणु, गृहणइ इत्यादि।

लृ के स्थान पर अपभ्रंश में इ और इलि रूप होता है–किन्नो, किलिन्नो < क्लृन्न। किलित्त < क्लृप्त **हेम०** 8/1/115।

हेमचन्द्र का कहना है कि अपभ्रंश में स्वर के नियम व्यस्थित[5] नहीं हैं। यथेच्छ प्रयोग के अनुसार स्वर की प्रवृत्ति पहचानी जाती है। ई के स्थान पर ये भी हो सकता है तथा इ भी जैसे वेण, वीण आदि।

अन्त्य स्वर

प्रायः देखने को मिलता है कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के समय में वैदिक कालीन शब्द के अन्तिम स्वर का उच्चारण लौकिक संस्कृत में क्षीण हो चला था। जैसे वैदिक 'यत्रा' और 'तत्रा' का लौकिक संस्कृत में 'यत्र' एवं 'तत्र' प्रयोग होने लगा था। **पिशेल**[6] का कथन है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का व्यंजनान्त स्वर समाप्त हो चला था। **अशोककालीन** ताम्रपत्रों से पता चलता है कि पूर्व प्रदेश में प्रायः आकारान्त शब्द का प्रयोग ह्रस्व अकार में होता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण एवं लोप की प्रवृत्ति पूर्वकालीन मध्य भारतीय आर्यभाषा से लेकर अपभ्रंश तक में यह प्रवृत्ति पाई जाती है और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में इस प्रवृत्ति ने काफी योगदान दिया है। बिहारी, कश्मीरी, सिन्धी एवं कोंकणी के अतिरिक्त अन्य सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में यह प्रवृत्ति पाई जाती है।

(1) नाम के व्यंजनान्त अ–अ + अम् घिस कर समाप्त हो जाता है या ह्रस्व होकर पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर अपना अस्तित्व समाप्त कर देता है। खेत्ती < क्षेत्रित, उज्झा, (हि० ओझा) < उपाध्याय आदि अन्त्य स्वर का लोप हो गया है।

(2) अन्त्य स्वर के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का आ, आम, आह एवं आनी का अ हो जाता है या लोप हो जाता है :–पिय < प्रिया, पराइय < परकीया, संझा < संध्या; पूर्वी अपभ्रंश अवेज्ज < अविद्या।

(3) अन्तिम वर्ण के साथ अन्त्य 'आ' का भी लोप हो जाता है = आणी < आणीआ < आनीता; पूर्वी अपभ्रंश = मट्टी < मट्टीआ < मृत्तिका।

(4) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का ई, इन, इणी, अपभ्रंश में 'इ' या 'अ' हो जाता है। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि साधारण प्राकृत की भाँति, सर्वत्र अपभ्रंश में भी इ और ई का इ हो ही जाय। वस्तुतः अपभ्रंश की शब्द रूपावली के द्वितीया एक वचन में इम का अपभ्रंश इ होता ही नहीं है। फिर भी यह कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है। कहीं-कहीं अपवाद भी मिलता है। एक्कइ < एकाकिनी, पहुअ < प्रभृति, इत्यादि।

(5) प्राचीन ऊ, ऊम का अपभ्रंश में 'उ' एवं 'अ' हो जाता है = धण < धनुष, विज्ज (प्पह) < विद्युत (प्रभा) आदि। इस प्रकार के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

(6) प्राचीन संस्कृत ए का अपभ्रंश में इ हो जाता है = अम्हि < * अस्मे, तुम्हि < * तुष्मे इत्यादि।

(7) ऐ के स्थान पर अपभ्रंश में ऍ, ए और अइ तथा औ के स्थान पर ओ, ओॅ और अउ भी हो जाता है :—

ऐ = ऍ	अवरेॅक < अपरैक
ऐ = ए	देव < दैव
ऐ = अइ	दइअ < दैव (दइवु घडावइ=8/4/340)
औ = ओ	गोरी < गौरी (ओ गोरी मुह निज्जिअउ)
औ = ओॅ	जोॅव्वण < यौवन (जोॅव्वण कस्सु मरट्ठु)
औ = अउ	पउर < पौर, गउरी < गोरी

(8) अपभ्रंश में पद के अन्त में स्थित उं, हुं, हिं और हं का उच्चारण लघु-ह्रस्व (अतिशीघ्र) उच्चारण होता है :—

(क) अन्नु जु तुच्छउं ते धनहे।

(ख) दइवु घडावइ वणि तरहुं।

(ग) तणहुँ तइज्जि भंगि नवि।

(घ) दिन्तेहिँ सुहय जणस्सु।

(9) अपभ्रंश में एक स्वर के स्थान पर प्रायः दूसरा स्वर हो जाता है।[7]

अ=इ,—किविण < कृपण, चरिम < चरम, पिक्व < पक्व, किह < कथा, जिह < यथा, तिह < तथा।

अ = उ—मुणइ < मनुते, झुणि < ध्वनि, आदि।

(क) अकारान्त नाम वाले तथा सर्वनाम षष्ठी के एक वचन के अन्त में भी प्रायः अ को उ हो जाता है। **सिद्ध हेम०**-8/4/338,354 सुअणस्सु, पिअस्सु। तासु, मज्झु, तुज्झु महु, तहु आदि।

(ख) आज्ञार्थ पुल्लिंग एक वचन और बहुवचन में भी अ को उ होता है—भणु, लग्गु, छंडु आदि।

(ग) वर्तमान काल के पुल्लिंग बहुवचन में करहु < कुरुथ।

(घ) क्रिया विशेषण के निपातन के अन्त में—छुडु, पुणु, जेत्थु, तेत्थु, केत्थु, अज्जु, जिमु, तिमु आदि।

आ = ए—देई <$^{\surd}$ दा, लेई <$^{\surd}$ ला, मेत्त < मात्र

इ = अ—पडिवत्त < प्रतिपत्ति, इच्छिउ < इच्छिक **सि० हे०** 8/9/88, 91

इ = उ—उच्छु < इक्षु

इ = ए—बेल्ल < बिल्व, एत्था < इत्थु **सि० हे०** 8/1/84

ई = अ—हरडइ < हरीतिकी **हे०** 8/4/99

ई = आ—कम्हार < काश्मीर **हे०** 8/4/100

ई = ऊ—विहूण < विहीन।

ई = ए—एरिस, एरिसिअ < ईदृश **हे०** 8/4/238। वेण < वीणा

ई = ऍ—खेॅडुअ < क्रीडा।

उ = अ—मउड < मुकुट, बाह < बाहु, सउमार < सुकुमार।

उ = इ–पुरिस < पुरुष

उ = ओ॑–मो॑ग्गर < मुद्गर, पो॑त्थय < पुस्तक, को॑तत < कुन्त।

ऊ = ए–नेउर < नूपुर

ऊ = ओ॑–मो॑ल्ल < मूल्य

ऊ = ओ–थोर < स्थूल, तांबोल < ताम्बूल।

ए = इ, ई, ए–लिह, लीह, लेह, < लेखा।

(10) अपभ्रंश में स्वादि विभक्तियों के आने पर कभी तो प्रातिपदिक के अन्त्य स्वर का दीर्घ और कभी ह्रस्व हो जाता है[8] :–

ढोला सामला < विट श्यामलः – ल को दीर्घ हुआ है।

धण < धन्या – दीर्घ को ह्रस्व।

सुवण्णरेह < सुवर्ण रेखा – दीर्घ को ह्रस्व।

विट्टीए < पुत्रि – स्त्रीलिंग में ह्रस्व का दीर्घ हुआ है।

पइट्ठि < प्रविष्टा – स्त्रीलिङ्ग में दीर्घ का ह्रस्व।

निसिया खग्ग < निशिता खड्गा – दीर्घ का ह्रस्व।

(11) इसी प्रकार परि < परम, सइं < स्वयम्, अवसि < अवश्यम्, इत्यादि का उदाहरण भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। अ का उ भी होता है **हे०** 8/4/419 सहु < सह, एत्थु < * इत्थ–अत्र, केत्थु < कुत्र, अज्जु < अद्य इत्यादि। **पिशेल**[9] का (प्राकृत व्याकरण पृ० 80) कहना है अपभ्रंश के समय में ही ए का परिवर्तन इ में हो गया था–अम्हि, < अम्हे < अस्मै, **हेम०** 8/4/395 जिवँ < जेवँ –< तिवँ < तेवँ आदि। **एल० पी० तेस्सितोरी** का कहना है यही प्रवृत्ति पुरानी राजस्थानी में भी रही। उनका यह भी विचार है कि पुरानी राजस्थानी में जो ए बदल कर इ हुआ है वह अपभ्रंश की ही प्रवृत्ति है। **हे०** 8/4/329 वीण < वेण लिह * लीह < लेह < लेखा, जीह < जेह, तीह < तेह।

उपधा स्वर (Penultimate Vowels) की सुरक्षा

अपभ्रंश में उपधा स्वर को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पायी जाती है। गोरोअण < गोरोचन, खवणउ < क्षपणकः, अन्धआर < अन्धकार, भुअंगम < भुजंगम, पयदण < प्राक्तन इत्यादि। कहीं कहीं उपधा स्वर में मात्रा परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे–मियंक < मृगांक, रहंग < रथांग, पाहण < पाषाण, वह्मचार < ब्रह्मचर्य, गुहिर < गभीर, सरुव < स्वरूप। संस्कृत उपधा स्वर इ अपभ्रंश में भी सुरक्षित रहा है–ललिय < ललित, विवज्जिउ < विवर्जितः, पुन्दरिय < पुन्दरिक, अम्मत्तिय < उन्मत्तिका, कव्वाडिय < * कपातिका। इ की भाँति संस्कृत उ की भी सुरक्षा हुई है–समुद्द < समुद्र, ल्हसुण < लसुणी, सरुव < स्वरूप, भिउदी < भृकुटि, समुह < सम्मुख, उसुय < उत्सुक, कप्पूर < कर्पूर।

कहीं-कहीं अन्त्यक्षर में व्यंजन ध्वनि के लोप हो जाने पर उपधा और अन्त्य स्वर का संकोच भी हो जाता है। यह प्रवृत्ति अधिकतर पूर्वी अपभ्रंश में पायी जाती है, पर इसके कुछ उदाहरण पश्चिमी अपभ्रंश में भी पाये जाते हैं। पूर्वी अपभ्रंश–मट्टी < * मट्टिआ < मृत्तिका, इन्दि < इन्दिय < इन्द्रिय, पश्चिमी अपभ्रंश–खेत्ती < खेत्तिआ < क्षेत्रिता (हिन्दी खेती), पराई < परकीया, पोट्टलि < पोट्टलिका, चौरासी < चतुरशीति, पुत्थ एवं पोत्था < पुस्तक इत्यादि कुछ उदाहरण मिलते हैं।

डा० तगारे का कहना है कि स्वर परिवर्तन के कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें कि संभवतः स्वराघात के अभाव अथवा समीकरण या विषमीकरण के कारण भी उपधा स्वर में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है : खयर < खदिर, मज्झिम < मध्यम। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अ का इ में परिवर्तन हो जाता है–**हे०–इः स्वप्नादौ** 8/1/46 सिविणो < सिमिणो, कहीं कहीं उ भी हो जाता है–सुमिणो, उत्तिम < उत्तम।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से ही यह प्रवृत्ति चली आ रही है कि आदि अक्षर के स्वर की सुरक्षा की जाय। इस सुरक्षा का कारण संभवतः स्वराघात रहा हो जो कि प्रायः आदि अक्षर पर ही पड़ा करता था। फिर भी स्वराघात विहीन उपधा स्वर के पूर्ववर्ती स्वरों में मात्रिक परिवर्तन या लोप के उदाहरण भी मिल जाते हैं। इन रूप परिवर्तनों के कई प्रकार हो सकते हैं :–

(1) पुराने अ का अ में ही सुरक्षा–गहीर < गभीर, जहण < जघन, ठक्क < ठक्का, थण < स्तन, दश < दशन, पवाण < प्रमाण, फणिवइ < फणिपति, रयहम < रजसाम्, लहु < लघु, वयणु < वचनम्, हत्थ < हस्त इत्यादि।

(2) आ का आ स्वर में परिवर्तन :–आहासन्त < आभाषमाण, काणण < कानन, खाय < * खात = खादित, जाय < जात, झाण < ध्यान, मारिश < मादृश इत्यादि शब्दों में आदि स्वर सुरक्षित है। परन्तु कासु < कस्सु < कस्य, तासु < तस्स < तस्य, अप्पाण < आत्मन्, जीह < जिह्वा, तिण्णं < त्रीणि, ऊसव < उत्सव, इन सभों के आदि स्वर में मात्रिक परिवर्तन हो गया है।

आदि स्वर लोप का उदाहरण भी पाया जाता है :– भिंतर < अभ्यन्तर; रण्ण < अरण्य, रहट्ट < अरघट्ट, वि < अपि आदि।

संयुक्त स्वर (Diphthong)

प्राकृत में **उद्वृत्त**[10] स्वरों की प्रायः सन्धि नहीं होती थी। उद्वृत्त स्वर वे कहलाते थे जो कि व्यंजन से संपृक्त रहते थे तथा व्यंजन के लुप्त हो जाने पर जो स्वर बच जाते थे। शब्द के मध्य में या अन्त में क, ग, च, ज, त, द, प, य, व[11] वर्णों का प्रायः लोप हो जाता था। इन वर्णों के लुप्त होने पर अवशिष्ट उद्वृत्त स्वरों में भी प्रायः सन्धि नहीं होती थी जैसे निसिअरो < निशिचरः, रयणी अरो < रजनीचरः, लोओ < लोकः इत्यादि। **हेमचन्द्र** के समय में इन उद्वृत्त स्वरों का विकास अपभ्रंश में कई प्रकार से हुआ। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश

दोहे में कुछ उद्वृत्त स्वर तो ज्यों के त्यों बने रहे। उनमें किसी प्रकार का विकार नहीं हुआ; जैसे **हेम०** 8/4/342–विप्पिअ आरउ < विप्रिय कारकः, 8/4/343 लोअणहं < लोचनानां, निअय सर < निजक शरान्, 8/4/345 संगर सएहिं < संगरशतेषु, अइमत्तहं < अतिमत्तानां, उड्डावंतिअए < उड्डापयन्त्या; 8/4/353 अलिउलइं < अलिकुलानि, मउलिअहिं < मुकुलन्ति।

कुछ उद्वृत्त स्वर संकुचित होकर आसपास वाले स्वरों के साथ मिलकर विकारी स्वरों के रूप में परिणत हो गये यानी जैसे–संस्कृत में अ+इ मिलकर (गुण[12] होकर) ए, अ+उ मिलकर ओ हो जाता था, अ + अ मिलकर (दीर्घ[13] होकर) आ हो जाता था। इ + इ मिलकर ई होता था। संस्कृत में जिस प्रकार 'अ' के बाद 'ए' के रहने पर पररूप[14] हो जाता था उसी प्रकार की विकसित प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी परिलक्षित होती है।

(1) गुण का उदाहरण :–एह < अईस < * आदृश, जेह < जइस < यादृश, तेह < तइस < तादृश, सुहेल्ली < सुह एल्ली < सुख केली, चोत्थी < चउथी < चतुर्थी, चोद्दह < चउद्दह < चतुर्दश हिन्दी चौदह, पोम < पउम <* पदुम < पद्म, उआर < उपकार, सोण्णार < सोण्णआर < स्वर्णकार इत्यादि।

(2) दीर्घ का उदाहरण–दूण (हि० दूना) < द्विगुण; ऊखल < उदूखल, राउल < रा + अ-उल < राजकुल, भाण < भाजन, खाइ < खादति, खाण < खादन। प्राचीन संस्कृत का आय आ में परिणत हो जाता है–पलाण < पलायन, पादिहेर < प्रातिहारय, पियारी < पिय + आरी < प्रियकारी, अंधार < अंध + आर < अंधकार, साहारय < सहकारक, वीय < द्वितीय, तीय < तृतीय।

(3) पररूप की प्रवृत्ति–सुहेल्ली < सुह + एल्ली < सुखकेली इत्यादि। अपभ्रंश में संस्कृत पारिभाषिक पररूप का विकास कई प्रकार से हुआ। फिर भी इस कार्य का कोई निश्चित नियम न रहा। उ+उ मिलकर भी 'उ' हो जाता था जैसे उम्बर < उदुम्बर। कभी-कभी उ के

परे आ रहने पर भी पूर्वरूप हो जाता था, जैसे उज्झा < उपाध्याय इत्यादि।

4. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में ए, ऐ ओ, औ के बाद 'अ' स्वर के रहने पर अय, आय, अव, आव[15] आदेश होता था। अपभ्रंश में उसका या तो आदि स्वर 'आ' ग्रहण किया गया या परवर्ती य, व का विकसित वर्ण लिया गया। पलाण < पलायनम् = प्लै + अन इत्यादि।

5. अपभ्रंश के शब्दों में मध्यवर्ती अ या अन्त के अ के रहने पर 'य' श्रुति होती थी। 'उ' और 'ओ' स्वर के रहने पर 'व' श्रुति होती थी। उदाहरण—सहयार < सहकार, मयगलहं < मदगलानां, संपडिय < संपतित, अचिन्तिय < अचिन्तित, गय < गत आदि।

सि० हे० 8/1/180—**अवर्णो य श्रुतिः** के ऊपर टीका करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि व्यंजन लोप होने के बाद 'अ' और 'आ' में 'य' श्रुति होती थी। अवर्ण के बाद में ही य श्रुति होती थी। किन्तु **क्वचिद् भवति** कहकर **हेमचन्द्र** ने यह भी निर्देश कर दिया है कि अवर्ण से अन्यत्र भी 'य' श्रुति पायी जाती है। जैसे—पियइ < पिवति। **मार्कण्डेय** ने **प्राकृत सर्वस्व** में **अनादौ अदितौ वर्णो पठितव्यौ यकारवदिति पाठशिक्षा** कहकर **हेमचन्द्र** के 'य' श्रुति के नियम को और भी अधिक उदार बना दिया।

अपभ्रंश में 'व' श्रुति भी देखी जाती है। सामान्यतया उ, ओ के बाद अ और आ के आने पर व श्रुति देखी जाती है। **स्वर भाग** (Umlaut) के सिद्धान्त व श्रुति के आगमन का कारण हो तो इसमें कोई शंका नहीं होती। खास बात यह है कि य की व श्रुति का मेल नहीं खाता। यह प्रायः लेखक के छन्द पर ही निर्भर करता है—लायइ, लावइ <* लाति, रुवंति < रुदन्ति, सुहव < सुभग, लोयणु, लोवणु < लोचन, सभूव < सभूत, सभुवंगमिय < सभुजंगा, मल्लिव < मल्लिका (भविसत्त कहा G.O.S. x. x. Intro P. 72); (Les chauts-Mystique de kanha et de Saraho (Ed. Shahidulla, Intro. Chapter III).

6. प्राचीन भारतीय आर्य भाषा (संस्कृत) के 'अय' का अपभ्रंश में ए हो जाता है—उज्जेणि < उज्जयनी, 'अण' का 'ओ' हो जाता है—लोण < लवण, थोर < स्थविर, ओवग्ग < अप-वल्ग, ओलग्ग < अवलग्न, इत्यादि। **पिशेल**[16] महोदय का कथन है कि प्राकृत काल से ही 'अ' 'इ' में मिलकर 'ए' में परिणत होने लगा था। इसी आधार पर **तेस्सी तोरी** ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में संज्ञा के तृतीया बहुवचन के पदान्त में तथा विधेयतात्मक एकवचन में यह प्रवृत्ति खोजी थी—चोरे < चोरहि < * चोरभिस।

7. सानुनासिकता (Nasalisation) तथा निरनुनासिकता (Denasalisation) की प्रवृत्ति प्रायः प्राकृत काल से ही चली आ रही है। अपभ्रंश के युग में भी ये प्रवृत्तियाँ विराजमान रहीं। इन प्रवृत्तियों का कारण कभी-कभी तो अकारण ही दीख पड़ता है जैसे—वंक < वक्र, पंखि < पक्षिन, वयंसिअहु < वयस्याभ्यः इत्यादि। परन्तु कुछ उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश में सानुनासिकता की प्रवृत्ति क्षतिपूर्ति के कारण भी होती है जैसे—हउँ < अहकम्, सइँ < स्वयम्, अवसइँ अवश्यम्, तुंह < त्वम् इत्यादि। इसके साथ ही साथ अपभ्रंश में निरनुनासिकता की प्रवृत्ति भी पाई जाती है—सीह < सिंह, जो कि व्यत्यय होकर संस्कृत में हिंस्र से बना था। वीस < विंशति, तीस < त्रिंशति, इत्यादि। यहाँ पर अनुस्वार की क्षतिपूर्ति दीर्घीकरण के द्वारा की गयी है।

8. प्राकृत में तो नहीं किन्तु अपभ्रंश की एक विशेषता रही कि यदि पद के अन्त में अनुस्वार सहित उं, हुं, हिं तथा हं हो तो इनका उच्चारण लघुता के साथ किया जाय—अर्थात् इन सानुनासिक स्वरों का उच्चारण उतनी शीघ्रता के साथ किया जाय कि जिससे ये अर्धस्वरित हो सकें; उदाहरण—8/4/411—तुच्छउँ, 8/4/340—तरुहुँ, लहहुँ, 8/4/390 तणहँ किन्तु प्राकृत वैयाकरण **पिशेल** का कहना है कि प्राकृत और अपभ्रंश कविता में इं, हिं उं पदान्त ह्रस्व और दीर्घ दोनों समझे जा सकते हैं, अर्थात् पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुनासिक और अनुस्वार दोनों माने जा सकते हैं। किन्तु **पी० एल० वैद्य** ने (हे० प्रा० व्या० 8/4/411) सूत्र के अर्थ के अनुकूल ही सर्वथा ह्रस्व उच्चारण करने के लिये टीका की है। आचार्य **हेमचन्द्र** ने सूत्र की

व्याख्या में स्वतः प्रायः शब्द का प्रयोग किया है। संभवतः इसी आधार पर **पिशेल** महोदय ने विकल्प करके सानुनासिक ह्रस्व उच्चारण माना हो। 8/4/411 में वर्णित सानुनासिक ह्रस्व उच्चारण के आधार पर **एल० पी० तोस्सि तोरी** महोदय **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश व्याकरण में अन्यत्र उद्धृत 'अं' 'इं' और 'एं' पदान्तों की भी यही स्थिति मानते हैं। इसीलिये उन्होंने आगे कहा है कि ऐसा लगता है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश से ही अनुनासिक में बदल गया था और यदि **हेमचन्द्र** द्वारा उद्धृत छन्दों से निर्णय करें, जिनमें प्रायः सभी पदान्त अनुस्वार अनुनासिक तथा केवल थोड़े से अनुस्वार अनुनासिक में बदल गया था तो हमें पता चलता है कि इनमें से प्रथम प्रवृत्ति नियम की सूचना देती है और द्वितीय प्रवृत्ति अपवाद अर्थात् बोलचाल की अपभ्रंश में, पदान्त अनुस्वार अनुनासिक हो गया था और उसका अवशेष केवल कविता में ही रह गया था जहाँ दीर्घ अक्षर के लिये उसका उपयोग होता आ रहा था वहाँ अपभ्रंश में पदान्त अनुस्वार या अनुनासिक की प्रायः सुरक्षा की गयी है 8/4/355–तहाँ < तम्हा < तस्मात्, जहाँ < जम्हाँ < यस्मात्, कहाँ < कम्हाँ < कस्मात्।

9. जिस प्रकार आजकल हिन्दी में ह्रस्व ऍ तथा ह्रस्व ऑ होता है उसी प्रकार अपभ्रंश के समय भी विभक्त्यन्त पदों में 'ए' तथा 'ओ' के होने पर उनका उच्चारण लघुता के साथ यानी शीघ्रता (Short) से किया जाता था 8/4/410 सुघेॅ, 8/4/380 दुल्लहहोॅ आदि।

इसके अतिरिक्त अपभ्रंश के **स्वर विकार** में ध्वनि नियम की प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है।

स्वर लोप

(क) आदि स्वर लोप (Aphesis)–

(1) स्वर भार के विना आदि स्वर सामान्यतः लुप्त हो जाता है–हउं < * अहकम्, हिट्ठा < अधस्तात, वलग्ग < अवलग्न, रण्ण < अरण्ण < अरण्य, रविंद < अरविन्द, वइसइ < उपविशति, वारि < उपरि।

(2) बहुत से आदि स्वर का लोप यों ही होता है। तो < अतः, वि < अपि, व < इव, भीतर < अभ्यन्तर, अम्बरइं < आडम्बराणि।

(3) संधि के कारण भी आदि स्वर का लोप होता है। छन्द के कारणों से भी लोप होता है।

(ख) मध्य स्वर लोप (Syncope)—मध्य स्वर लोप की प्रवृत्ति अपभ्रंश में नहीं पाई जाती है। कभी-कभी प्राकृत के अवशिष्ट रूपों में यह प्रवृत्ति परिलक्षित भी होती है—पोप्फल < सं० पूगफल, समुण्णोण्ण < समुण्ण ओण्णअ, भविसत्त < भविस अत्त।

(ग) अन्त्य स्वर लोप—अपभ्रंश के शब्द प्रायः तद्भव होते हैं। अतः उनमें अन्त्य स्वर लोप की प्रवृत्ति देखी जा सकती है—नींद < निद्रा, पिय < प्रिया, पेम < प्रेम, केम आदि। तृतीया एक वचन में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इन = अपभ्रंश में एँ रहने पर अन्त अ का लोप हो जाता है—रामें < रामेण।

स्वरागम

(क) आदि स्वरागम (Prothesis of Vowels)—आदि स्वरागम के उदाहरण कम पाये जाते है। अंवरोप्परु < परस्पर, इत्थि < स्त्री—**हे०** 8/4/401। किन्तु अपभ्रंश में ऐसी प्रवृत्ति कम पायी जाती है। हिन्दी की उच्चारण ध्वनियों में आदि स्वरागम की प्रवृत्ति बहुत पायी जाती है।

(ख) मध्य स्वरागम, स्वरभक्ति (Anaptyxis)—मध्य स्वरागम, स्वरभक्ति के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। मध्य भारतीय आर्यभाषा में इसकी प्रवृत्ति और भी बढ़ चली। प्राकृत वैयाकरण स्वर भक्ति को विप्रकर्ष कहकर पुकारा करते थे। य, र, ल, व, तथा अनुनासिक युक्त व्यंजन में इसका प्रयोग अधिक पाया जाता है—रअण जोइ < रत्न जोई < रत्नज्योति, मुरूक्ख, मुक्ख < मूर्ख, कारिम, कम्म < कर्मन, वरिस < वर्ष, कसण < कृष्ण, सुमिरिज्जइ < स्मर्यते, सुमरणु < स्मरण।

(ग) **अन्त्य स्वरागम**—अपभ्रंश शब्द के अन्त में कोई न कोई स्वर अवश्य पाया जाता है। कुछ द्वित्व व्यंजनान्त शब्द पाये जाते हैं। उनके उच्चारण में स्वर प्रायः विराजमान रहता है। स्वर भक्ति का भेद ही **अपिनिहिति** (Epenthesis) है। जिस शब्द के अन्त में इ, ए, उ या ओ हो तो बीच में इ या उ का आगम होता है, और वह तीसरे स्वर को बदल देता है। बेल्लि < बल्लि = वल्ल + इ, इस स्थिति में ल्ल के पहले इ का आगम होने पर व+इ+ल्ल+इ रूप हुआ। अपिनिहिति का कार्य प्रायः समवर्ती स्वरों में ही होता है। जैसे—केर < कार्य, अच्छेरय < आश्चर्य, वह्मचेर < ब्रह्मचर्य, पोम < पद्म, पोमावइ < पद्मावती।

स्वर परिवर्तन (Umlaut)

स्वर परिवर्तन या स्वर विकार शब्दों के आदि वाले स्वर में होता है। यह स्वर विकार आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सर्वत्र पाया जाता है। करिमि < करमि, करिइ < करइ, उच्छु < इक्षु, सिविण < स्वप्न साहार < सहकार।

व्यंजन विकार

अपभ्रंश में प्राकृत की प्रायः सभी व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती हैं। संस्कृत न, य, श, के अतिरिक्त प्रायः सभी ध्वनियाँ प्राकृत काल में शब्दों के आदि में अपरिवर्तित रहीं हैं। न, य, श क्रमशः ण, ज, स बन जाते हैं। जधा < यथा, जइ < यदि, शौरसेनी में जदि होता है। श और ष का स होता है। संस्कृत के पदादि क, प, कभी-कभी, ख, फ, हो जाते हैं—खुज्ज < कुब्ज। असंयुक्त व्यंजन ध्वनियों की स्थिति में विचित्र परिवर्तन दिखाई पड़ता है। मध्य भारतीय आर्यभाषा में पदादि स्पर्श व्यंजन ध्वनियों की यथास्थित सुरक्षा पाई जाती है, किन्तु स्वर मध्यग अल्प प्राण स्पर्श ध्वनियों एवं य तथा व ध्वनि का लोप हो जाता है।[17] स्वर मध्यग महाप्राण स्पर्श ध्वनियों का विकास 'ह' के रूप में पाया जाता है।[18] अल्पप्राण ध्वनियों का लोप तथा महाप्राण ध्वनियों के

स्पर्शांश का लोप कैसे हुआ, इस विषय पर विद्वानों ने कुछ कल्पनायें की हैं। **डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या** ने अपनी पुस्तक **भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी** के पृ० 113–19 में लिखा है कि मध्य भारतीय आर्यभाषा में व्यंजनों के परिवर्तन के कारण उच्चारण धीरे-धीरे ऊष्म होकर शिथिल हो गया। फलतः–

(1) पदान्त के व्यंजनों का लोप हो गया।

(2) स्पर्श व्यंजनों के समूह में प्रथम का दूसरे के साथ समीकरण हो गया,

(3) प्रायः स्वर मध्यग स्पर्श-व्यंजनों का लोप हो गया। महाप्राण वर्णों में केवल 'ह' ध्वनि शेष रह गयी।

(4) मध्य भारतीय आर्य भाषा के आरम्भिक काल से ही पदान्त व्यंजनों का लोप तथा संयुक्त व्यंजनों के लोप में कुछ अपवाद मिलते रहे। **डॉ० चाटुर्ज्या** का कहना है कि मूर्धन्य वर्णों का उपयोग वहीं मिलता है, जहाँ 'ष' 'न' अथवा 'र' के संयोग से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य हो जाते हैं। शनैः शनैः संयुक्त व्यंजनों की वृद्धि के कारण को उन्होंने द्रविड़ भाषा का प्रभाव माना है।

(5) **हेमचन्द्र** के समय तक स्वर मध्यग स्पर्श व्यंजनों के लोप की प्रक्रिया चलती रही। फलतः उच्चारणगत असुविधा के कारण 'य' 'व' श्रुति को सन्निवेश कर उसे दूर किया गया।

मध्य भारतीय आर्य भाषा की प्रथम स्थिति में स्पर्श ध्वनियों तथा य, व, का विकास 'सोष्म व्यंजनों' (Spirauts) के रूप में हो गया था। अगली स्थिति में आकर ये सोष्म व्यंजन लुप्त हो गये तथा इनके स्थान पर 'उद्वृत्त स्वर' पाये जाने लगे उदाहरणार्थ–प्रा० भा० आ० द्यूत, द्विगुण, शुक, ताप, हृदय, दीप का विकास नव्य भारतीय आर्यभाषा में 'जूआ, दूना, सुआ, ता, (ताअ) हिआ, दिया' होने के पहले ये म० भा० आ० में 'जूद, दिगुण, सुग, ताब, हिदअ, दिब़ा,' की स्थिति से जरूर गुजरी होगी। इसी तरह इनके 'महाप्राण स्पर्शों' में भी यह विकास देखा जाता है–मुख > मुघ > मुह; लघु, > लघु; कथयति > कधेदि > कधेदि > कहेइ > कहे, वधू > वधू > वहू;

सामान्यतः शब्द के आदि व्यंजन में विकार नहीं होता। किन्तु कुछ ऐसे अपवाद भी मिलते हैं जहाँ कि शब्द के आदि के व्यंजन में विकार होता है जैसे :–

दिद्दि < धृति – यहाँ आदि व्यंजन ध के स्थान पर द हुआ है।

धुअ या धूय < दुहिता–आदि व्यंजन ध के स्थान पर दा

यादि < जांति–जहाँ आदि ज की जगह य हुआ है।

स्वरीभवन (Vocalization)

स्वरीभवन (Vocalization) मध्य भारतीय आर्य भाषा की प्रायः यह प्रवृत्ति रही है कि स्पर्श अल्पप्राण असंयुक्त स्वर मध्यग व्यंजन क, ग, च, ज, त, द, प, य, व का प्रायः लोप[19] हो जाता है। उदाहरणार्थः–परकीया > पराइय, योगिन > जोइ, गोरोचन > गोरोअण, अगलित > अगलिय, योजन > जोअण, > पाद > पाअ, सुजन > सुअणु, विप्रिय-कारकः > विप्पिय आरउ, रूप > रूअ, विवुध > विउह, दिवस > दियह।

व्यंजनों के लुप्त होने के बाद अवशिष्ट 'अ' का उच्चारण य की तरह होने लगा। यह 'य' (लघु प्रयत्न तर यकार) संस्कृत या मागधी य की अपेक्षा अधिक कमजोर था और लेखन में इसका स्पष्टीकरण नहीं होता था। केवल जैन महाराष्ट्री में इसका प्रयोग होता था। हियय < हृदय।

प्राकृत काल में य, र, व, श, ष, एवं स व्यंजन के लुप्त होने पर उसके पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घ[20] हो जाता था। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश में भी पाई जाती है–नीसासु < निःश्वासम्, वीसमइ < विश्राम्यति, रूसेसु।

महाप्राण करण (Aspiration)

महाप्राण करण (Aspiration) प्राकृत एवं अपभ्रंश में स्वर मध्यग स्पर्श महाप्राण ख, घ, थ, ध, फ, और भ का ह[21] हो जाता है। **डॉ० चाटुर्ज्या** के शब्दों में केवल ह अवशिष्ट रह जाता है–सहि < सखि, दीह < दीर्घ, कहा < कथा, अहर < अधर, मुत्ताहल < मुक्ताफल, गहीर < गभीर, सोह < शोभा, णह < नभसयानाव। इसमें महाप्राण

(Disaspiration) का त्याग भी कभी-कभी हो जाता है, विच्छोअ < विच्छोह < विक्षोभ, उच्चिट्ठ < उच्छिष्ठ।

शौरसेनी, मागधी और कुछ दूसरी बोलियों में थ को ध हो जाता है।

शौर०—अदिधि < अतिथि, कधेद < कथितं, तधा < तथा, अध < अथ, जधा < यथा।

मा०—यधा < यथा, तधा < तथा। पालि में अथ, यथा, तथा सुरक्षित है। निम्नलिखित रूप शौरसेनी और महाराष्ट्री के बीच की खास विशेषताओं को बताते हैं :—

शौर०	**महाराष्ट्री**	**संस्कृत**
अध	अह	अथ
मणोरध	मणोरह	मनोरथ
कधम	कहम	कथम
णाध	णाह	नाथ

शब्दों को कोमल करने की प्रवृत्ति (Softening)

यद्यपि अपभ्रंश में मध्य व्यंजनों के लोप करने की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है, फिर भी अपभ्रंश की अपनी खास विशेषता यह है कि यदि स्वर मध्यग असंयुक्त क, ख, त, थ, प एवं फ हो तो क्रम से उन्हें ग, घ, द, ध, व एवं भ हो जाता है। **हे०** 8/4/396, विच्छोहगरु < विक्षोभकरः, सुघिँ < सुखेन, सबधु < शपथं, कधिँदु < कथितं, सभलउं < सफलं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि अपभ्रंश में यह नियम सर्वत्र पाया ही जाय। अपवाद भी मिलता है। अकिया—अकृत में स्वर मध्यग असंयुक्त क का ग नहीं हुआ, पफुल्लिअउ < प्रफुल्लितकः में फ को भ नहीं हुआ।

स्वरों के बीच में ट को ड और ठ को ढ़ भी होता है। कुडिल < कुटिल, कुडुम्ब < कुटुम्ब, बड < वट। कुछ बोलियों में ड को ल भी हो जाता है—म० कखोल < करकोट, माग ० सअल < सकट आदि।

अपभ्रंश में स को ह होता है—**हे०** 8/4/333—दियहडा < दिवसाः।

य को ज=कहीजइ < कहिज्जइ < कथ्यते, सुमिरिज्जइ < स्मयर्ते, भमिज्जइ < भ्रम्यते, वाणिज्जइ < वाणिज्यकः।

न को ण—णवि < नापि, णट्ठउ < नष्टकः, णिअत्तएं < निमित्तकेन।

त को प—**हे०** 8/4/437—वड्डप्पणु < वडत्वं, अप्पण < आत्मन्।

त को ड भी होता है **हे०** 8/4/439 पडिविम्बिउ < प्रतिबिम्बितः।

पडिहाउ < प्रतिभाति	**हे०** 8/4/441
निवडण भयेण < निपतन भयेन	**हे०** 8/4/444
पाडिउ < पातितः	**हे०** 8/4/420

कभी कभी त को ण भी होता था—**हे०** 8/4/333 दिण्णा < दत्ता।

त को द। शौरसेनी के प्रभाव रहने पर त को ज भी हो जाता है। साहित्यिक अपभ्रंश ने सामान्यतः महाराष्ट्री प्राकृत का ही अनुसरण किया है।

कधिदु < कथितः	**हे०** 8/4/396
आगदो < आगतः	**हे०** 8/4/455–372
करदि, चिट्ठदि	**हे०** 8/4/360

हेमचन्द्र के अपभ्रंश में जो उदाहरण दिये गये हैं वे प्रायः शौरसेनी से प्रभावित हैं जो कि उस समय की अपभ्रंश बोली में प्रयुक्त होता था। उसके प्रयोग होने का कारण यह है कि वे दोहे लोक में बहुत प्रचलित थे। इसीलिये उसका उदाहरण **हेमचन्द्र** ने दिया है। **श्री चिमन लाल मोदी** का कहना है कि ख = घ, थ = ध, प = ब, फ = भ वाला उद्धरण **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों के उद्धरण के अलावा अन्यत्र मिलना कठिन है।

शौरसेनी अपभ्रंश ने लोक बोली में महाराष्ट्री का अनुसरण किया है। कठोर शब्दों की जगह कोमलता की प्रवृत्ति आधुनिक आर्य भाषाओं में भी देखी जाती है।

मध्य भारतीय आर्यभाषा में टवर्गीय अघोष ध्वनियों का नियत रूप से सघोषीभाव[22] (Voicing) मिलता है। वैसे अपभ्रंश में 'क, च, त, प,' तथा 'ख, छ, थ, फ' के भी सघोषी भाव के संकेत मिलते हैं। टवर्ग से इतर ध्वनियों में संघोषी भाव के सिर्फ छिटपुट उदाहरण मिलते हैं, तथा मअगल < मदकल, आणीदा < आनीता, अब्भुद < अद्‌भुत। प के व वाले रूप अनेक मिलते हैं, जो संभवतः प > ब > व के क्रम से विकसित हुए जान पड़ते हैं। सघोषी भाव के उदाहरण :– ट > ड – कोडी < कोटि (कोटिका), गुडिआ < गुटिका, तड < तट, कवड < कपट, सुहड < सुभट, कडक्ख < कटाक्ष, पडिजंपइ < प्रतिजल्पति।

ठ > (< थ) ठ–पठम < * पठम < प्रथम, मढ < मठ, वीठ < पीठ।

प > ब > व–सुरवइ < सुरपति, अवर < अपर, किवाण < कृपाण, कुविय, < कुपित, दीव < द्वीप, पाव < पाप, रुव < रूप, उवरि < उपरि, उवरण < उपकरण, उवज्झा < (ओझा) उपाध्याय, अवि < अपि, ताव < ताप।

ब > व–कवल < कबल, सवर < सबर।

इसी तरह कई स्थानों पर 'त' का **प्रतिवेष्टितीकरण** (Retroflection) कर तब सघोषी भाव मिलता है:–पाडिओ < * पाटिओ < पातितः, पडु < पडिअ < * पटिअ < पतितः।

इसी प्रक्रिया से संबद्ध वह प्रक्रिया है, जहाँ त (ट) > ड > ल तथा ड > ल वाले रूप भी मिलते हैं। म० भा० आ० में स्वर मध्यग 'ड' का उत्क्षिप्त प्रतिवेष्टित 'ड' हो गया था। वैभाषिक रूप में इसके 'र' तथा 'ल' विकास पाये जाते हैं। **प्राकृत पैंगलम्**[23] में कुछ स्थानों पर यह ल रूप मिलता है:–पअल < प्रकट, पलिअ < पडिअ < पतितः, णिअलं < निकटं।

कुछ शब्दों में अल्पप्राण वर्णों के स्थान पर महाप्राण वर्ण हो जाते हैं।

(अ) क > ख—नोक्खि < नवम्खी = नव + क्क (स्वार्थे) नक्खी (सि० हे०)—खेलइ < क्रीडति, खप्पर < कर्पर।

त > थ > ह—भारह < भारथ * < भारत, वसहि < वसथि * < वसति।

प > फ > भ—अर्धमागधी कच्छभ < कच्चप।

प > फ—फासुय < स्पर्शुक, फंसइ < स्पृशति, फरसु < परशु।

(आ) वर्णमाला के तृतीय व्यंजन की जगह चतुर्थ व्यंजन प्रायः नहीं होता। किन्तु इसके अपवाद भी मिलते हैं—धूय < दुहिय < दुहितृ, घरिणि < गृहिणी, घेप्पइ < √गृह। चतुर्थ व्यंजन को तृतीय व्यंजन भी होता है :—बहिणी < भगिनि।

'दन्त्य व्यंजन' की जगह कई बार 'मूर्धन्य व्यंजन' भी पाया जाता है।

त > ट > ड—पडिअ < पतित, पडाय < पताका।

थ > ठ—गंठिपाल < ग्रन्थिपाल।

द > ड—डहइ < दहति, खुडिय < क्षुधित, डोलइ < दोलायते, डुक्कर < दुष्कर।

*ध > ठ—वियडढ < विदग्ध, वीसठ < विसड्ठ * < विसिड्ठ < विस्निग्ध।*

निम्नलिखित उद्धरणों में अपभ्रंश व्यंजन के खास खास परिवर्तन दीख पड़ते हैं—

छ > च्छ—दो स्वरों के बीच में छ को च्छ हो जाता है, किन्तु शब्द के आदि में छ रहने पर विकार नहीं होता—छण्ण, छत्तिय।

ज > य—याणिमो < जानीमः। यह मागधी का प्रभाव है। शौरसेनी में ऐसा बहुत कम होता है।

ज > ञ—(सि० हे 8/4/392) वुञइ < व्रजति। **हेमचन्द्र** ने इसका उद्धरण जरूर दिया है किन्तु सामान्यतया यह अपभ्रंश साहित्य में प्रचलित नहीं है।

ट > ड > ल—कडियठि < कटितटे।

ड > ल—कील < क्रीडा, सोलह < सोळस < षोडश, तलाउ < तडाग, नियल < निगड, पीलिय < पीडित।

त > ड > ल—अलसी < अतसी, विज्जुलिआ < विद्युतिका (विजुली), फुल्लइ < फुड्डइ < फुट्टइ < स्फुटति, सालवाहन < सातवाहन, दोहल < दोहद।

त > ड > र—सत्तरी < सप्तति (हे० 8/1/210)

थ > ठ > ढ—पढम < प्रथम (हे० 8/1/125)

द > ड > र—एयारह < एकादश (एगारह), बारह < द्वादश, करली < कदली, गग्गर < गद्गद, गग्गिर प्रयोग भी मिलता है।

द > ड > ल—मलिउ < मृदितं, मलइ < मृद्नति, पलित्त < प्रदीप्त, पलिप्पंत < प्रदीप्यमाण, कालंबिणि < कादम्बिनी।

प > व > म—सुमिण < सुविण < स्वप्न, पामइ < प्राप्नोति, मि < वि < अपि, दुमय < द्रुपद।

ब > म—कमंध < कबंध, तंमालु < तंबोलु < ताम्बूल।

म > वँ, व—दो स्वर के बीच में म को वँ होता है (सि० हे० 8/4/ 397)।

म का 'वँ' विकास अपभ्रंश की खास विशेषता है। यह राजस्थानी, ब्रज आदि आधुनिक भाषाओं में भी पाया जाता है।

जिंव < जिवँ < जिम, सवाँरिउ < समारचित, केम्व < केम < किम।

म > व—रवण्ण < रमण्य, दवणा < दमनका, सवण < श्रमण < वम्मह < मन्मथ, वम्म < मर्मन।

म को व होकर उ होने की भी प्रवृत्ति पायी जाती है। अवर उहउ < अपर मुखिन्यः, भउहउ < भ्रमुका।

य < ज—शब्द के आदि में य को ज होता है। जइ < यदि, जसु < यस्य, जूह < यूथ।

य > ज्ज—कर्मणि प्रयोग य > ज्ज (पूर्व के दीर्घ स्वर का ह्रस्व होता है) किज्जई < क्रीयते, दिज्जइ < दीयते।

य > व—स्वर अ की जगह य श्रुत होता है और कभी-कभी व भी श्रुत होता है। आयइं < आगतं, हियउ < हृदय, आविज्जइ।

य > इ—संप्रसारण य को इ होता है। पइंपिउ < प्रजल्पितं। कभी इ को ए भी होता है—देवए, आणए।

र > ल—चलण < चरण, चालण < स्मरण, चालीस < चत्वारिंशत्, सामिसाल < स्वामिसार, हरिद्दी > हलिद्दी, भद्र > भल्ल।

ल > ण—णिडाल < ललाट।

ल > र—किर < किल।

व > म—पिहिमि < पृथिवी, एम < एव < एवम्, परिविय < परिवृत, जाम < जाव < यावत्, ताम < ताव < तावत्।

व > अ, य, इ—संभउ < संभव, दीउ < दीव < द्वीप, जिउ < जीव, पयट्ट < प्रवृत्त पइट्ठ रूप भी होता है। पइट्ठ < प्रविष्ट, दिअह < दिवस। अपभ्रंश की उच्चारण प्रक्रिया में य की जगह व की भी श्रुति पायी जाती है।

श > ह—एह < ईदृश, तेह < तादृश, जहे < यादृश, साह < शाश्वत।

श > स—नीसासु < निःश्वासम, देस < देश। महाराष्ट्री में ईदृश और तादृश का एरिस, जारिस, तारिस रूप भी होता है। प्राकृत में आये हुए स का अपभ्रंश में ह होता है।

ष > ह—एह, एहो, एहु < एषो < एषः, विसंठल < विषड्ठल, पाहाण < पाषाण।

ष > छ—छ < छह < षष, छाहत्तरि < षट् सप्तति (हिन्दी छिहत्तर)।

स > ह—दिअह < दिवस, जहिं < जस्सिं < यस्मिन, तहिं < तस्सिं < तस्मिन्, जणहं, जणाहं (< साम * षष्ठी बहुवचन का प्रत्यय) = जनानाम्, जाणहि < जानासि।

न्स < ह का अल्प प्राण स्पर्श (व्यंजन) सोष्म व्यंजन होता है। अल्प प्राण स्पर्श ऊष्म व्यंजन स का महाप्राण ह होता है। स्पंदते < * हपंदए व्यत्यय होकर प्हंदए < फंदइ।

वैदिक कालीन स्पर्श ऊष्म व्यंजन का रूप आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में दीख पड़ता है। वैदिक स्पशति < संस्कृत पाश < हिन्दी फांस। यद्यपि अपभ्रंश में 'ह' प्रायः ह ही रहता है फिर भी कभी-कभी महाप्राण घ भी हो जाता है। दाघ < दाह < दग्ध (निदाघ)[24] ह्न, ह का यौगिक रूप घ्न संस्कृत में जघान, घ्नन्ति रूप होते थे।

अनुस्वार युक्त स्वर के बाद 'ह' हो तो उसको घ हो जाता है। अनुनासिक के बाद, अनुनासिक वर्ण के वर्ग का ह-कार युक्त वर्ण आ जाता है। यहाँ भी बहुत से अवसरों पर ह-कार युक्त वर्ण उस समय का होना चाहिये जबकि शब्द में बाद को इसके स्थान पर ह का आगमन हुआ हो 'ह' के बाद अनुनासिक व्यंजन आवे तो ह का व्यत्यय होता है। वर्ग का अनुनासिक व्यंजन हो तो वर्ग का चतुर्थ वर्ण (ऊष्म व्यंजन) का फेरफार होता है। संघारण < संहारण, संघार < संहा < सिंघ < सिंह। महा० अर्ध माग०, जै० म० और अप० में सीह[25] रूप मिलता है। अप० =कन्तु जु सीहहो। शौर० सिंह, माग० में शिंह रूप है। महा० सिंघली < सिंहली, चिन्ध < * चिन्ह < चिह्न, महा० शौर० मागधी और अप० में चिण्ह है, बंभ < ब्राह्मण, वंभण < ब्राह्मण, महा० वम्भण्ड < ब्रह्माण्ड, आसंघइ < आसंहइ * < आशंसते, संभरइ < सम्हरइ < संस्मरति।

द्वित्व व्यंजन (Doubling of Consonants)

प्रो० पिशेल का कथन है कि प्राकृत भाषा में जो व्यंजन को द्वित्व करने की प्रवृत्ति पाई जाती है उस पर वैदिक स्वर का प्रभाव है। **हेमचन्द्र** के 8/2/98,99 प्राकृत सूत्रों में द्वित्व व्यंजन के उदाहरण पाये जाते हैं। जित्त < जितं, केत्थु < कथं, फुट्टइ < स्फुटति, उज्जु <

ऋजु इत्यादि नियमों के आधार पर स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय इल्ल, उल्ल बना है। कभी-कभी आवश्यकता पड़ने पर काव्य के छन्दों में भी द्वित्व कर दिया जाता है। कभी-कभी शब्द में मात्रा को पूर्ण करने के लिए व्यंजन को द्वित्व कर दिया जाता है जैसे—अड्डवि।

(अ) कभी-कभी द्वित्व हो जाने के बाद पूर्व दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है। पुज्ज < पूजा, जोव्वण < यौवन, अल्लीण < आलीन, पहुत्त < प्रभूत।

(इ) बहुत से विद्वान **प्रो० पिशेल** के इस मत से असहमत हैं। उन लोगों के अनुसार द्वित्व करने की प्रवृत्ति **भ्रान्त पद्धति (False analogy)** के आधार पर है। उप्परि < उपरि, के अनुकरण पर परुप्पर < परस्पर, द्वित्व प्प हुआ है। सुक्किउ < सुकृत के भ्रान्त अनुकरण पर दुक्किउ < दुष्कृत। इसी तरह भ्रान्त अनुकरण पर निर्मित द्वित्व के रूप के उदाहरण हैं विण्णि < द्वौ, तिण्णि < त्रीणि आदि।

वर्ण विपर्यय (Metathesis)

भाषा में सर्वत्र वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति पायी जाती है। हमारे यहाँ प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के समय से ही यह प्रवृत्ति पायी जाती रही है। संस्कृत में व्यत्यय होकर हिंस्र से सिंह बना था। मध्य भारतीय आर्य भाषा में यह प्रवृत्ति बढ़ चली थी। प्राकृत तथा अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति बराबर चलती रही। उदाहरण :—

वाणरसी < वाराणसी—ण र का व्यत्यय।

कणेरू < करेण—ण र का व्यत्यय।

मरहट्ठ < महाराष्ट्र—ह र का व्यत्यय।

हलुक < लघु (< ह) अ—घ को ह होकर हल का व्यत्यय।

मरहट्ठ < महाराष्ट्र--ह र का व्यत्यय।

दीहर < (दीर्घ) दीरघ (घ > ह) ह र का व्यत्यय।

मणोहर ठाणु < मनोरथ स्थान—हर का व्यत्यय।

द्रह < ह्रद आदि।

वर्ण प्रक्षेप (मध्य वर्णागम)

शब्द के मध्य में स्वर की भाँति व्यंजन आगम की भी प्रवृत्ति पायी जाती है :—

(अ) दः न्नल > न्नर > न्दल > न्दर—बिहन्दल < बृहन्नला, हिन्दी बन्दर < वानर, पन्दरह < पन्नरह आदि। किन्तु अपभ्रंश में ऐसी प्रवृति बहुत ही कम है। बः म्र > म्ब > म्बिर (सि० हे० 8/2/56) तम्बिर < ताम्र, तंब < ताम्र, अंब < आम्र।

(आ) अपभ्रंश में यद्यपि शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी थी फिर भी कुछ स्थलों पर आदि व्यंजन से संपृक्त र की प्रवृत्ति पायी जाती है। **हेमचन्द्र** ने अपने अपभ्रंश सूत्र (8/4/398) में विकल्प से रेफ लोप का वर्णन किया है तथा 8/4/399 में र के रहने का वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश पर किसी देशी भाषा का विशेष प्रभाव था। यह रेफ की प्रवृत्ति **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में ही विशेष रूप से पायी जाती है।

ब्रासु < व्यास, द्रेहि < दृष्टि, प्रस्सदि < पश्यति, **हे०** 8/4/391 ब्रूगः, ब्रोधि। कभी-कभी संयुक्त र ऋ में परिणत हो जाता था 8/4/394 गृहणेप्पिणु < ग्रहीत्वा। संभवतः यह प्रवृत्ति भाषा में संस्कृत की उदात्तता लाने के प्रयत्न स्वरूप चल पड़ी होगी। इस तरह **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में व्यंजन से र को संयुक्त करने की प्रवृत्ति बहुत स्थलों पर पायी जाती है। अंत्र, द्रम्म, द्रवक्क, द्रह, द्रेहि, ध्रुव, प्रंगण, प्रमाणिए, प्रयावदी, प्रस्स, प्राइव, प्राइम्व, प्राउ, प्रिय, ब्रुव, ब्रो, भ्रंति, भ्रंत्रि व्रत, तुध्र, त्रं, ध्रुं, भ्रंत्रि, इत्यादि उपर्युक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि अपभ्रंश पर प्रादेशिक बोलियों का तथा प्राचीन आर्य भाषा का प्रभाव प्रचुर मात्रा में था।

(इ) **हः** धूहडु < धूअ + ड स्वार्थे क < धूक, ठाहरइ < स्था अइ * भूंहडी < भूमि (सि० हे० 8/4/ 395) चिहुर < चिकुर।

सम्प्रसारण

सम्प्रसारण जिसे आधुनिक भाषा वैज्ञानिक **अर्धस्वर** कहते हैं उसी को प्राचीन वैयाकरण **सम्प्रसारण** कह कर पुकारा करते थे यानी य तथा व का सम्प्रसारण कर कभी-कभी तद्भव तथा तत्सम शब्दों में क्रम से इ तथा उ हो जाया करता था। तत्सम—अभिअन्तर < अभ्यन्तर। अपभ्रंश के तद्भव शब्दों में यह प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है। **हे०** 8/4/395 सरिसिम < सादृश्यम् 8/4/402 सइं < स्वयम्, 8/4/418 लोणु < लवणं, सुविण < स्वप्न, सुअहि < सोअहि < स्वपिहि, तिरिच्छ < तिर्यक्ष *, णाउ < णाव < नामन, अउर < अवर < अपर, (हिन्दी और) विउस < विदुस * < विद्वष, देउल < देवल।

संस्कृत यज् धातु से इष्टि बना, शौरसेनी में इसका रूप इट्ठि है।

वप् से उप्त बना, महाराष्ट्री में इसका रूप उत्त है।

स्वप > सुप्त > सुत्त, आचार्य > आयरिय > आइरिय, राजन्य > रायण्ण > राइण्ण, गवय > गउअ > गउआ, यावत > जाउँ, तावत् > ताउँ, त्वरित > महा० अप० तुरिअ, जै० महा० तुरिय, शौ० तुरिद, मा० तुलिद, सुयइ, सुअइ > सुवयइ > * स्वपति > स्वपिति, णाउँ > * णावम > नाम, सोनार > सोण्णार > सुण्ण आर > स्वर्णकार **पिशेल**[26] का कहना है कि सम्प्रसारण के नियम के अधीन अय का ए और अव का ओ में बदलना भी है। इस प्रकार दसवें गण की प्रेरणार्थक क्रियाओं और इसी प्रकार से बनी संज्ञाओं में अय का ए हो जाता है। कथयति के लिये महाराष्ट्री और अर्धमागधी में कहेइ और मागधी में कधेदि हो जाता है। कथयतु का शौरसेनी में कधेदु और अपभ्रंश में कधिदु होगा। त्रयोदश >* त्रयदश > अर्धमा० तेरस > अप० तेरह, त्रयोविंशति >* त्रयविंशति > अर्धमा० जै० महा० तेवीसम > अप० तेइस, त्रयत्रिंशत > अ० मा०, जै० महा० तेॅत्तीसं, तित्तीसं > तेतिस; महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश ऍत्तिय, इत्तिय की व्युत्पत्ति **पिशेल**[27] ने * अयत् या * अयत्तिय की स्वरभक्ति के साथ * अयत्त से निकला माना है। इससे

मिलते जुलते संस्कृत रूप इहत्य, क्वत्य और तत्रत्य हैं। इसी प्रकार का शब्द महाराष्ट्री, शौरसेनी और अपभ्रंश के ॅत्तिय है जो कि कय जाति का है और जो कि * कयत्य या * कयत्तिय से बना है। इन्हीं शब्दों के अनुकरण पर जे ॅतिअ, ते ॅत्तिय, जे ॅत्तिक, ते ॅत्तिक, जे ॅत्तिल, ते ॅत्तिल, के ॅत्तिल, ऍत्तुल, के ॅतुल, जे ॅतुल, और ते ॅत्तुल बना है।

अव का अउ होकर ओ बन गया है। अवश्याय > ओसाय, नवमालिका > णोमालिआ, लवण > लोणु, भवति > भोदि > होदि > होइ, उज्झाओ, ओज्झाओ < उवज्झाओ < उपाध्याय।

संयुक्त व्यंजन विकार

संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण प्राकृत भाषा की ध्वनि विकास का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। संस्कृत भाषा के पदादि में अनेक संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती थीं। किन्तु मध्य भारतीय आर्य भाषा में शब्द के आरम्भ में ण्ह, म्ह, ल्ह और बोली की दृष्टि से व्यंजन र को छोड़कर केवल सरल व्यंजन ही रहते हैं; शब्द के भीतर उसमें मिला लिये जाने वाले संयुक्त व्यंजन में से आरंम्भ में केवल दूसरा व्यंजन रहता है।

मध्य भारतीय आर्य भाषा में संयुक्त व्यंजनों में से केवल चार तरह की संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ पायी जाती हैं :–

(1) व्यंजन द्वित्व वाले रूप (क्क, ग्ग, त्त, द्द, प्प, व्व आदि रूप) तथा स्वर्गीय महाप्राण से युक्त अल्पप्राण वाली संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ (क्ख, ग्घ, च्छ, ज्झ आदि)।

(2) ण्ह, म्ह, ल्ह ध्वनियाँ।

(3) विभाषाओं में व्यञ्जन + रेफ (र्)।

(4) स्वर्गीय अनुनासिक व्यंजन + स्पर्श व्यंजन ध्वनि।

रेफ वाले संयुक्त व्यंजनों का अस्तित्व अपभ्रंश में भी पाया जाता है। कभी-कभी अनावश्यक भी रेफ[28] वृत्ति का संयोग पाया जाता है जैसे, ब्रासु < व्यास, द्रेहि < दृष्टि आदि। यद्यपि अपभ्रंश में शब्द के

आदि में संयुक्त व्यंजन नहीं होता फिर भी इस नियम के अपवाद भी कुछ मिलते हैं। ण्ह, म्ह, ल्ह, आदि के उद्धरण पाये जाते हैं—ण्हाहु < स्नात, ण्हाण < स्नान, ल्हसइ < हसति, ल्हसिउ, म्हो < स्मः, म्हि < अस्मि आदि। आगे चलकर यह प्रवृत्ति समाप्त हो गयी। नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में शब्द के आदि में तद्भव शब्दों में संयुक्त व्यंजन की प्रवृत्ति समाप्त हो गयी।

प्राकृत तथा अपभ्रंश में विजातीय संयुक्त व्यंजन वाले रूपों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। संस्कृत के पद मध्य में तीन, चार, पांच संयुक्त व्यंजन ध्वनि वाले रूप पाये जाते हैं=उज्ज्वल, अर्ध्य, तार्क्ष्य कात्स्न्र्य आदि। अपभ्रंश में केवल दो संयुक्त व्यंजन ध्वनियाँ पाई जाती हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है।

इस प्रकार मध्य भारतीय आर्य भाषा में संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण ध्वनि विकास का एक महत्वपूर्ण लक्षण है।

डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि छांदस संस्कृत की संयुक्त स्पर्श व्यंजन ध्वनियों में प्रथम स्पर्श ध्वनि का पूर्ण स्फोट (Explosion) पाया जाता है। भक्त, रक्त जैसे संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में उनके अंगभूत दोनों व्यंजनों का स्फोट होता था—क्त में क् और त् का स्फोट होता था। उस समय उच्चारण करते समय लोगों के मन में शब्दों के प्रकृति प्रत्यय विभाग का स्पष्ट ज्ञान था। उस काल में उच्चारण प्रक्रिया की यह विशिष्टता थी। रक्त, भक्त में ज्+त और भज् + त ऐसा ख्याल स्पष्ट था। किन्तु बाद में चलकर धातु विषयक बोध या धात्वाश्रयी धारणा का लोप हो गया।[29] फलतः दोनों व्यंजनों का स्फोट न होकर केवल अन्तिम व्यंजन का स्फोट होने लगा, प्रथम स्पर्श व्यंजन का केवल 'अभिनिधान' या 'संधारण' (Implosion) किया जाने लगा। इस प्रक्रिया के स्वरों के ह्रस्व दीर्घत्व, स्वराघात (Stress-accent) सब में परिवर्तन हो गया। प्राचीन आर्य भाषा की नाद प्रधान उच्चारण पद्धति बदल कर मध्य भारतीय आर्य भाषा के काल में बल प्रधान हो गयी।

शब्द के आरम्भ का संयुक्त व्यंजन तीन तरह का होता है। (1) प्रथम व्यंजन की रक्षा और दूसरे का लोप करना (2) संयोजन (Assimilation) (3) और तीसरा है विप्रकर्ष स्वर का प्रक्षेप (Anaptyxis)

(1) आदि संयुक्त व्यंजन का द्वितीय व्यंजन य, र, ल, व होता है। उसमें प्रथम व्यंजन की रक्षा होती है और दूसरे का लोप कर दिया जाता है।

यः जोइसिउ < ज्योतिषिन्, चुक्की < च्युता, वावारउ < व्यापार, चायइ < त्यजति, वामोह < व्यामोह।

रः कील < क्रीडा, पडिक्त < प्रतिपत्ति, सुव्वइ < श्रु + अति, पेम्म < प्रेमन

वः जालइ < ज्वालयति, सर < स्वर, दीव < द्वीप।

(2) र् के पूर्व स् व्यंजन, व् के पूर्व स् के उदाहरणों में विप्रकर्ष स्वर का आक्षेप कर लिया जाता है। ल् के पूर्व का व्यंजन उसी तरह रहता है।

(3) **संयोजन (Assimilation)**—सामान्यतया संयुक्त व्यजनों के पूर्व के स् से युक्त संयुक्त व्यंजन का संयोजन होता है।

(क) स् + क वर्ग के प्रथम अक्षर (तालव्य के मूर्धन्य वर्ग का प्रथम अक्षर के बिना) का द्वितीय अक्षर हो जाता है (इस प्रक्रिया में स् = ह का व्यत्यय होता है अगर स्पर्श ऊष्म के साथ रहे) खंध < स्कंध खलिय < स्खलित, थंभ < स्तंभ, थुइ < स्तुति, थण < स्तन, फंसइ < स्पृशति, फंसइ < स्पंदते, थोव < स्तोक।

(ख) स् + तालव्य के मूर्धन्य के सिवाय द्वितीय अक्षर ही रहता है—खलइ < स्खलित, थिअ < स्थित, फार < स्फार।

(ग) ण्ह < स्नः ण्हा इवि < स्नात्वा, किन्तु णेह < स्नेह भी होता है। स < स्म सरइ < स्मरति का सुमरइ रूप भी होता है।

शब्दान्तर्गत संयुक्त व्यंजन

शब्दान्तर्गत संयुक्त व्यंजन के अपभ्रंश में निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं :–

(1) एक प्रकार के संयुक्त व्यंजन का उदाहरण है = वुत्त, मुत्त, मुक्क < मुक्त, खग्ग < खड्ग मोॅत्तिय < मौक्तिक, नक्कंचर < नक्तंचर, सित्थ < सिक्थ, क + प = प्प वप्पइराअ **वाक्पतिराज,** दुद्ध < दुग्ध, मुद्ध < मुग्ध, ट + त = त्त–छत्तीसा < षट्त्रिंशत्, त् + फ = फ्फ–उप्फुल्ल < उत्फुल्ल, द् + ग = ग्ग–पोॅग्गल < पुद्गल, द् + भ = ब्भ सब्भाव < सद्भाव, प् + त = त्त–सुत्त < सुप्त आदि। वर्ग के प्रथम व्यंजन का द्वितीय व्यंजन सोष्म व्यंजन संयुक्त व्यंजन होता है – अक्खर, वग्घ, अच्छ, वज्झ, अट्ठ, अड्ठ, अत्थ, अद्घ, पुप्फ, सब्भाव आदि।

(2) ल्ह, म्ह, ण्ह का उदाहरण = कण्ह, पम्ह पल्हत्थ (सि० हे० 8/4/200) अपभ्रंश में ल्ह का उदाहरण नहीं के बराबर है।

(3) व्यंजन र (हे० 8/4/398–399) का उदाहरण केवल बोलियों में ही पाया जाता होगा। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में जो संयुक्त रकार का उदाहरण मिलता है, वह वस्तुतः प्रादेशिक बोली का ही प्रभाव है।

(4) **अनुनासिक व्यंजन**–अनुनासिक व्यंजन के पूर्व स्वर पर प्रायः अनुस्वार पाया जाता है। सिंचइ, छंमुह के रूप छम्मुह आदि।

संस्कृत पद्धति की प्रकृति के अनुसार अपभ्रंश में भी निम्नलिखित प्रक्रियायें होती हैं :–

(1) सावर्ण्य भाव (Assimilation)

(क) पूर्व सावर्ण्य भाव (Progressive Assimilation)

(ख) पर सावर्ण्य भाव (Regressive Assimilation)

(ग) विशिष्ट सावर्ण्य भाव (Special Assimilation)

सावर्ण्य भाव में संयुक्त व्यजंन के पूर्व दीर्घ स्वर हो तो ह्रस्व स्वर हो जाता है।

(2) असावर्ण्य भाव (Disassimilation)

(क) संयुक्त व्यंजन को अगर असंयुक्त करना हो तो पूर्व के ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है :—सहास < सहस्स < सहस्र। यह उदाहरण प्रायः अपभ्रंश में ही मिलता है, प्राकृत में बहुत कम।

(ख) संयुक्त व्यंजन के संयोग को दूर करने के लिए अनुस्वार स्वर को ह्रस्व ही रहने दिया जाता है :—मंत < मत्त **हे० 8/2/92।**

(क) पर सावर्ण्य भाव (Regressive Assimilation)

नाना वर्गों के संयुक्त व्यंजन की शेष ध्वनि में, संयुक्त व्यंजन में से पहला व्यंजन दूसरे व्यंजन का रूप धारण कर उससे मिल जाता है।

क् + त = त्त—जुत्त < युक्त, रत्त < रक्त, आसत्त < आसक्त, भत्ति < भक्ति, मो ॅत्तिय < मौक्तिक।

क् + प = प्प—वप्पइराअ < वाक्पतिराज

ग् + ध = द्ध—दुद्ध < दुग्ध, मुद्ध < मुग्ध, सिणिद्ध < स्निग्ध।

ग् + भ = ब्भ—पब्भार < प्रग्भार।

ट् + क = क्क—छक्क < षट्क।

ट् + त = त्त—छत्तीस < षट्त्रिंशत्।

ट् + प—छप्पय < षट्पद, छप्पण < * षट्पंचत्।

ट् + फ = प्फ—कप्फल < कट्फल,

ड् + ग = ग्ग—खग्ग < खड्ग, छग्गुण < षड्गुण।

ड् + ज = ज्ज—सज्जो < षड्ज, छज्जीव < षड्जीव।

ड् + द = द्द—छद्दिसिं < षड्दिशम्।

ड् + भ = ब्भ—छब्भुअ < षड्भुज।

ड् + व = व्व–छव्वीस < षड्विंशति ।

त् + क = क्क–उक्कण्ठा < उत्कण्ठा, बलक्कार < बलात्कार।

त् + ख = क्ख–उक्खअ, उक्खय < उत्खात।

त् + प = प्प–उप्पल, < उत्पल, सप्पुरिस < सत्पुरूष।

त् + फ = प्फ–उप्फुल्ल < उत्फुल्ल, उप्फाल < उत्फाल।

द् + ग = ग्ग–उग्गम < उद्गम, उग्गीरय < उद्गीरय, मोग्गर < मुद्गर।

द् + घ = ग्घ–उग्घाअ < उद्घात्।

द् + ब = ब्ब–बब्बुअ < बुद्बुद्, उब्बोह < उद्बोध।

द् + भ = ब्भ–सब्भाव < सद्भाव,

प् + त = त्त–सुत्त < सुप्त, पज्जंत < पर्याप्त।

ब् + ज = ज्ज–खुज्ज < कुब्ज,

ब् + द = द्द–सद्द < शब्द।

ब् + ध = द्ध–आरद्ध < आरब्ध, लद्ध < लब्ध।

(ख) **पूर्व सावर्ण्य भाव** (Progressive Assimilation)

(अ) यदि अनुनासिक संयुक्त व्यंजनों का दूसरा वर्ण हो तो यह अन्तिम वर्ण पहले आये हुए वर्ण में जुड़ जाता है अर्थात पूर्व वर्ण की तरह होकर द्वित्व हो जाता है।

ग् + न = ग्ग–अग्गि < अग्नि, उव्विग्ग < उद्विग्न, **पिशेल** के अनुसार उव्विण्ण < * उदवृण्ण भी होता है जो कि वैदिक धातु व्रद् या * वृद् धातु का रूप है जिसमें उद् उपसर्ग लगाया गया है। मौलिक ऋ वुण्ण और उव्वुण्ण रूप ठीक है। रुग्ग < रुग्ण।

त् + न = त्त–पत्ती < पत्नी, सवत्त < सपत्न, णीसवत्त < निः सपत्न, सवत्ती < सपत्नी, पअत्त < प्रयत्न, पप्पोदि < प्राप्नोति।

ग् + म = ग्ग–जुग्ग < युग्म, तिग्ग < तिग्म, वग्गि < वाग्मिन्, जुग्ग और तिग्ग का जुम्म और तिम्म रूप भी बनता है।

क् + म = प्प–रूप्पिणी < रूक्मिणी,

त् + म = प्प—अप्पण < आत्मन्, अप्प< अत्त, अज्झप्प < अध्यात्मन्

किन्तु ज् + ञ = ण्ण—आण < अण्णा < आज्ञा, साण < संज्ञा, जाण < ज्ञान, जण्ण < यज्ञ

(आ) सामान्य व्यंजन + अन्तस्थ—सामान्य व्यंजन का द्वित्व हो जाता है :—

क् + य = क्क—चाणक्क < चाणक्य, वक्क < वाक्य, पारक्क < पारक्य, शक्क < शक्य,

ख् + य = क्ख—अम्खाणअ < आख्यानक < सो ँक्ख < सौख्य।

ग् + य = ग्ग—जो ँग्ग < योग्य, वेरग्ग < वैराग्य, सो ँहग्ग < सौभाग्य,

च् + य = च्च—मुच्चइ < मुच्यते, वुच्चइ, वुच्चति < उच्यते।

ज् + य = ज्ज—जुज्ज्यते < युज्यते, भुज्जन्त < भुज्यमान।

ट् + य = ट्ट—टुट्टयति < त्रुट्यति, लोट्टइ < लुट्यति।

ड् + य = ड्ड—कुड्ड < कुड्य।

प् + य = कुप्पइ < कुप्यति, सुप्पउ < सुप्यताम्।

प् + ल = प्प—विप्पव < विप्लव

प् + र = प्प—विप्पिय अरउ < विप्रिय कारकः

क् + र = क्क—चक्क < चक्र,

व् + य = व्व—कव्व < काव्य

क् + व = क्क—पिक्क < पिक्व

क् + त =— क्क—सक्को < शक्तः सत्तो रूप भी होता है। मोक्कलडेण < मुक्त हस्तेन।

अपवाद—द् + व = व्व—उव्विग्ग < उद्विग्न, उव्वरिय < उद्वृत।

(इ) अनुनासिक व्यंजन + अन्तस्थ = अनुनासिक व्यंजन का द्वित्व।

न् + य = ण्ण—कण्ण < कन्या। ण + य = ण्ण—पुण्ण < पुण्य, हिरण्ण < हिरण्य।

(3) संयुक्त व्यंजन की विकार प्रक्रिया

संयुक्त व्यंजन की विकार प्रक्रिया खास होती है। उनमें से कुछ मुख्य ये हैं :—

क्ष—आदि के क्ष का ख, छ, झ, घ आदि विकार होते हैं :—

खवण < क्षपणक, **हे०** 8/4/377 खयगालि < क्षयकाले, लक्खेहिं < लक्षैः, जोअण लक्खु < योजन लक्षमपि, छण < क्षण, छार < क्षार, छीणं, छिज्जइ < क्षीणं **हे०** 8/4/336 वच्छहे < वृक्षात्, असुलहमेच्छण < असुलभमेक्षण, झिज्जइ < क्षीयते, घित्त < क्षिप्त।

शब्दान्तवर्ती हो तो क्ष का क्ख्, च्छ्, ज्झ् होता है :—कडक्ख < कटाक्ष, विक्खेव < विक्षेप, रिच्छ < ऋक्ष, तच्छ < तक्ष, विच्छोइय < विक्षोभित, उज्झर < उत्क्षर *, कभी-कभी ह भी होता है (क्ख > ख > ह) निहित्त < निक्षिप्त (हे० 8/2/17)।

(4) श्च, त्स, प्स् थ्य का अपभ्रंश में च्छ होता है—पच्छं < पथ्यं, मिच्छा < मिथ्या, मिच्छत्त < मिथ्यात्व, पच्छिमं < पश्चिमं, अच्छेरय < आश्चर्यक, मच्छर < मत्सर, उच्छव < उत्सव, उच्छंगि < उत्संगे, अच्छरा < अप्सरस्।

(5) ऊष्माक्षर + प्रथम अघोष व्यंजन संयुक्त व्यंजन के आदि में आवे तो द्वितीय व्यंजन को सोष्म अघोष व्यंजन हो जाता है। दो स्वर के बीच में संयुक्त व्यंजन आवे तो प्रथम अघोष को द्वितीय सोष्म व्यंजन बनाकर संयुक्त व्यंजन बना दिया जाता है।

दन्त्य व्यंजन के स्थान पर तालव्य व्यंजन होता है :—त्य, थ्य, द्य, र्य, य्य, ध्य को च्च, च्छ, ज्ज, ज्झ होता है। अच्चंत < अत्यन्त, पच्चक्ख < प्रत्यक्ष, मिच्छत्त < मिथ्यात्व, अज्जु < अद्य, उज्जाण <

उद्यान, मज्ज < मद्य, सेज्जा < शय्या, कज्ज < कार्य, मज्झ < मध्य, < जुज्झहो < युध्यतः।

प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी अनावश्यक व्यंजन द्वित्व की प्रवृत्ति पायी जाती है—काच > कच्च, यूथ > जुत्थ आदि। दीर्घ स्वर के ह्रस्व हो जाने के कारण व्यंजन पर बल पड़ता है और उसका द्वित्व हो जाता है। क्षति पूरक सानुनासिकता की भी प्रवृत्ति पायी जाती है—वयस्याभ्यः > वयंसिअहु, वक्र > वंक।

(6) सावर्ण्य भाव अथवा बोली की विशिष्टता (Dialectal peculiarity) में त्त, प्प, क्क का के रूप में उलट पुलट पाया जाता है। चुक्क < चुत्त < च्युत, जुप्पइ < जुत्तइ, लुक्क < लुत्त, < लुप्त, वुक्क < वुत्त < वक्त * < बोक्क < बुक्कइ (हे० 8/4/98), सवक्की < सवत्ती < सपत्नी, कप्पइ < कत्तइ < सं० √कृत (हे० 8/4/357)

(7) विसंस्थुल में स्थ को ढ होता है (हे० 8/4/ 436) विसंठुल < विसंस्थुल, संज्ञा शब्द के संयुक्त स्ट को ठ होता है—मुट्ठि < मुष्टि, दिट्ठी < दृष्टि, सिट्ठी < सृष्टि, समर्द, वितर्द, विच्छर्द, च्छर्दि, कपर्द, मर्दित के द को ड प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों में होता है—सम्मड्डो < संमर्दः, वियड्डी < वितर्दि, विच्छड्डो < विच्छर्द (हे० 8/4/387) छड्डहि, कवड्ड < कपड, सम्मड्डिओ < संमर्दितः।

(8) संयुक्त व्यंजन के घोष महाप्राण ध को घोष महाप्राण ढ हो जाता है। हे० 8/4/343—दड्ढा < दग्ध, विअडढ < विदग्ध, वुड्ढो < वृद्धा, आदि व्यंजन को छोड़कर संज्ञा शब्द के स्त को थ—हत्थहिं < हस्तैः, अत्थहिं < अस्त्रैः, सत्थहिं < शस्त्रैः, न्म, एवं ग्म का म हो जाता है यानी समीकरण के नियम के अनुसार परवर्ती शब्द की भाँति पूर्ववर्ती शब्द भी हो जाता है—जम्म < जन्म, कम्म < कर्म, वम्महो < ब्राह्मणः, जुम्मं < जुग्मं, तिम्मं < तिग्मं, पूर्ववर्ती समीरकण के नियम के आधार जुग्गं, तिग्गं रूप भी पाया जाता है। स्म को म्ह होता है—विम्हयि < विस्मये।

(9) संस्कृत के संख्या वाचक शब्दों का प्राकृत के बाद अपभ्रंश में प्रायः व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की गयी है—तिण्णि < त्रीणि, सत्तावीस

< सप्तविंश, पण्णासा < पंचाशत, पण्णरह < पंचदश, अट्ठावीश < अष्टाविंश, अट्ठतीस > अड़तीस (हिन्दी), छप्पण < षट्पंचत, चडसट्ठि < चतुः षष्ठि।

(10) अपभ्रंश में ष्ण को न्ह तथा म्ह भी होता है—कृष्ण < कान्ह, अस्मै < अम्ह, साथ ही साथ म्म भी होता है **हे०** 8/4/412 ब्रह्म < वम्म, ष्ण को ट्ठ तथा हव को म्भ होता है—विट्ठु < विण्हु < विष्णु, जिम्भा < जिह्वा का जीहा भी होता है, विंभिउ < विम्हिउ < विस्मित।

(11) प्राकृत तथा अपभ्रंश में संयुक्त व्यंजन के रेफ का प्रायः लोप हो जाता है—पुव्वं < पूर्व, निज्झर < निर्झर, दिग्घो < दीर्घः, दीह रूप भी होता है, कण्णिआर < कर्णिकार।

आदि वर्ण को छोड़कर यदि असंयुक्त व्यंजन हो तो प्रायः उसका द्वित्व हो जाता है—तैल < तेल्ल, वट < वड > वड्ड। ल वर्ण के बाद वाले वर्ण पर बलाघात हुआ करता है—किलन्नं > किलिन्नं क्लिष्ट > किलिट्ठं।

(12) ष्ट और ष्ठ को ट्ठ और स्ख को ख होता है—अट्ठारह < अट्ठारस < अष्टादश, इट्ठ < इष्ट, दिट्ठ < दृष्ट, काठ < कट्ठ < काष्ठ, दिट्ठि < दृष्टि, मुट्ठि < मुष्ठि, मिट्ठं < मिष्टं, दुट्ठ < दुष्ट, पणट्ठ < प्रनष्ट, खन्ध < स्कन्ध, खम्भ < स्कम्भ।

व्यंजन द्वित्व का सरलीकरण

अपभ्रंश में जहाँ प्राकृत की प्रायः सभी ध्वनियाँ पाई जाती हैं। वहाँ उनकी अपनी कुछ खास विशेषतायें भी हैं। उच्चारण सौकर्य को ख्याल में रखते हुए व्यंजन द्वित्व को सरलीकृत कर देने की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश में पाई जाती है। यही सरलीकरण की प्रवृत्ति नव्य भारतीय आर्य भाषा के विकास में सहायक रही है। व्यंजन द्वित्व के सरली करण का रूप दो तरह से पाया जाता है :—

(1) पूर्ववर्ती स्वर का दीर्घीकरण करना

(2) पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घीकरण के बिना ही व्यंजन का सरली करण बनाना।

पहली प्रक्रिया में अक्षर भार की (Syllabic-weight) रक्षा के लिये पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ बना देते हैं। इसका उदाहरण **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में यत्र तत्र उपलब्ध होता है :–

जासु < जस्सु < यस्य, तासु < तस्सु < तस्य, कहीजे < कहिज्जइ < कथ्यते, करीजे < करिज्जइ < कृयते, रूसइ, दीसइ < दिस्सइ, णीसंक < निस्संक, वीस आदि।

द्वितीय प्रक्रिया में व्यंजन द्वित्व को सरलीकृत तो कर दिया जाता है किन्तु उसके पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ नहीं किया जाता। इसके भी उदाहरण **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में उपलब्ध होते हैं :–

(अ) **जसु** केरअ हुंकार डएँ–जसु < यस्य

(आ) असइहिं हसिउँ **निसंकु**–निसंकु < निस्संकं

(इ) **तसु** हउँ कलि जुगि–तसु < तस्य

लखइ –लक्खइ < लक्ष्यते।

ये प्रवृत्तियाँ नव्य भारतीय आर्य भाषा के आगमन की परिचायिका हैं। आधुनिक हिन्दी में बहुत से तद्भव शब्दों का दीर्घीकरण नहीं होता। सच < सत्य, सव < सर्व आदि।

संदर्भ

1. पाणिनि अष्टाध्यायी–ऋतोरण 5/1/104, ऋत्यकः 6/1/124
2. पा० अष्टा०–ऋत इद्धातोः 7/1/100
3. पा० अष्टा०–ऋत उत् 6/1/107
4. पा० अष्टा०–ऋतोरीयङ् 3/1/29
5. स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे 8/4/329
6. पिशेल – प्राकृत व्याकरण 337, उद्धृत **हिस्टारिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश** पृ० 49
7. स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे। 8/4/329 हे०।
8. स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ 8/3/329 हेम०

9. एल० पी० तेस्सितोरी, नामवर सिंह द्वारा अनूदित **पुरानी राजस्थानी** पृ० 24
10. स्वरस्योद्वृत्ते 8/1/8
11. क ग च ज त द प य वा नां प्रायो लुक् 8/1/177
12. पा०—आद्गुणः 6/1/84
13. पा०—अकः सवर्णे दीर्घः 6/1/97
14. पा०—एडि. पररूपम् 6/1/91
15. पा०—एचोऽवायावः 6/1/75
16. एल० पी० तेस्सि तोरीः नामवर सिंह द्वारा अनूदित **पुरानी राजस्थानी** पृ० 27।
17. क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः—**प्राकृत प्रकाश** 2/2
18. ख घ थ ध फ भां हः—**प्रा० प्र०** 2/27
19. क ग च ज त द प य **वाँ** प्रायोलुक्—हेम० 8/1/177
20. लुप्त य र व श ष स दीर्घः—हे० 8/1/43
21. ख घ थ ध फ भां हः—हे० 8/1/187
22. **प्राकृत पैंगलम्** भाग 2, पृ० 161—डा० भोलाशंकर व्यास।
23. डा० भोला शंकर व्यास—प्रा० पैं०—भाग 2
24. ब्लॉक एल—**लण्डो आर्यन** पृ० 61-64 (अपभ्रंश पाठावाली से उद्धृत)
25. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 382 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद।
26. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 241
27. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 384 बिहार राष्ट्रभाषा परिषद।
28. अभूतोऽपि क्वचित्। हे० 8/4/399 अपभ्रंशे क्वचिदविद्यमानोऽपि रेफो भवति।
29. पं० बेचर दास **प्राकृत भाषा** पृ० 48-49

अष्टम अध्याय

रूप विचार

अपभ्रंश जिस कारण अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, प्राकृत तथा आधुनिक भाषा से उसकी भिन्नता परिलक्षित होती है—वह है उसकी रूप रचना का विधान। रूप रचनात्मक विकास का महत्व ध्वन्यात्मक विकास से कहीं अधिक महत्वपूर्ण होता है, किन्तु इस रूप परिवर्तन का मूल कारण ध्वनि परिवर्तन ही होता है। जैसा कि **डॉ० बेचरदास पण्डित**[1] ने कहा है—"जब ध्वनि व्यवस्था पलटती है, तब अपने आप व्याकरण व्यवस्था भी पलटती है। जब कोई एक वर्ण पलटता है, तब जहाँ जहाँ वह वर्ण आयेगा वहाँ सब जगह पलटा होगा, और यह परिवर्तन सारे व्याकरण तन्त्र को भी पलटा देगा। इस दृष्टि से यदि हम प्राकृतों के व्याकरणी तन्त्र पर दृष्टिपात करेंगे तो मालूम होगा कि उसके परिवर्तित व्याकरणी तन्त्र का सारा आधार उसके परिवर्तित ध्वनि तंत्र पर ही है।" प्राकृत में अन्त्य व्यंजन के लोप से, व्यंजनान्त शब्द नहीं होते, अपभ्रंश में भी व्यंजनान्त नहीं पाया जाता है। इस परिवर्तन से शब्द रूपों में भी परिवर्तन आ गया। संस्कृत के शब्द रूपों की विभिन्नता की जगह प्राकृत तथा अपभ्रंश में मुख्यतया अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त वाले शब्द रूपों का प्रचलन हुआ। अन्त्य स्वर के ह्रस्व दीर्घत्व के परिवर्तन होने से (Length of the final Vowels) अपभ्रंश के शब्द रूपों में ह्रस्व दीर्घ का भेद नष्ट हो गया।

ध्वनि परिवर्तन के कारण ऐ का ए और औ का ओ वर्णों पर आधारित जितनी भी व्याकरणी प्रक्रियायें थीं उन सब पर प्रभाव पड़ा, और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। यही कारण है कि मध्य भारतीय आर्य भाषाओं में द्विवचन का अभाव हो गया। क्योंकि औ का ओ हो जाने

के कारण प्रथमा एक वचन और द्विवचन में कोई भेद नहीं रहा। फलतः द्विवचन को अनावश्यक समझ कर उसे समाप्त कर दिया गया। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में नपुंसक लिंग के अभाव का कारण यही ध्वनि परिवर्तन ही है। अपभ्रंश के सभी शब्द इसीलिये स्वरान्त होते हैं तथा उनके अन्त में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ स्वर ध्वनियों में से कोई एक ध्वनि पाई जाती है।[2] अपभ्रंश में तीन लिंग होते हैं अ, इ, उ स्वर ध्वनियों अन्तवाले शब्द तीनों लिंगों में होते हैं। आकारान्त, ईकारान्त, और ऊकारान्त वाले शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं।

मध्य भारतीय आर्यभाषा में व्यंजनान्त शब्दों का अभाव हो गया था। किन्तु **पिशेल**[3] महोदय का कथन है कि कहीं-कहीं व्यंजनान्त शब्द भी दीख पड़ता है। अपभ्रंश में त्, न्, स् व्यंजनान्त शब्दों का अवशिष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है–बंभाण < ब्रह्माण < रायाणो < राजानः, वइणो < व्रतिनः, अर्धमागधी का अवशिष्ट प्राकृत में और उससे अपभ्रंश में आया। व्यंजनान्त शब्द दो प्रकार से उपलब्ध होते हैं–(1) कभी अन्त्य व्यंजन को लोप कर दिया जाता है, मण < मानस, जग < जगत्, अप्प < आत्मन्, मणहारि < मनोहारिन् (2) कभी कभी व्यंजनान्त शब्द को अकारान्त भी कर दिया जाता है–जुवाण < युवन्, आउस < आयुष्, अप्पण < आत्मन्। स्त्रीलिंग में आकारान्त को इकार भी हो जाता है। (3) ऋकारान्त शब्दों के ऋ का अर् वाला रूप भी पाया जाता है। पियर < पितृ, भायर < भ्रातृ, भत्तार < भर्तृ, सस < स्वसृ, माय, माइ < मातृ, भाइ < भ्रातृ (4) अत्–अन्ती–वर्तमान कृदन्त का वत् अन्ती नाम वाले शब्द के अन्त को वन्त भी हो जाता है मत का मन्त और वन्त दोनों होता है। कितनी बार प्राकृत के अनुसरण पर त् का रूप भी पाया जाता है–हसंतो, पढंतो, पवसन्त आदि। स्त्रीलिंग में इसके अन्ती रूप भी पाये जाते है :– संती (जैन महा०), अपावन्ती < अप्राप्नुवती हुवंती, पेक्खंती, गच्छंती आदि। वंत < सं० वत (विशेषण बोधक) पुणवंत < पुण्यवत्, गुणवंत < गुणवत्। वंति < सं० वत्+ई (स्त्रीलिंग), गुणवंति < गुणवती। (5) कभी-कभी स्त्रीलिंग वाले आकारान्त तथा ईकारान्त शब्द के अन्त्य स्वर ह्रस्व भी हो जाता

है–कील < क्रींड़ा, सियय < सिकता, पडिम < प्रतिमा, पुज्ज < पूजा, मालइ < मालती, सयलिंघि < सौरंध्री, किंकरि < किंकरी, जिंभ < जिह्वा। बहुत बार आकारान्त ह्रस्व इकार भी होता है, णिसि < निशा, कहि < कथा।

लिंग परिवर्तन

उपरोक्त शब्द रूपों में ध्वनि परिवर्तन के कारण अपभ्रंश में लिंग परिवर्तन पाया जाता है। लिंग की व्यवस्था नहीं पायी जाती। यद्यपि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में कभी कभी लिंग की अव्यवस्था पायी जाती थी। पुरूष के लिये स्त्रीलिंग और स्त्रीलिंग के लिये पुल्लिंग का प्रयोग होता था, स्त्री 'दारा' शब्द का प्रयोग पुल्लिंग में व्यवहृत होता था। चेतन, कलत्र शब्दों का प्रयोग नपुंसक लिंग में होता था। **डॉ० तगारे**[4] के अनुसार अपभ्रंश में लिंग की अव्यवस्था का कारण पालि, प्राकृत और अशोक के शिलालेख आदि हैं जिनमें लिंग विषयक भ्रम पाये जाते हैं। अपभ्रंश के समय में लिंग विषयक संदेह अधिक हो गया। इस लिंग अव्यवस्था का कारण प्रातिपदिक शब्द रूपों में एकीकरण का साम्य था, अ, इ, उकारान्त प्रातिपदिक रूपों में बहुत कुछ समानता होने के कारण सभी लिंगों में एक ही प्रकार की विभक्तियाँ जुटने लगीं। इस कारण प्रातिपदिक शब्द रूपों से सहसा लिंग भेद का ज्ञान नहीं हो पाता, पुल्लिंग–'करि गण्डाइँ < करिगंडान्, गय–कुम्भइं < गज-कुंभान्, स्त्रीलिंग–रेहइं < रेखा, नपुं०--कमलइं < कमलानि।

आ, ई, ऊकारान्त शब्द अपभ्रंश में प्रायः स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं। **पी० एल० वैद्य**[5] के अनुसार इ, ई, उ तथा ऊकारान्त मति, तरूणी, धेनु और वधू आदि शब्द स्त्रीलिंग के हैं जिसका रूप मुद्धा के समान चलता है। परन्तु इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। देखा जाता है कि इकारान्त, उकारान्त शब्द रूप पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग में भी पाये जाते हैं। लिंग सन्देह का मूल कारण है कि हम अपभ्रंश में नियमानुसार सारी पद्धति देखना चाहते हैं। वस्तुतः अप्रभश में भी लिंग

व्यवस्था है किन्तु लिंग विधान की कड़ाई उस प्रकार नहीं है जैसी कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में थी। नियम की कड़ाई के ढीला हो जाने के कारण **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश में लिंग को अतन्त्र बताया[6] (8/4/445) पुल्लिंग का नपुंसक लिंग–गंय कुभइं < गजकुंभान हो गया।

अब्भा लग्गा डुंगरिहिं, पहिउ रडन्तउ जाइं में नपुंसक अब्भा का प्रयोग पुल्लिंग में हुआ है। **णाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरुल्हसिउं खन्धस्सु** दोहे में नपुंसक अन्त्र शब्द का स्त्री० में डी प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार **सिरि चडिआखन्तिफ्फलइंपुणुडालइ मोडन्ति** में स्त्रीलिंग वाचक डाल शब्द का नपुं० में इं विभिक्ति हुई है।

पिशेल[7] का कहना है कि अपभ्रंश में अन्य प्राकृत बोलियों की अपेक्षा लिंग निर्णय अत्यधिक डांवाडोल है जैसा कि **हेमचन्द्र** ने स्वतः कहा भी है। किन्तु यह सर्वत्र पूर्ण अनियमित नहीं है। पद्य में छन्द की मात्राएँ और तुक का मेल खाना लिंग का निर्णय करता है–"जो पाहसि सो लेहि" < यत् प्रार्थयसे तत् लभस्व, मत्ताइं < मात्रा, णिच्चिन्त हरणाइँ < निश्चिन्ताः हरिणाः, अम्हाइं, अम्हे < अस्मे है।

वचन

प्रायः सभी भाषाओं में एक वचन तथा बहुवचन का ही प्रयोग है, पर प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में तीन वचन थे। एक वचन, द्विवचन और बहुवचन। द्विवचन का आविर्भाव किन्हीं वस्तुओं को समान और साथ-साथ देखने से हुआ होगा जैसे दो हाथ, दो पैर, दो आँख आदि। धीरे-धीरे निरन्तर साथ रहने वालों पर भिन्न वस्तुओं अथवा जीवों के लिये भी इस वचन का प्रयोग होने लगा होगा। **पाणिनि** कालीन संस्कृत में द्विवचन रूढ़ होकर एक वचन तथा बहुवचन की भाँति महत्वदायक हो गया। वैदिक संस्कृत में द्विवचन का उतना महत्व नहीं था। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के आरम्भ होते ही द्विवचन का महत्व समाप्त हो गया। लोप होने का कारण यही हो सकता है कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता अस्वीकृत हो गयी। **पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** ने

पुरानी हिन्दी में. लिखा है कि पालि से लेकर अपभ्रंश तक तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषा हिन्दी आदि में द्विवचन का जो अभाव पाया जाता है उसका कारण यह है कि वैदिक जन भाषा में ही द्विवचन का अभाव था। परिनिष्ठित संस्कृत के रूढ़बद्ध हो जाने के कारण उसका स्वाभाविक विकास रुक गया और उसके स्थान पर वैदिक जनभाषा से विकसित जनभाषाएँ चल पड़ीं। स्वभावतः उन जनभाषाओं में भी द्विवचन का अभाव हो गया। किन्हीं दो वस्तुओं का बोध कराने वाले संख्या वाचक दो का प्रयोग करके अनेक वाचक बहुवचन से काम चलाया गया। **पिशेल**[8] का कहना है कि द्विवचन के रूप प्राकृत में केवल संख्या शब्दों में रह गये हैं, दो < द्वौ, औ दुवे तथा वे < द्वे और कहीं-कहीं ये रूप नहीं भी मिलते। पूरे के पूरे लोप हो गये हैं। संज्ञा और क्रिया में इनके स्थान पर बहुवचन आ गया है जो स्वयं संख्या-शब्द दो के लिये भी काम में लाया जाता है—जैसे हत्था थरथरन्ति < हस्तौ थरथरयेते। कण्णे सु < कर्णयोः आदि।

शब्द रूप

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में शब्दों के दो विभाग होते थेः—(1) अजन्त (2) हलन्त। 'अजन्त' शब्दों में ह्रस्व तथा दीर्घ—अ, इ, उ तथा ऋकारान्त शब्द हैं। 'हलन्त' शब्द अन्तिम प्रकृत अथवा प्रत्ययान्त व्यंजन के अनुसार अनेक प्रकार के हैं :—जैसे च्, क्, थ्, द्, ध्, स्, म्, श् आदि अन्त में होने वाले तथा वत्, तात्, उत्, वत्, त्, अन्त्, मन्त् वन्त्, अन्, एन्, मिन्, विन्, अर्, तर् आदि प्रत्ययान्त शब्द थे। इन शब्दों के साथ संस्कृत की आठों विभक्तियाँ जुटती थीं और शब्द रचना होती थी। प्राकृत में हलन्त शब्द समाप्तप्राय हो गये। अजन्त शब्दों का बाहुल्य हो गया। परिनिष्ठित संस्कृत की भाँति प्राकृत में शब्द रूपों की वह जटिलता नहीं रह गयी थी। शब्द रूपों में एक वचन और बहुवचन का ही प्रयोग होता था। चतुर्थी विभक्ति का रूप समाप्त हो गया था। संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत के शब्द रूपों में एकरूपता तथा सरलता दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में जहाँ पर एक विभक्ति के लिये एक ही

रूप निर्धारित था वहीं पर अब एक विभक्ति के एक वचन या बहुवचन के लिये कई रूप बन चले।

अपभ्रंश में आते-आते विभक्ति रूपों में काफी सरलता हो गयी। विभक्तियों का स्थान शनैः-शनैः परसर्गों ने लेना आरम्भ कर दिया। **डॉ० उदय नारायण तिवारी**[9] के शब्दों में 'अपभ्रंश' की निजी विशेषताएँ शब्द रूपों में अधिक स्पष्ट होती हैं। ध्वनिविकार में अपभ्रंश ने प्राकृत की परम्परा को आगे बढ़ाया, परन्तु शब्द रूपों के निर्माण में मध्य भारतीय आर्य भाषा के सरलीकरण एवं एकीकरण की प्रवृत्तियों को विकसित करने के साथ-साथ इसने कुछ अपनी नवीन प्रवृत्तियाँ प्रदर्शित कीं जो कि अर्वाचीन आर्य भाषाओं में पूर्णतया विकसित हुईं।

(1) अपभ्रंश ने अन्तिम व्यंजन का लोप कर सभी हलन्त प्रातिपदिकों को स्वरान्त बना लिया, यथा–विद्युत् > विज्जु, आत्मन् > अप्प, हिन्दी आप, जगत् > जग, मनस् > मण > मन, युवन् > जुब्बाण, मणहारि < मनोहारिन् आदि। व्यञ्जनान्त शब्दों का स्वरान्त में परिवर्तन कई प्रकार से हुआ होगा।

(2) कभी कभी अन्त्य व्यंजन में अ अकारान्त नाम भी आता है। स्त्रीलिंग आ को इ भी होता है। जुवाण < युवान्, आउस < आयुष्, अप्पण < आत्मन्।

(3) ऋकारान्त नामों का ऋ < अर स्वरान्त वाले रूप भी पाये जाते हैं–पियर < पितृ, भायर < भ्रातृ, भत्तार < भर्तृ, सस < स्वसृ, माय, माइ < मातृ, भाइ < भ्रातृ।

(4) अत्-अन्ती वर्तमान कृदन्त का वत्। अन्ती नाम के अन्त को वन्त भी हो जाता है। मत् का मन्त और वन्त दोनों होता है। कितनी बार प्राकृत के अनुसरण पर त् का रूप भी आता है। इस प्रकार के कृदन्तज हलन्त शब्द अपभ्रंश में स्वरान्त होते हैं। भयव < भगवत्।

(5) स्त्रीलिंग आकारान्त, ईकारान्त नाम के अन्त्य स्वर का ह्रस्व हो जाता है। कीळ, कीड < क्रीड़ा, सियय < सिकता, पडिम < प्रतिमा, पुज्ज < पूजा, मालइ < मालती, सयलिंघि < सौरन्ध्री, किंकरि < किंकरी, जिंभ < जिह्वा। कभी-कभी आ का इ भी हो जाता है, णिसि

< निशा, < कहि < कथा। ह्रस्वीकरण प्रवृत्ति के अपवाद भी मिलते हैं यथा–एह कुमारी, एहो नरु० (हेम० 8/4/362) ढोल्ला मइँ तुहुं वारिया०, विट्टीए० (हेम० 8/4/329)।

अ, इ, उकारान्त प्रातिपदिकों में भी अकारान्त प्रातिपदिकों की ही *प्रधानता रही और इ, उकारान्त प्रातिपदिकों के कारक रूप बनाने* के लिये इनके साथ अकारान्त प्रातिपदिकों की विभक्तियों का व्यवहार किया जाने लगा। यथा–तृतीया एक वचन में देवें < देवेन, अग्गिएँ < अग्निना, महुए < मधुना इत्यादि।

संस्कृत की विभक्तियों का पालि के बाद प्राकृत में ह्रास होने लगा। पालि में ही चतुर्थी और षष्ठी का भेद मिट गया था, अपभ्रंश में तो विभक्तियों का बहुत ही अधिक ह्रास हो गया था। प्राकृत में तो चतुर्थी और षष्ठी का भेद भाव दिखाई देता है (वररुचि–प्राकृत प्रकाश 6/64/, चंड 2/13) यह भेद अपभ्रंश में भी कभी-कभी दिखाई देता है।[10] किन्तु द्वितीया और चतुर्थी एक सा दिखाई देता है। सप्तमी और तृतीया का एक वचन और बहुवचन में कई बार समता सी दिखाई देती है। प्रथमा और द्वितीया का भेद भाव मिट गया। पंचमी और षष्ठी के एक वचन में एकरूपता हो चली।

इस प्रकार अपभ्रंश अजन्त पुल्लिंग में निम्नलिखित विभक्तियाँ पायी जाती हैं।

कारक	**एकवचन**	**बहुवचन**
कर्ता	(सि)०, आ, उ, ओ	(जस्)०, आ
कर्म	(अम्)०, आ, उ,	(शस्)०, आ
करण	(टा) ए, एं, एण	(मिस्) हि, एहिं
सम्प्रदान	०	०
अपादान	(ङसि) हे, हू	(भ्यस्) हुं
सम्बन्ध	(ङस्) सु, हो, स्सु	(आम्) हं,०
अधिकरण	(ङि) ए, इ	(सुप्) हिं
सम्बोधन	(अ)०,आ, उ, ओ	०, आ, हो

उपर्युक्त सारी विभक्तियाँ संस्कृत एवं प्राकृत की भाँति प्रकृति से मिलकर कारक के अर्थों को व्यक्त करने के लिये शब्द रूपों में व्यक्त होती हैं :–

(क) कर्त्ता प्रथमा एक वचन में पुत्त+सि विभक्ति के स्थान पर उ[11] आदेश पुत्तु रूप बनता है। ओ[12] का रूप पुत्तो, तथा पुत्त एवं पुत्ता[13] रूप भी होगा।

बहुवचन में प्राकृत की भाँति पुत्त, पुत्ता, रूप होगा।

(ख) कर्म० द्वितीया एक वचन पुत्त+अम् के स्थान पर उ आदेश होकर पुत्तु रूप बनता है। भाषा के सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्रथमा एक वचन की तरह पुत्त तथा पुत्ता रूप भी मिलता है।

बहुवचन में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण शस् का लोप होकर पुत्त और पुत्ता रूप बनता है।

(ग) करण० तृतीया एक वचन पुत्त+टा के स्थान पर एकार होकर पुत्ते[14] रूप बनता है। इसके एं तथा एण का रूप पुत्तें तथा पुत्तेण[15] भी मिलता है। यहाँ पर संस्कृत के अनन्तर प्राकृत में एण के ण उच्चारण के स्थान पर अनुस्वारात्मक प्रवृत्ति के आ जाने के कारण एण का एं हो सकता है। **डॉ० तगारे** के अनुसार यह रूप उत्तर पूर्वी भारतीय है। उत्तर पश्चिम भारत में ण का उच्चारण अभी भी सुरक्षित है। पुत्ते में संस्कृत एण का ण अक्षर न या अनुस्वार होकर बाद में विनष्ट हो गया। यह प्रवृत्ति मुखोच्चारण सरलता की ही है। इस रूप की सरलता की प्रवृत्ति क्रमशः इस प्रकार रही होगी–पुत्तेण > पुत्तें > पुत्ते। ये तीनों रूप अपभ्रंश में पाये जाते हैं।

बहुवचन में पुत्त + भिस् को हिं होकर अ को ए करके पुत्तेहिं[16] तथा पुत्तहिं रूप बनता है। संस्कृत में अजन्त शब्दों के बाद भिस् को ऐः हो जाता है, किन्तु इकारान्त, उकारान्त शब्दों के परे भिस् को भिः रूप होता है। प्राकृत में उसी भिस् का एहि, एहिं तथा एहिँ रूप बना; अपभ्रंश में उसी प्राकृत एहिं का विकसित रूप एहिं तथा हिं एवं हि प्रयोग मिलता है। वस्तुतः हि एवं एहिं के रूप में आने का मूल बीज

संस्कृत भिस् का ऐः रूप है। प्राकृत में विसर्ग ध्वनि का उच्चारण ह की तरह होने लगा तथा ऐ स्वर ए स्वर में परिणत हो गया। वही रूप विकसित होकर हि एवं एहिं के रूप में परिणत हो गया। अपभ्रंश में अनुस्वार की प्रवृत्ति करण के बहुवचन से लेकर अधिकरण के बहुवचन तक पायी जाती है। प्राकृत में भी यह अनुस्वारात्मक प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका विकास क्रम इस प्रकार हो सकता है–सं० पुत्रैः > प्रा० पुत्तेहि > पुत्तेहिं०, अप० पुत्तेहिं > पुत्तहिँ > पुत्तहि। अधिकरण के बहुवचन में भी पुत्तहिं रूप बनता है। कुछ विद्वानों ने संस्कृत स्मिन् से भी हिं की व्युत्पत्ति मानी है।

(घ) सम्प्रदान० चतुर्थी विभक्ति का अपभ्रंश में सर्वथा अभाव है। प्राकृत में भी चतुर्थी विभक्ति नहीं होती। चतुर्थी का बोध सम्बन्ध कारक से होने लगा। संस्कृत में भी कारकों के प्रयोग में अपवाद होता था। सम्प्रदान कारक प्रेरणार्थक भावों में प्रयुक्त होता है। उसका प्रयोग दानादि क्रिया में अधिक होता था। प्राकृत में आकर संस्कृत की वह प्रवृत्ति विनष्ट सी हो गयी। फलतः अपभ्रंश ने भी चतुर्थी का कोई रूप ग्रहण नहीं किया और उसका स्थान षष्ठी ने ले लिया।

(ङ) अपादान० पञ्चमी एक वचन पुत्त+ङसि[17] के स्थान पर क्रम से हे तथा हू आदेश होता है–पुत्तहे, पुत्तहू। सं० पुत्तात् होता है। प्राकृत सुन्तो तथा हिन्तो से हे, हू का विकास होगा।

बहुवचन पुत्त + भ्यस[18]=हुं से पुत्तहुं रूप बनता है। सं० पुत्रेभ्यः, प्राकृत में **हेमचन्द्र** के अनुसार 8 रूप होता है–पुत्तत्तो, पुत्ताओ, पुत्ताउ, पुत्तेहि, पुत्ताहिंतो, पुत्तासुंन्तो, पुत्तेसुंतो। इसी अन्तिम सुन्तो से हुं का विकास अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

(च) सम्बन्ध षष्ठी एक वचन में पुत्त+ङस् विभक्ति के स्थान पर सु, हो स्सु आदेश होकर-पुत्तसु, पुत्तहो, पुत्तस्सु[19] रूप बनता है। सं० पुल्लिंग–पुत्रस्य > प्रा० पुत्तस्स > का विकसित रूप अपभ्रंश में उकारात्मक प्रवृत्ति होने के कारण स्सु, सु तथा इसीसे हो रूप भी बनता है।

बहुवचन में पुत्त + आम् विभक्ति को हं[20] होकर रूप पुत्तहं होगा। संस्कृत में पुत्राणाम्, प्राकृत में पुत्ताण तथा पुत्ताणं होता है। अपभ्रंश हं की रचना संभवतः पंचमी हुं के तुक पर की गयी हो। या प्राकृत णं का अपभ्रंश में केवल अनुस्वार अवशिष्ट बचा और महाप्राण ह की श्रुति हुई।

(छ) अधिकरण सप्तमी एक वचन में पुत्त + ङि के स्थान पर ए[21] तथा इ आदेश होकर पुत्ते, पुत्ति रूप होता है। सं० पुत्रे, प्राकृत में पुत्ते, पुत्तम्मि रूप बनता है। अपभ्रंश में इसी म्मि का उच्चारण सौकर्य के कारण इ रूप बना। इसका विकसित रूप इस प्रकार हो सकता है–सं० पुत्रे > प्रा० पुत्ते, पुत्तम्मि > अप० पुत्ते > पुत्ति।

बहुवचन में पुत्त + सुप् विभक्ति के स्थान पर हिं आदेश होकर पुत्तहिं रूप बनता है। सं० पुत्रेषु > प्रा० पुत्तेसु और पुत्तेसुं होता है। अपभ्रंश में सुं का हुं होना चाहिये था, पर तृतीया का सप्तमी के साथ संबन्ध होने के कारण यहाँ सु का हिं रूप बना। संस्कृत सप्तमी एक वचन स्मिन् से स्मि > ह्मि से हिं की कल्पना की जा सकती है।

(ज) सम्बोधन के एक वचन में सारा रूप कर्ता कारक एक वचन की भाँति होता है, पुत्त, पुत्ता पुत्तु। बहुवचन में भी प्रथमा की तरह रूप होता है। एक अधिक रूप 'हो' भी होता है–पुत्ता, पुत्ता, पुत्तहो।

अकारान्त पुल्लिंग शब्दों का रूप

एक वचन	बहुवचन
प्रथ०–पुत्तु, पुत्तो, पुत्त, पुत्ता	पुत्त, पुत्ता
द्वि०–पुत्तु, पुत्तो, पुत्त, पुत्ता	पुत्त, पुत्ता
तृ०–पुत्तेण, पुत्तें, पुत्ते	पुत्तेहिं, पुत्तहि
चतु०–०	०
पञ्च०–पुत्तहे, पुत्तहु	पुत्तहुँ

षष्ठी०–पुत्तस्सु, पुत्तसु, पुत्तहो, पुत्त	पुत्तहं, पुत्त
सप्तमी–पुत्ते, पुत्ति	पुत्तहो, पुत्ता, पुत्त
सम्बो०–पुत्त, पुत्ता	पुत्तहो, पुत्तहु

(i) ऊपर के रूप पुत्तो, पुत्तं, पुत्ताणं, पुत्तम्मि रूप महाराष्ट्री प्राकृत में भी है। (ii) पंचमी, षष्ठी विभक्ति के भ्रम भी हो सकता है। किन्तु सामान्यतया ये रूप अपभ्रंश के काव्यों में भी पाये जाते हैं। (iii) षष्ठी के प्रयोग में कभी अन्तर भी पाया जाता है। **पेक्खंतहं रायहं मुच्छ गय,** सप्तमी के अर्थ में–**विमले विहाण ए कियए पयाण ए उयय इरि सिहरे रवि दीसइ। पइं जीवंत एण महु एही भइय अवत्था।** यहाँ सप्तमी के स्थान पर तृतीया का योग है। इससे पता चलता है कि तृतीया और सप्तमी में भ्रम होने का सन्देह बना रहता है। (iv) ऊपर के रूपों में नासिक्यता (Nasality) कठिनाई से दीखती है। ऍ का इ, ओॅ का उ रूप भी सामने आने लगा। (v) कण्ह और सरह के दोहा कोशों में कुछ विशिष्ट रूप दिखाई देते हैं। उनमें (Dialectal Peculiarities) आधुनिक बोली के कुछ विशेष चिह्न भी दृष्टिगोचर होते हैं। (vi) कभी कभी छन्द के मुताबिक विभक्ति के प्रत्ययों को छोड़ भी दिया जाता है–**जिण जम्मण अमर पराइय। सरि पवाह मिहुणइं णासंतइ** इत्यादि। इस प्रवृत्ति ने आधुनिक आर्य भाषा को सरलीकरण की प्रवृत्ति की ओर प्रेरित किया है।

इकारान्त तथा उकारान्त रूप

प्रातिपदिक इकारान्त तथा उकारान्त अपभ्रंश पुल्लिंग के शब्द रूप उकारान्त की ही भाँति होते हैं, पर उनमें कुछ विशेष अन्तर भी है:–

	एकवचन	बहुवचन
(1)	कर्ता०–गिरि, गिरी, तरु, तरू	गिरि, गिरी, तरु, तरू
(2)	कर्म द्वि०–गिरि, गिरी, तरु, तरू	गिरि, गिरी, तरु, तरू

अपभ्रंश उकार बहुला भाषा है, पर कारक में उकार प्रत्यय अकारान्त शब्द के परे ही होता है। शेष नियम पूर्ववत् यहाँ भी होता है अर्थात इकारान्त, उकारान्त शब्दों में विभक्तियों का ह्रास होने लगा।

(3) करण तृतीया एक वचन में टा के स्थान पर एं, ण तथा अनुस्वार होकर–गिरिएँ, तरुएँ, गिरिण, तरुण एवं गिरिं तथा तरुं रूप बनता है। संस्कृत–गिरिणा, तरुणा, प्राकृत में भी गिरिणा, तरुणा रूप बनता है। अपभ्रंश में णा का ण रूप हो गया। एं रूप का उच्चारण अदन्त पुल्लिंग के तुक पर यहाँ भी हुआ। कुछ समय बाद उच्चारण लाघव के कारण एं[22] का ए रूप विनष्ट होकर अनुस्वार मात्र अवशिष्ट रहा।

बहुवचन में भिस् के स्थान पर हिं आदेश होकर–गिरिहिं, तरुहिं रूप बनता है। संस्कृत में–गिरिभिः तरुभिः होता है। प्राकृत में–गिरीहि, गिरीहिं, गिरीहिँ, तरुहि, तरुहिं, तरूहिँ रूप बनता है। अपभ्रंश में सभी रूप घिस गये। एकमात्र हिं रूप बचा रहा। संस्कृत भिः का प्राकृत में हि बना। अनुस्वार का आगमन भी हुआ। अपभ्रंश में सभी रूप विनष्ट होते होते हिं मात्र अवशिष्ट रहा।

(4) अपादान पञ्चमी में ङसि[23] के स्थान पर हे आदेश होकर गिरिहे, तरुहे रूप बनता है। संस्कृत में गिरेः, तरोः, प्राकृत में रूप गिरिणो, तरुणो, गिरित्तो, तरुत्तो, गिरिओ, तरुओ, गिरिउ, तरुउ, गिरिहिन्तो आदि रूप बनता है। अपभ्रंश में केवल एक हे विभक्ति बची रही। संभवतः प्राकृत हिन्तो का अवशिष्ट हि रूप, अपभ्रंश में हे के रूप में परिणत हो गया।

बहुवचन भ्यस् का रूप गिरिहुं, तरुहुं होता है, संस्कृत रूप गिरिभ्यः तरुभ्यः होता था, प्राकृत में इसका भेद–तो, ओ, उ, हिन्तो तथा सुन्तो है। यही सुन्तो सुं मात्र अवशिष्ट रहकर हुं[24] के रूप में अपभ्रंश में आया।

(5) सम्बन्ध षष्ठी ङस् के स्थान पर विकल्प करके हे आदेश होता है गिरिहे, तरुहे, दूसरे पक्ष में रूप होगा–गिरि, तरु।

बहुवचन आम् का हं, हुं आदेश विकल्प करके होगा–गिरिहुं तरुहुं, गिरिहं, तरुहं। प्रकृत रूप गिरि, तरु भी रहता है। ये रूप **पी० एल० वैद्य** के आधार पर दिये गये हैं।

(6) अधिकरण सप्तमी में ङि के स्थान पर हि आदेश करके गिरिहि, तरुहि रूप बनता है। संस्कृत में ङि का औ होता है। प्राकृत में म्मि होता है। अपभ्रंश में हि आदेश संभवतः म्मि का म्हि होकर हि, मात्र अवशिष्ट रहा।

बहुवचन सुप् के स्थान पर हुं आदेश गिरिहुं, तरुहुं रूप बना। यह रूप भी **पी० एल० वैद्य** के आधार पर है। **हेमचन्द्र** के अनुसार तो सुप् को हिं (हेम० 8/4/347) होना चाहिये। पर प्राकृत से समता करने पर हुं ही अधिक उचित है। प्राकृत सु, सुं, से, हुं होना सरल है।

(7) सम्बोधन का रूप प्रथमा की भाँति होता है। बहुवचन में हो रूप होगा।

	एक वचन	**बहुवचन**
प्रथमा –	गिरि, गिरी	गिरि, गिरी
द्वि० –	गिरि, गिरी	गिरि, गिरी
तृ० –	गिरिएं, गिरिण, गिरि	गिरिहिं
चतु० –	०	०
पञ्च० –	गिरिहे	गिरिहुं
ष० –	गिरि, गिरिहे	गिरि, गिरिहं, गिरिहुं
सप्त० –	गिरिहि	गिरिहुं
सम्बो० –	गिरि, गिरी	गिरि, गिरी, गिरिहो

स्त्रीलिंग

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा और प्राकृत के स्त्रीलिंग में आकारान्त शब्द प्रयुक्त होते थे, किन्तु वे ही शब्द अपभ्रंश में आकर अकारान्त हो गये।[25] इसका यह मतलब नहीं कि अपभ्रंश में आकारान्त

शब्द थे ही नहीं, लेकिन उसका स्थान प्रायः अकार ने ले लिया था। अतः स्त्रीलिंग के आकारान्त या अकारान्त शब्दों के रूपों में कोई अन्तर नहीं। अपभ्रंश में इनकी विशेषता सुरक्षित है। पर इनका अकारान्त स्त्रीलिंग के शब्दों की विशेषता उस प्रकार की नहीं है जैसी कि अकारान्त पुल्लिंग या नपुंसक लिंग के शब्द रूपों की, प्रत्येक कारक में होती है। **पिशेल**[26] का कहना है कि प्राकृत भाषाओं में कहीं कहीं इक्के-दुक्के और वे भी पद्यों में–इ तथा उ वर्ग के स्त्रीलिंग के रूप पाये जाते हैं जैसे भूमिसु और सुत्तिसु (§99)। अन्यथा–'इ और उ वर्ग के स्त्रीलिंग जिनके साथ–ई और ऊ वर्ग के शब्द भी मिल गये हैं, एक वर्ण वाले और अनेक वर्ण वालों में विभक्त हैं। इनकी रूपावली-आ में समाप्त होने वाले इन स्त्रीलिंग शब्दों से प्रायः पूर्ण रूप से मिलती है। **पी० एल० वैद्य**[27] के अनुसार अपभ्रंश के स्त्रीलिंग में जैसे आकारान्त शब्दों के रूप बनते हैं वैसे ही ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के भी रूप बनते हैं, इससे ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त का भी ग्रहण होता है। इनके शब्द रूप भी उन्हीं शब्दों की भाँति बनते हैं।

स्त्रीलिंग के विभक्ति चिह्न

	एकवचन	**बहुव०**
प्र० –	०	०, उ, ओ
द्वि० –	०	०, उ, ओ
तृ० –	ए (इ)	हिं
पं० –	हे (हि)	हु
सम्ब० –	हे (हि)	हु
अधि० –	हि	हिं

(1) **डॉ० तगारे** ने विकासात्मक दृष्टि से ध्यान देते हुए कहीं कहीं कुछ भिन्न विभक्तियों का नाम दिया है जो कि **हेमचन्द्र** के अनुकूल नहीं हैं। मुद्धा शब्द स्त्रीलिंग का परवर्ती अपभ्रंश में आ का ह्रस्व अ होता है।

कर्ता प्रथमा में मुद्धा + सि विभक्ति का लोप होकर रूप होगा मुद्ध या मुद्धा। प्राकृत में केवल दीर्घ मुद्धा होता है किन्तु अपभ्रंश में आ का अ भी होता है।

बहुवचन मुद्धा + जस् को उ तथा ओ-मुद्धाउ तथा मुद्धाओ रूप होगा। उ तथा ओ कर्ता एक वचन पुल्लिंग में होता है। किन्तु प्राकृत में भी स्त्रीलिंग के बहुवचन में उ तथा ओ होता है। यही रूप अपभ्रंश के स्त्रीलिंग में भी सुरक्षित है।

(2) द्वितीया में मुद्धा + अम् का लोप होकर मुद्ध, मुद्धा रूप बना। प्राकृत का अनुस्वार घिसते घिसते अपभ्रंश में अ मात्र अवशिष्ट रहा जो कि मुद्धा के आ में मिल गया या उस अ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। बहुवचन का रूप प्रथमा बहुवचन की भाँति ही होगा। प्राकृत में भी यही उ, ओ विभक्ति होती है। अतः अपभ्रंश में उसी का सुरक्षित रूप है।

(3) तृतीय–मुद्ध+ टा[28] के स्थान पर ए होकर रूप मुद्धए–होगा। **पी० एल० वैद्य** ने मुद्धइ रूप भी माना है। प्राकृत में टा के स्थान पर तीन प्रत्यय होते हैं–आअ, आइ, तथा आए। अपभ्रंश में केवल ए अवशिष्ट रहा।

बहुवचन मुद्ध + भिस् के स्थान पर हिं होकर मुद्धहिं रूप बनता है। पुल्लिंग अकारान्त में एहिं तथा हिं होता है। प्राकृत हि, हिं, हिँ, का हिं मात्र अवशिष्ट रहा।

(4) पञ्चमी में मुद्ध+ ङसि के स्थान पर हे[29] मुद्धहे रूप बनता है। मुद्धहि रूप भी बन सकता है। इसका विकास क्रम प्राकृत हिंतो से किया जा सकता है–मुद्धाहिंतो > मुद्धाहिं > मुद्धहि > मुद्धहे।

बहुवचन मुद्ध + भ्यस की जगह हु[30] होकर मुद्धहु रूप बना। प्राकृत के स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों की कई विभक्तियों में सुन्तो भी है। उसी का विकसित रूप अपभ्रंश पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग में हुं एवं हु है।

(5) सम्बन्ध–मुद्ध + ङस् के स्थान पर हे होकर मुद्धहे रूप बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीलिंग के पंचमी एवं षष्ठी में कोई भेद नहीं रह गया था। दोनों जगह हु=मुद्धहु रूप होता है। यह अपभ्रंश का अपना रूप है। यहाँ प्राकृत के रूपों से अपभ्रंश के रूपों में कोई समता नहीं है। प्राकृत षष्ठी बहुवचन में ण तथा णं विभक्ति होती है जो कि संस्कृत णाम् से बना है।

(6) अधिकरण–मुद्ध+ ङि विभक्ति के स्थान पर हि[31] आदेश होकर मुद्धहि रूप बनता है। यह भी अपभ्रंश का अपना ही रूप है। पंचमी एवं षष्ठी में भी हे से हि हो जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश के कारक रूपों में समता सी आ गयी। पुल्लिंग इकारान्त उकारान्त सप्तमी एक वचन में भी हि विभक्ति होती है।

बहुवचन मुद्ध+सुप् के स्थान पर हिं आदेश होकर मुद्धहिं रूप बनता है जो कि संभवतः संस्कृत सार्वनामिक स्मिन् से बना है। अदन्त पुल्लिंग में भी हिं विभक्ति होती है।

स्त्रीलिंग के इ, ई, उ, ऊकारान्तादि सभी शब्दों के रूप इसी तरह होंगे ।

	एक व०	**बहुवचन**
प्र०	मुद्धा, मुद्ध	मुद्धाउ, मुद्धाओ, मुद्ध, मुद्धा
द्वि०	मुद्धा, मुद्ध	,, ,,
तृ०	मुद्धाए, मुद्धए, मुद्धइ	मुद्धाहिं, मुद्धहिं
पं०	मुद्धहे, मुद्धाहे	मुद्धाहु, मुद्धहु
चतु०षष्ठी	मुद्धहें, मुद्धहिं, मुद्धहि, मुद्धहो	मुद्धहं
सप्त०	मुद्धहे, मुद्धहि मुद्धए	मुद्धहिं, मुद्धाहिं
सम्बो०	मुद्ध	मुद्धउ, मुद्धाउ

ईकारान्त स्त्रीलिंग के नाम रूप

बहुत बार स्त्रीलिंग आकारान्त नाम के अन्त में आ को ह्रस्व करके प्रयोग बनता है। इसके अन्त में कई बार ई का भी प्रयोग होता है जैसे–बाली, णिसि, बसुंधरी, परमेसरी आदि। यह कभी स्त्रीलिंग विशेषण के रूप में भी आता है। इकारान्त और ईकारान्त स्त्रीलिंग का रूप एक सा ही होता है–वहु–वहूहिं रूप मिलता है। आकारान्त स्त्रीलिंग नाम का रूप ईकारान्त की ही तरह होता है।

	एक व०	**बहु०**
प्रथमा	तरुणि	तरंगिणीउ
	रिद्धी	णारिउ
	भंडारी	कुमारिउं
द्वि०	महि	जणदिट्ठिउ
	अवक्खडी	गाहिणीउ
तृ०	धरिणीए, विलासिणिआए	विरहंतिहि
पं०	तरुणिहे	तरुणिहु
च०–ष०	महए विहे	पाणिय हारिहु
	पुत्तिहिं, भूमिहिं	
सप्त०	पहरंतिहि, मुट्ठिए–	कामिणिहि
	सिद्धिहि, रयणिहे, तुंगिहे	
सम्बो०	माइ, पंचालि	तरूणिहो

नपुंसक लिंग

जैसा कि **डॉ० तगारे** ने लिखा है कि अपभ्रंश में नपुंसक लिंग की कमी हो गयी। नपुंसक लिंग का शब्द रूप भी पुल्लिंग की ही भाँति

होता है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में कर्ता० एवं कर्म० में नपुंसक लिंग के विशेष रूपों को छोड़कर शेष रूप पुल्लिंग की भाँति होते हैं। प्राकृत में भी यही रीति अपनाई गयी है, अपभ्रंश में भी केवल प्र० बहुवचन जस् एवं द्वि० बहुवचन शस् के अपने रूप इं 31 होता है। शेष रूप पुल्लिंग की भाँति होते हैं।

	एकवचन	**बहुवचन**
प्र०	कमलु, कमला, कमल	कमलाइं, कमलइं
द्वि०	कमलु, कमला, कमल	कमलाइं, कमलइं

शेष रूप पुल्लिंग के समान होते हैं।

कर्ता कारक एवं कर्म कारक एक वचन में कमल+ सि, अम् दोनों का लोप होकर कमल एवं कमला रूप होता है। संस्कृत एवं प्राकृत में अनुस्वार होता है। अपभ्रंश में वह अनुस्वार भी समाप्त हो गया। बहुवचन में कमल+जस्, शस के स्थान पर इं[32] होकर कमलइं रूप होता है। अतिरिक्त सभी रूप पुल्लिंग की तरह होते हैं।

अपभ्रंश के नपुंसक लिंग में ककारान्त शब्दों के परे यानी संस्कृत कृदन्त स्वार्थिक क प्रत्यय से बने हुए अकारान्त शब्दों के परे सि और अम् को उं आदेश होता है=तुच्छ + क = तुच्छ + सि, अम् को उं होकर तुच्छउं रूप होता है। संस्कृत प्रसृतकं का पसरिअउं रूप होता है। तुच्छकं > तुच्छउं, सं० प्रसरितकं > पसरिअं > पसरिअउं। अपभ्रंश नपुंसक लिंग के सभी शब्दों का रूप संस्कृत कृदन्त क प्रत्ययान्त को छोड़कर, कमल की भाँति होता है।

इकारान्त और उकारान्त नामों के रूप पुल्लिंग और नपुंसक लिंग में कोई भेद नहीं होता। नपुंसक लिंग में वारिइं, वारीइं, महुइं, महूइं प्रथमा और द्वितीया बहुवचन में रूप होते हैं।

मूल इकारान्त, उकारान्त वाले शब्दों में कभी-कभी य < क स्वार्थिक प्रत्यय लगाकर अकारान्त नाम बनाया जाता है :—

सम्माइट्ठिउ, जोइया, जोइय, दोनों शब्द रूप क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

अपभ्रंश में द्विवचन के लिये कोई विभक्ति नहीं पायी जाती है। द्विवचन का अभाव पालि एवं प्राकृत से ही हो गया था। वैदिक संस्कृत में द्विवचन की बहुलता नहीं थी, फिर भी उस समय द्वन्द्वात्मक चीजों को देखकर ही संभवतः द्विवचन का अविर्भाव हुआ था। वैदिक संस्कृत में द्विवचन का प्रयोग प्रायः ऐसे ही स्थानों पर हुआ है जहाँ कि दो चीजों को एक साथ प्रयुक्त करना पड़ा है, पर आगे चल कर लौकिक संस्कृत में द्विवचन इतना रूढ़ हो गया कि जिससे उसका प्रयोग सर्वत्र सुबन्त और तिङन्त में होने लगा। जब पालि और प्राकृत का युग आया तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय भाषा के सरलीकरण की प्रवृत्ति होने के कारण द्विवचन को निरर्थक सा समझा जाने लगा। अपभ्रंश में भी यह स्वाभाविक ही था कि यहाँ भी द्विवचन का अभाव हो। अपभ्रंश में द्विवचन के अभाव के कारण आधुनिक भारतीय आर्य भाषा हिन्दी में भी द्विवचन का अभाव हो गया। द्विवचन शब्द के लिये संस्कृत में उभौ तथा द्विशब्द प्रयुक्त होता था। इसी द्वि का प्राकृत दुइ या वि बना, अपभ्रंश में यही बे होकर द्विवचन का बोधक हुआ जैसे—**महु कन्तहु बे दोसडा हेल्लिम झंखहि आलु**—हेम० 4/8/379।

परसर्ग

परसर्ग का बीज रूप हमें प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में ही मिलता है। संस्कृत तथा पालि के शब्द रूपों में विभक्तियों के साथ या उसके विना भी परसर्ग प्रयुक्त होता था जैसे संस्कृत में—**तस्य समीपे** या **तत्समीपे** (उसके पास) पालि—**गोतमस्य सन्तिके, निव्वाण सन्तिके**। यही प्रवृत्ति अपभ्रंश और न० भा० आ० में भी है। प्रा० भा० आ० भाषा के शब्द रूपों में विभक्तियों के ह्रास के कारण ही यह प्रवृत्ति, अपभ्रंश में प्रचलित हुई। परवर्ती अपभ्रंश में विभक्तियों के ह्रास के कारण परसर्ग की प्रधानता हो गयी। न० भा० आ० में तो विभक्तियों की जगह परसर्ग ने ले लिया। यद्यपि परवर्ती अपभ्रंश अवहट्ट में—संक्राति कालीन भाषा होने के कारण प्राकृत तथा अपभ्रंश (म० भा० आ०) के सविभक्तिक

रूप भी अवशिष्ट हैं, फिर भी निर्विभक्तिक प्रातिपदिक शब्द रूपों का प्रयोग कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण, सम्प्रदान–सम्बन्ध में धड़ल्ले से पाया जाता है। शब्द रूप की दृष्टि से परसर्ग स्वतन्त्र शब्द था और किसी पद के साथ कारकीय सम्बन्ध प्रकट कराने के लिये इनका प्रयोग किया गया है। परन्तु विभक्ति प्रत्यय से परसर्ग भिन्न है, क्योंकि शब्द रूप में परिवर्तन होने पर भी इनमें परिवर्तन नहीं होता।

निम्नलिखित परसर्ग का प्रयोग अपभ्रंश में पाया जाता है–

(1) करण परसर्ग–'सहुँ'

'सहुँ'–**जउ पवसन्तें सहुँ न गय, न मुअ वियोएँ-तस्सु**[33]। संस्कृत–सह-समं > सहुँ से बना है। संस्कृत में सह, साकं, समं, सार्धं के योग में (साथ जाने के अर्थ में) तृतीया विभक्ति होती है[34]। संस्कृत का यही नियम इस दोहे में भी लागू होता है। वियोगिनी नायिका कहती है–"जो मैं प्रिय के प्रवास करते समय उसके साथ नहीं गयी और न तो उसके वियोग में मर ही गयी।" अतः यह सहुँ शब्द सह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पवसन्तें में तृतीया विभक्ति भी है। इस पूर्वोक्त दृष्टि से सहुँ शब्द परसर्ग के अन्तर्गत नहीं आता। संभवतः इसी कारण **डॉ० तगारे** ने परसर्गों में इसका उल्लेख नहीं किया है। किन्तु परवर्ती अपभ्रंश अवहट्ठ में करण चिह्न बोधक परसर्ग का प्रयोग पाया जाता है–**दूजने सउँ सबकाहु तूट** (37/23) **धिएँ सँकरे सेउँ सातु** (21/31) **उक्ति व्यक्ति प्रकरण। प्राकृत पैंगलम्** में 'एक सउ' (1,46–एकेन समं) संभुहि सउ (1,112–शंभुमारभ्य) सउ की व्युत्पत्ति सं०–समं से हुई है। 'सउ' का प्रयोग **संदेश रासक**[35] में करण कारक में पाया जाता है="गुरू विण एण सउ"(74 ब) बिरहसउ (79 अ), कंदप्प सउ (69 ए)। इसका 'सिउँ' रूप पश्चिमी राजस्थानी[36] में मिलता है–**मोटा नइ मोटा-सिउँ दोस। मुझ-सिउँ किसिउँ करइ ते दोस०**=बड़ा बड़े से दोष (करता है), मुझसे वह कैसे दोष कर सकता है। पुरानी मैथिली में सञो, सँ आदि प्रयोग मिलता है–**मृत्यु-सञो कल-कल करइतेँ अच्छ** (मृत्यु के साथ झगड़ा कर रहा है, वर्णर० 41 अ[37]) **इन्दु माधव सञे**

खेलए (विद्यापति[38] 38 ए), मासु हडहि–सञो खएलक (विद्यापति 15 ब), **उक्ति**[39] **व्यक्ति प्रकरण** भी 'सउँ' रूप मिलता है–**दूजणे सउ सब काहु तूट** (37/23) **समम कस्यापि त्रुट्यति–घिए साकर सेउँ सातु** (21/31/22/1)=**घृत शर्करया समय सक्तुः**। इसी का **कीर्तिलता** में सो मिलता है–**मानि जीवन मान सो**। व्रज भाषा में इसी 'सो' से सों रूप बना **कर सों एवं पलुटावति** (सूर०)। **पउम चरिउ**[40] में समउ (< समम) रूप (2/12/2) हो जाता है। समाण (सं० समान), सरिसउ (सं०-सदृशकम, गुज० सरसुम मिलता है।)

(2) सम्प्रदान परसर्ग–केहिं, रेसिं, तेहि, तण आदि

केहिं, रेसिं तेहि, तण[41] आदि पालि, प्राकृत और अपभ्रंशों में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है। चतुर्थी का सम्बन्ध प्रायः षष्ठी से हुआ करता था। कभी-कभी इसका सम्बन्ध कर्म से भी जुट जाता था। उपर्युक्त केहिं, रेसिं, तेहि और तण का प्रयोग **हेमचन्द्र** ने तादर्थ्य में निपात किया है। निपात शब्दों से मिलकर विभक्ति अर्थ का बोधक होता है। प्रा० भा० आ० में भी निपातन[42] का प्रयोग पाया जाता था। वहाँ यह शब्द अव्ययार्थ होता था। अपभ्रंश में यह विभक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है :–

हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ पिअ, तुहुँ पुणु अन्नहि रेसि (8/4/425) संस्कृत **अहं क्षीणा तव कृते प्रियत्वं पुनः अन्यस्या कृते**।

आगे चलकर रेसिं का रूप नहीं मिलता किन्तु चतुर्थी विभक्ति के बोध के लिये 'केहिं' का विकसित रूप परवर्ती अपभ्रंश में पाया जाता है।

हउँ झिज्जउँ तउ केहिँ (हेमचन्द्र)

परकेहँ, आपणु केहँ, पढ़बे किहँ (उक्ति व्यक्ति प्रकरण)

कर्म और सम्प्रदान के परसर्ग प्रायः एक दूसरे के पूरक होते हैं। इस सृष्टि से ये दोनों एक दूसरे के बहुत निकट हैं। अवधी कहँ का संबंध **हेमचन्द्र** के केहिँ से भी जोड़ा जा सकता है।

'तण' भी निपातन है। इसकी विशेषता है कि यह स्वतः विभक्तियों से जुड़कर प्रयुक्त होता है। इस तण का प्रयोग कभी षष्ठी और कभी तृतीया विभक्ति के साथ हुआ है। सम्प्रदान के अर्थ में भी एक जगह यह प्रयुक्त हुआ है।

सम्प्रदान–**वड्डत्तणहो तणेण** (हे० 8/4/355) सं०–'महत्वस्य कृते' (बड़प्पन के लिये)

कहीं-कहीं यह तण स्वतः प्रत्यय की भाँति प्रयुक्त हुआ है–वड + तण + उ = (अपभ्रंश की विशेषता संज्ञा=अ को उ) = जिवँ जिवँ वड्डतणु लहहिं (हे० 8/4/377), सं०–**यथा यथा महत्वं लभन्ते** यहाँ तण का प्रयोग कर्म के अर्थ में हुआ है। भाव के अर्थ में प्रत्यय की भाँति प्रयुक्त सा प्रतीत होता है। सं०–त्व या तल=(महत्ता, महत्व) हि०–'पन'=(बड़प्पन प्रत्यय के अर्थ में हुआ है) कर्म कारक अर्थ में और जगह भी यह तण परसर्ग प्रयुक्त हुआ है:–

जइ इच्छहु वड्डत्तण उं (हे० 8/4/384)

तिलहं तिलत्तणु (हे० 8/4/406)

तृतीया विभक्ति से युक्त तण का प्रयोग होता है–केहि तणेण तेहि तणेण। महु तणइ (परमात्म प्रकाश 2/186)

सम्बन्ध–**अह भग्गा अम्हहं तणा** (हे० 8/4/380)

इमु कुल तुल तणउं (हे० 8/4/361)

डॉ० तगारे[43] ने तण का प्रयोग 600 ई० के पहले से ही माना है। महु तणइ=मदीयेन (प प्र० 2/186) 1000 ईस्वी के समय इसका प्रयोग सम्बन्ध कारक के लिये होता था–'तसु तण इम' उदाहरण **सावयव धम्म दोहा** में पाया जाता है। **पाहुड़ दोहा** 88 में **सिद्धत्तणहु तणेण** और पा० दो० 214 में **थरू डज्झइ इंदिय तणउ** प्रयोग पाया जाता है। इन दो प्रयोगों में एक स्पष्ट रूप से षष्ठी का प्रयोग है और दूसरा मिश्रित प्रयोग है।

डॉ० तगारे का खण्डन करते हुए **डॉ० भयाणी**[44] ने कहा है कि तणय का रूप विशेषण की तरह चलता है (सम्बन्धी की तरह जिसे कि **हेमचन्द्र** ने अपने दोहों में दिखाया है) यह विशेष्य की विशेषता बताता है और सामान्यतया लिंग, वचन और कारक का अनुसरण करता है। तणय का रूप प्रत्येक कारक और दोनों वचनों में हो सकता है। भविसयत्त कहा √6–7–**तहो तनयहो णामहो**–में किसी भी प्रकार का दो सम्बन्ध कारक नहीं है। **डॉ० तगारे** ने तण का प्रयोग पश्चिमी अपभ्रंश में तृतीया विभक्ति में अधिक प्रचलित माना है। उन्होंने इसकी पुष्टि में ये उदाहरण दिये हैं। **महु तणइ** (परमप्प पयासु 2,186)=**मदीयेन, सुकइहिं तणाइं** (म प० 1-128) **वड्डत्तणहो तणेण** (हे० 8/4/425) **सिद्धत्तणहो तणेण (पाहुड़ दोहा 88)**। **डॉ० भयाणी** का कहना है कि इन पूर्वोक्त उद्धरणों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता कि यहाँ पर तण का प्रयोग तृतीया विभक्ति के परसर्ग के लिये हुआ है। प्रथम उद्धरण में यह तृतीया के एक वचन की विशेषता बताता है। दूसरा उद्धरण न तो तृतीया बहुवचन के लिये प्रयुक्त हुआ है और न तो तृतीया के भाव में ही प्रयुक्त हुआ है। अवशिष्ट दो उद्धरणों को हम तणेण के बाद कारणेण के उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं (उदाहरण–वड्डत्तणहो तणेण कारणेण और सिद्धत्तणहो तणेण कारणेण) कि यह वस्तुतः सम्बन्ध कारक परसर्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है।

इन परिणामों के आधार पर स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि तण का प्रयोग तृतीया परसर्ग के लिये नहीं हुआ।

यह तण निपात विभक्तियों से युक्त होकर प्रयुक्त अवश्य हुआ है। किन्तु स्वतः कारक चिह्नों के अर्थों में नहीं। परवर्ती अपभ्रंश अवहट्ठ में इसका उदाहरण नहीं मिलता है। व्रज और अवधी में इसी तण का विकसित रूप तणइँ, तणइ, तन तइं, तें, ते आदि परसर्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तन– **पिय तन चितइ-भौंह करि बाँकी** (मानस)

मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी (तईं के अर्थ में) (पद्मावत)

त्योंः– **चितै तुम त्यों हमरो मन मोहै** (कवितावली)

तें, ते– **राम ते अधिक राम कर दासा** (मानस)

जल समूह बरसत अँखियन तें । (सूर०)

तें का थैं प्रयोग भी पाया जाता है :–

नाद ही थैं पाइए (गोरख)

कहाँ थैं आया (कबीर)

(3) अपादान परसर्ग–होन्तउ

पी० एल० वैद्य[45] ने इस होन्तउ परसर्ग का अर्थ भवान किया है। (जहाँ होन्तउ आगदो, कहाँ होन्तउ आगदो = यस्मात् भवान् आगतः कस्मात् भवान् आगतः–हे० 8/4/355) और यह वर्तमान कृदन्त में प्रयुक्त हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति की कल्पना √हो < सं० भू (हे० 8/3/180) शतृ कृदन्त रूप होन्त + स्वार्थिक प्रत्यय क > अ > उ से की जाती है। इसका शाब्दिक अर्थ होते हुए होना चाहिए। **हेमचन्द्र** ने होन्तउ का प्रयोग अपने कई सूत्रों में किया है। सर्वत्र पंचमी विभक्ति के योग में प्रयुक्त हुआ है=8/4/372 तउ होन्तउ आगदो/तुज्झ होन्तउ आगदो/ 8/4/373 = तुम्हहं होन्तउ आगदो/8/4/379 = **महु होन्तउ गदो। मज्झु होन्तउ गदो**/8/4/380 = **अम्हहं होन्तउ आगदो।**

हेमचन्द्र से पहले भी होन्तउ का प्रयोग होता था

भविसत्त कहा :– **तावसु पुव्व जम्मि हउ होन्तओ।**
कोसिउ णामेमि नयरि वसन्तओ 88/8

णय कुमार चरिउः– **तहिं होन्तउ सुंदरु णीसरिउ।** 6/7
तहिं होंतउ पल्लट्टिउ सवरु। 6/8

स्वयंभू चरिउ :– **आयउ कुन्दिण-णयरहो होन्तउ।** 9/2/75

जसहर चरिउ :– **हउं विवरहो होन्तउ णीसरिउ।** 3/3/17

सनत कुमार चरिउ :– अहा होन्तु (कि) **न सक्कविउ।**

पूर्वोक्त उदाहरणों से प्रतीत होता है कि होन्तउ का प्रयोग समस्त अपभ्रंश साहित्य में होता था। **डॉ० तगारे** का यह कहना कि यह केवल पश्चिम अपभ्रंश में ही प्रयुक्त होता था—उचित नहीं प्रतीत होता।

आगे चलकर **कीर्तिलता** में इसका रूपान्तर हुन्ते रूप में प्रयुक्त मिलता है :—**दूरु हुन्ते आ आ वड वड राआ** (पृ० 46)

अवधी में यह हुन्ते हुन्त होकर अपादान के अतिरिक्त करण और सम्प्रदान में प्रयुक्त हुआ है।

अपादान—**जल हुँत निकसि मुवै नहि काछू** (पद्मा०)

सास ससुर सन मोरि हुँति विनय करव कर जोरि (मानस)

करण— **उत हुँत देखै पाएउँ दरस गोसाईं केर।** (पद्मा०)

सम्प्रदान—**तुम हुँत मंडप गयउँ परदेसी** (मानस)

राजस्थानी[42] में भी हूँतउ (हुँतउ), हूँती और हूँतइ का प्रयोग पाया जाता है।

मरण-हूँतउ राखिउ = मरण से रक्षा हुंई (षष्ठि०4)

धर्म-हूता न वालइँ = धर्म से न मुड़े (षष्ठि० 3)

जे संसार-हूँता बीहता न थी = जो संसार से भीत नहीं है (षष्ठी० 6)

तेस्सि तोरी महोदय का कहना है कि हूँती (हुँति) हूँतउ के अधिकरण रूप हूँतइ (< हूँतिइ) का सिमटा हुआ रूप है। यह हूँतउ से अधिक प्रचलित है जैसा कि अपादान परसर्गो के सभी भाव लक्षण सप्तमी (Absolute) रूपों के साथ है क्योंकि ये सीधे (Direct) रूपों से अधिक प्रचलित होते हैं। आधुनिक गुजराती और मारवाड़ी में इसके केवल अधिकरण रूप ही अवशिष्ट रहे। हूँती के उदारहण :—

कर्मक्षय आत्म-ज्ञान-हुँती=कर्मक्षय आत्मज्ञान से होता है। (योग 4/113)

दोष-हुँती विरमइ=दोष से विराम लेता है (इन्द्रि० 97)

अम्हाँ-ही हूँती भूखी=हमसे भी भूखी (आदि च०)

(4) ट्ठिउ परसर्ग

ट्ठिउ (सं० स्थित) का प्रयोग पंचमी के अर्थ में हुआ है।

हिअय ट्ठिउ जइ नीसरहि 8/4/438 (हृदय में स्थित या हृदय से)। अम्हासु ट्ठिअं (4/8/381), तुम्हासु ट्ठिअं (हे० 8/4/374)

पाहुड़ दोहा में भी ट्ठिअ का प्रयोग पाया जाता है। यहाँ ट्ठिउ का प्रयोग 'स्थित' के अर्थ में हुआ है :–

णिल्लक्खणु इत्थी बाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ।
तसु कारणि आणी माहू जेण गवं गउ संठियउ।।

(पाहुड़ दोहा 99)

करि ट्ठिउ जाँह (पाहुड़ दोहा–102)

अहवा तिमिरुण ठाहरइ सूरहु गयणि ठिएण

(सावयवधम्मदोहा 132)

(सूर्य के गगन में स्थित होने पर तिमिर नहीं ठहर सकता) **दोहा कोशों** में भी थिय का प्रयोग पाया जाता है।

पत्त-सउत्थअसउ-मुणाल थिय महाँ सुहवासे'

(काण्हदोहा कोश 5)

वेण्णि रहिय तस णिच्चलथाइ (कण्हदोहा कोश 13)

इन उद्धरणों में थिय √स्था का प्रयोग पंचमी के अर्थ में नहीं हुआ है। अन्य **दोहा कोशों** के दोहों में भी थिय का प्रयोग इसी तरह से किया गया है। इस थिय या ट्ठि √स्था का प्रयोग पंचमी या सप्तमी के अर्थ में पुरानी हिन्दी में नहीं पाया जाता।

(5) संबंध परसर्ग–केरअ, केर आदि

संबंध परसर्ग केरअ, केर आदि का प्रयोग षष्ठी विभक्ति के अर्थ में पाया जाता है। **जसु केरएँ हुंकार डएँ** (हे० 8/4/422)

जिसके हुंकार से। **तुम्हहं केरउं धणु** (हे० 8/4/373), तुम्हेँ हिं अम्हेँ हिं जं किअउँ (हे० 8/4/378)। **पाहुड़ दोहा** में भी सम्बन्ध कारक परसर्ग के अर्थ में केरउ का प्रयोग हुआ है–**कम्महं केरउ भावडउ जइ अप्पाण भणेहि** (कर्मों के भाव को ही यदि तू आत्मा कहता है–पा० दो० 36)। **स्वयंभू** कृत **पउम चरिउ** में भी केरए का प्रयोग विविध स्थलों पर पाया जाता है। वहाँ भी यह सम्बन्ध कारक के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 6 135, 983, केरउ, 438, 533–केरि, √117–ताह मि केराइम। **भविसत्त कहा** में केरउ का प्रयोग पाया जाता है–तउ केरउ (भ० क० 75, 7, 125, 10) सरवहे केरउ (भ० क० 189, 5) **जसहर चरिउ**–रायहो केरि 1-9-2। रावण–रामहो केरि (पुष्पदन्त महापुराण 69-2-11)।

पूर्वोक्त उद्धरणों से पता चलता है कि केरअ, केर केर (प्रा० भा० आ०–कार्य) का प्रयोग परसर्ग षष्ठी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। परवर्ती अपभ्रंश अवहट्ठ में भी इस परसर्ग का प्रयोग मिलता है। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में इसके प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। थामें-कर=स्तम्भस्य (47/12) रा-कर सागर=**राज्ञः सागरः** (21/14) मित-कर (28/18-पंचमी के अर्थ में), वड करि डाल=वट की शाखा में (35/21), तेहु-करि सभा = उन लोगों की सभा में (10/15), ककरे घरे, मधि, पुनवाते–करि भोजा (सप्तमी, 36-3), वणेइ-कर (14-20) सम्प्रदान के भाव में। इसके कई प्रकार के रूप **कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर** और **प्राकृत पैंगलम्** में भी पाये जाते हैं। लोचन केरा बल्लहा, ताकेरा बहुपिन, पअकरे आकारे, करेओ डप्प चूरेओ आदि **(कीर्तिलता)**, मानुष क मुहराव (47अ) आदित्य क किरण (49 अ–**वर्णरत्नाकर**), ताका पिअला (2, 97) देवक लिक्खिअ (2,101) आदि **प्राकृत पैंगलम्** में इसी केर का घिसा हुआ रूप है। पुरानी राजस्थानी में भी अपभ्रंश केरउ का विकसित रूप (तेस्सितोरि §73) पाया जाता है–

जाणे गिरिवर-केरउ श्रृंग = गिरिवर के श्रृंग जितना

(एफ० 591, 2/3)

तूँ कवियण-जण केरी माया = तू कवियों की माता है

(एफ० 7/15,1/3)

नहीं पर-केरी रे आस = दूसरे की आशा नहीं है

(एफ० 722,4)

त्रिभुवन-केरा नाथ = त्रिभुवन के नाथ (ऋष० 158)

अवधी में केरअ का विविध रूपान्तर पाया जाता है :—

(1) **कोउ काहू कर नाहिं निआना।** (पद्मावत)

राम ते अधिक राम कर दासा। (मानस)

(2) कै < कइ < करि < करः—

परै रकत कै आँसु (पद्मा०)

पलुही नागमती कै बारी। (पद्मा०)

जहि पर राम के होई (मानस)

(3) क < कर :—

धनपति उहै जेहि संसारू। (पद्मा०)

पितु आयसु सब धरम क टीका (मानस)

खड़ी बोली में इन्हीं सब के स्थान पर का, के, की रूप प्रचलित है। इसी का रूपान्तर ब्रजभाषा में कौ, का रूप अधिक प्रचलित है। अतः इस केरए का विकास क्रमशः इस प्रकार मानना चाहिये। केरए > केरअ > केर > कर > करि > कइ > कै इत्यादि। कुछ विद्वानों ने केर से केरए आदेश होने के कारण इनकी व्युत्पत्ति √कृ धातु से मानी है **डॉ० चटर्जी**[47] एवं **डॉ० भयाणी**[48] ने केर करि का विकास संस्कृत कार्य से माना है।

(6) अधिकरण परसर्ग—मज्झे, मज्झि आदि

अधिकरण परसर्ग मज्झे, मज्झि आदि। "जामहि बिसमी कज्ज—गइ, जीवहँ मज्झे एइ" **(हे० 8/4/406)** सं० **यावत् विसमा गतिः जीवानां मध्ये आयाति, चम्पय कुसुमहो मज्झि** (हे० 8/4/439) सं० **चम्पक सुसुमस्य मध्ये** इन उदाहरणों से पता चलता है कि मज्झे,

मज्झि स्वतः सप्तमी विभक्ति से युक्त है। यह मज्झे, मज्झि < सं० मध्ये का विकसित रूप है जो कि प्रायः षष्ठी विभक्ति के बाद प्रयुक्त होता है। यही मज्झि अवहट्ठ में तथा पुरानी राजस्थानी एवं व्रज, अवधी और खड़ी बोली में माझ, मझारि, माझि, माँ माँह, माहि, मह, में आदि रूप में परिणत हो गया। 'युवराजहि माझ पवित्र' (कीर्ति० पृ० 12), **प्राकृत पैंगलम्**[49] में भी इसके विविध रूप मिलते है :– चितमज्झे (2,164) °वगमज्झ (2,169) संगाम मज्झे (2,183) **प्राकृत पैंगलम्** में अधिकरण परसर्ग मह का रूप प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। लोहंगिणिमह (1,88) कोहाणलमह (1,106) आदि।

ब्लाख ने इसकी व्युत्पत्ति * मध (अवेस्ता मद) से मानी है। वस्तुतः यह संस्कृत मध्ये का ही विकसित रूप है।

पुरानी राजस्थानी में भी इसके विविध रूप मिलते हैं।

अणहलपुर मझारि=अनहल पुर में (कान्ह० 67)

पेटि मझारि=पेट में (शालि० 33)

यह अपभ्रंश * मज्झारे < (सं० * मध्य कार्ये से निकला है जो कि मध्य के साथ सार्वनामिक संबंध सूचक बनाने वाले कार्य प्रत्यय को जोड़ कर बनाया हुआ विशेषण है। **देशी नाममाला** 6/121 में **हेमचन्द्र** ने मज्झ आर को मज्झ (< सं० मध्य) का पर्याय माना है। (तेस्सि तोरि §74/4)।

आवी घरि माझि = घर में गई (पं० 295)

तेह माँ नहीं सन्देह–इसमें सन्देह नहीं (एफ० 636,5)

अन्द्र वडो सुर-म्हाँ = सुरों में इन्द्र बड़ा है। (एफ० 772,31)

माँ (म्हाँ)–यह **तेस्सि तोरि** के अनुसार संभवतः * माझाँ < अप० मज्झहुँ से निकला है जो मज्झ का अपादान रूप है और बीच की अवस्थायें माहाँ > म्हाँ है।

पुरानी अवधी और व्रज में मझारी, माँह, और मँह रूप पाया जाता है :–

कूदि पड़ा तब सिन्धु मँझारी (मानस)

सरग आई धरती महँ छावा (पद्मा०)

राम प्रताप प्रकट एहि माँही (मानस)

ज्यों जल माँह तेल की गागरि (सूर०)

झिलमिल पट मैं झिलमिली (बिहारी)

हमको सपनेहू में सोच (सूर०)

उप्परि, परि आदि का प्रयोग भी अधिकरण परसर्ग के अर्थ में होता है। **सायरु उप्परि तणु धरइ** (हे० 8/4/334) संस्कृत उपरि का ही रूप उप्परि है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहे में एक जगह **रहवरि चडिअउ** मिलता है जो कि संभवतः उपरि से परि और परि से वरि रूप में आया। **पउम चरिउ** में–**उवरि** (उपरि) 238, 662 आदि। उवरिम 17 8 10, उप्परि आदि। **प्राकृत पैंगलम्** में उवरि और उप्पर तथा उप्परि रूप पाया जाता है–**सअल उवरि** (1,87) **वाह उप्पर पक्खरदइ** (1,106) व्रज और खड़ी बोली में पररूप पाया जाता है। **आपुनि पौढ़ि अधर से ज्या पर** (सूर०) **हम पै कोप कुपावति** (सूर०)

(7) केहिं परसर्ग का प्रयोग सम्प्रदान के लिये होता है। **हउँ झिज्जउँ तउ केहिं (हेमचन्द्र) तउ केहिं अन्नहि रेसि** (हे० 4/8/425) इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत कृते प्राकृत कए, कएहिं से माननी चाहिये। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में केहँ और किहँ रूप पाया जाता है। पर केहँ, आपणु केहँ, पढ़बे किहँ आदि।

अवधी में इसी का रूपान्तर कहुँ अथवा कहँ रूप है–

तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू (मानस)

पहुँचिन सके सरग कहँ गये (पद्मा०)

व्रज में इसी का परिवर्तित रूप संभवतः काँ, कौं, कूं और को मिलता है।

सर्वनाम

उत्तम पुरूष वाचक सर्वनाम :– इसके निम्नलिखित रूप अपभ्रंश में पाये जाते हैं।

	एक०	बहु०
प्रथमा	हउँ	अम्हे, अम्हइँ
द्वि०	मइ, मइँ	" "
तृ०	मइँ, मइ (मए)	अम्हेहिं, अम्हहिं
च०, पं०, षष्ठी	महु, मज्झु	अम्हहँ (अम्हाण)
सं०	मइँ	अम्हासु

छन्द के कारणों से अम्हहँ का 'अम्हाहँ' भी हो जाता है।

(1) उत्तम पुरूष कर्ता कारक अस्मद् शब्द के एक वचन में हउँ रूप बनता है। **पिशेल** ने इसकी व्युत्पत्ति अहकं (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण §417) से मानी है। **अशोक** के शिलालेखों में हकं रूप पाया जाता है। इसी का विकास प्रा० भा० आ० अहं > म० भा० आ० प्राकृत अहकं रूप > परवर्ती म० भा० आ० हकं, हअं, हवं > अप० हउँ के क्रम से माना जाता है। **प्राकृत पैंगलम्** में हउ या हउ (2,147) रूप पाया जाता है।

इसी का विकास क्रम **संदेश रासक, उक्ति व्यक्ति प्रकरण,** गुजराती, राजस्थानी और व्रज भाषा में 'हौं' रूप पाया जाता है।

हउँ झिज्जउँ तउ केहिं (हेम०)

विआलि को हउँ मागिहउँ (उक्ति 22/5), **हौं** (उक्ति० 21)

देखि एक कौतुक हौं रहा (पद्मा०)

हौं लै आई हौं। (सूर०)

बहुवचन में **अम्हें अम्हइं** (हे० 4/8/376) रूप होता है। सं० वयम् प्राकृत में अम्ह, अम्हे, अम्हो में आदि रूप होता है। अपभ्रंश में स्वर लाघव के कारण अम्हे का अम्हइं भी होना अधिक सरल है। संस्कृत

अस्मि से अम्हि या अम्हें का होना अधिक सुगम प्रतीत होता है। **डॉ० सुकुमार सेन**[50] ने इसकी व्युत्पत्ति अस्म से मानी है। अस्म > अम्ह वर्ण विपर्यय करके हम्ह > हम्म > हम > प्रा०, अप०—अम्हे < अस्मे, अप० अम्हइ < अस्म + एन् (तृ०)।

अम्हे योवा रिउ बहुअ (हेम०),

हम जो कहा यह कपि नहि होई (मानस)।

कर्म कारक द्वितीया एक वचन में मइं रूप होता है। तृतीया तथा सप्तमी के एक वचन में भी मइं रूप होता है। डि-सं० माम, प्रा० मं √मे > मइं। तृ० मइं < प्रा० भा० आ० मया से बना है। सप्त० मइं रूप की कल्पना सं० मयि, प्रा० मइ से की जा सकती है। इस प्रकार तीनों कारकों के एक वचन में एकरूपता आ गयी। इसी कारण अधिकांश विद्वानों ने मया से ही मइं की उत्पत्ति मानी है। द्वि० ए० व० में अम्हे, अम्हइं रूप प्रथमा बहुवचन की भाँति होता है जो कि प्राकृत अम्हें से ही निर्मित प्रतीत होता है। तृ० ब० व० का अम्हेहिं रूप होता है। सं० अस्माभिः का प्रा० में अम्हेहि रूप होता है। इसका विकास क्रम इस प्रकार से माना जा सकता है—अम्हेहिं < अस्माभिः, * अस्मेभिः * अस्मेभिम्। सप्त० ब० व० में अम्हासु रूप होता है। सं० में अस्मासु, प्रा० में अम्हसु, अम्हेसु तथा अम्हासु होता है। अपभ्रंश में प्राकृत का अन्तिम रूप सुरक्षित है। इसका विकास क्रम प्रा० अम्हेसु (म्) < * अस्मेसु, अप० अम्हासु < सं० अस्मासु।

(3) पंचमी एवं षष्ठी एक वचन में महु, मज्झु रूप होता है। प्राकृत के कई रूपों में मह एवं मज्झ रूप भी होता है। अपभ्रंश में उकार बहुला प्रवृत्ति होने के कारण प्राकृत के पूर्वोक्त दोनों रूपों में उ लग गया। यह मूलतः 'मह्यं' से बना है। मह्यं > मज्झ — मज्झं > अप० मज्झु। **डॉ० सुकुमार सेन** ने महु को महुं मानकर इस प्रकार व्युत्पत्ति दी है—अप० महुं < * मम (य) अम्।

पंचमी एवं षष्ठी ब० वचन में अम्हहं रूप, प्राकृत अम्ह से बना है। सम्बन्ध विकारी रूप अम्ह (> गु० अम) है जो प्राकृत अपभ्रंश अम्ह,

अम्हहँ < सं० अस्माकम् के सदृश है। अप० अम्हहु < अस्म + * सस (सम्बन्ध० एक व० या * अस्मभः) प्रा० अम्हाण (म्) माग० अस्माणम् = अस्मभ्यम्; अप० अम्हहा < * अस्म + साम (सम्बन्ध ब० व०) पै०–अम्हं, प्रा० अम्हह (म्), अप०–अम्ह < * अस्माम् या अस्मत्। **पिशेल** (§419) ने अम्हहं की उत्पत्ति * अस्मासिम से मिलते जुलते शब्द से मानी है।

'हम्मारो-हम्मारी' का विकास इस क्रम से हुआ है :–

अस्म-कर > अम्ह-अर > हम्म-अरउ > हम्मारो,

अस्म-करी > अम्ह-अरी > हम्म-अरी > हम्मारी

इसी का खड़ी बोली में हमारा-हमारी तथा राजस्थानी में म्हारो म्हारी रूप पाये जाते हैं। **पिशेल** (प्राकृत भाषों का व्याकरण §434) ने इनका विकास * म्हार > * महार > * हमार के क्रम से माना है।

मध्यम पुरूष = तुम < युष्मद् शब्द के रूप

	एक०	**बहु०**
प्र०	तुहुँ	तुम्हे, तुम्हइँ
द्वि०	पइँ,तइँ	,, ,,
तृ०	पइँ, तइँ	तुम्हेहिं
च०, पं०, ष०	तउ, तुज्झ, तुध्र	तुम्हहँ
सं०	पइँ, तइँ	तुम्हासु

(1) कर्ता कारक एक वचन में तुहुँ रूप होता है। संस्कृत में त्वं होता है। प्राकृत में तुमं और ठक्की में तुहं होता है। **पिशेल** तथा **तेस्सितोरि** ने तुहुँ को सं० त्वकम् से व्युत्पन्न माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'अस्मद्' के मिथ्या सादृश्य पर बनाये गये कल्पित रूप * तुष्म का विकास है :– अस्म – अह :– * तुष्म – तुह। तुह (म्), तुहु < * तुषाम्, * तुसुम्। ब० व० में तुम्हे, तुम्हइँ रूप होता है। इसकी व्युत्पत्ति तुम्हे < * सं० तुष्मे से मानी जाती है।

अपभ्रंश तुहुँ से हिन्दी तू रूप परिवर्तित हुआ है। तुहुँ > तुउँ, > तूँ > तू :–

मइँ भणिय तुहँ (हेम०)

तुँ करसि (उक्ति०)

की तूँ मीत मन चित बसेरू (पद्मा०)

तू क्या कर रहा है। (खड़ी बोली)

मारवाड़ी में तूँ, थूँ तथा गुजराती में तुँ रूप मिलता है। पुरानी राजस्थानी में तउँ और तूँ, तूँअ तूँह रूप मिलता है। खड़ी बोली के ब० व० के तुम की उत्पत्ति इसी तुम्हे, तुम्ह से बनी है।

(2) उत्तम पुरूष की भाँति यहाँ द्वि०, तृ० एवं सप्तमी के एक वचन में पइं, तइं रूप होता है। संस्कृत त्वया + एन > तइं – तइ रूप होता है। अधिकरण में त्वयि से भी तइ होना अधिक संभव प्रतीत होता है। पइं, तइं < * त्वयेन से भी हो सकता है। **डॉ० तगारे** ने प्रा० भा० आ० त्व से प की उत्पत्ति मानी है जिससे कि पइं का होना अधिक सरल है। द्वितीया के बहुवचन में प्र० ब० व० की भाँति रूप होता है। इन दोनों रूपों में एकरूपता सी अपभ्रंश से लेकर न० भा० आ० तक में दीख पड़ती है। तृ० ब० व० में तुम्हेहिं प्रा० तुम्हेहिं का ही रूप सुरक्षित है। तुम्हेहि < तुष्म + भिः सप्तमी बहुवचन में तुम्हासु रूप होता है। प्राकृत कई रूपों में तुम्हासु रूप भी पाया जाता है। वही रूप अपभ्रंश में भी सुरक्षित है। तुम्हासु < * तुष्मासु = युष्मासु।

(3) पंचमी एवं षष्ठी के एकवचन में तउ, तुज्झ, एवं तुध्र रूप होता है। संस्कृत तव के व का उ सम्प्रसारण होकर तउ रूप होगा; प्राकृत में यह रूप नहीं पाया जाता। तुज्झ का विकास 'मुज्झ' के सादृश्य से प्रभावित है। **डॉ० तगारे**[51] ने 'मध्य' के मिथ्या सादृश्य पर निर्मित पालि रूप °तुह्यँ > तुज्झ > तुज्झु > तुज्झ के क्रम से विकसित माना है। अपभ्रंश में इसके तुज्झ, तुज्झु, तुज्झइ, तुज्झुं रूप मिलते हैं। 'तुज्झे' वस्तुतः 'तुज्झ' (हि० तुझे) का तिर्यक रूप है। **तेस्सि तोरि**[52] ने तुज्झु की उत्पत्ति < * सं० तुह्यं से मानी है। पुरानी राजस्थानी में इसी

का विकारी रूप तझ और तूँ है। तूँह (प० आदि च०) < अप० तुहु, * तुहुह; अप० तुह <* तुस (..), तुज्झ तुब्भ < तुभ्यम्। **डा० एस. के. सेन**[53] के अनुसार तुज्झु या तुज्झ का विकास क्रम इस तरह से माना जा सकता है :– पालि तुम्हम्, प्रा० तुम्ह, तुम्हो तुम्हे, तुम्म, < * तुष्मम, * तुष्महं, * तुष्मत, पालि–तुह्यम्, प्रा० तुज्झ, तुय्ह; अप० तुज्झ, तुज्झु <* तुह्य–(मह्यं के सादृश्य पर); तुज्झह <* तुह्य – + – स या सस (सम्बन्ध कारक)। इसके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश में यह रूप भी हो सकता है :– तुब्भ (म्) < तुभ्य (म्)। एक तुध्र रूप भी अपभ्रंश में प्रचलित है। संभवतः यह किसी बोली का रूप है जो कि अपभ्रंश में प्रचलित हो गया। **प्राकृत पैगलम्** 1,123 – तुम्ह रूप भी मिलता है।

पंचमी और सम्बन्ध कारक ब० व० में तुम्हहँ रूप होता है, संस्कृत * तुष्माकं के सादृश्य पर है। तुम्ह, तुम्हा, तुम्हाणं रूप भी मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जा सकती है–अप० तुम्हहं-पालि-तुम्हाकम् <* तुष्माकम् = युष्माकम्; प्रा० तुम्हाण (म्) <* तुष्माणाम् =* युष्माणां = युष्माकं का विकास है। अप०–तुम्हहा (पंचमी) <* तुष्माणम्। पालि–तुम्हम् प्रा० तुम्ह (म्), अप० तुम्ह, तुब्भम् (पंचमी में भी) <* तुष्मत् या तुष्मम्। इसी से मराठी में तुम्हि-तुम्हा, गुजराती में तमे, व्रज में तुम्हौ और खड़ी बोली में तुम्ह (तुम्हारा, तुम्हारे, तुम्हारी) से सम्बद्ध है। पुरानी राजस्थानी में–तुम्ह, तुम्हाँ, तुम्हो आदि निर्गत हुआ है। **प्राकृत पैंगलम्**[54] में तोहर रूप भी मिलता है। जिसका विकास क्रम तो + कर >* तो-अर > तोहर के क्रम से हुआ है। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में तोर रूप मिलता है। (तोर भाई–19-30) **पिशेल** के अनुसार * तोम्हार > तोहार > तोहर होता है।

निर्देशवाहक-वह = (तत्) पुल्लिंग–

	एकवचन	**बहुवचन**
कर्ता०	सो, सु,स,	ते
कर्म०	तं	ते
करण०	तेण, तइं, तें, तिं	तेहिं, ताहं तेहि

सम्प्र०-सम्बन्ध	तसु, तासु, तहो	तहु
अपादान	तहे, तउ	तहु
अधि०	तहि, तहिं	ताहिं

नपुंसक लिंग

	एक०	**बहु०**
कर्ता०	तुं, तु	ताइं
कर्म०	तं, त्रं	ताइं

शेष रूप पुल्लिंग के समान होंगे

स्त्रीलिंग

	एक०	**बहु०**
कर्ता०	सा, स	ताउ, ति
कर्म०	तं	ताउ
करण०	तइं, तिए, ताए, तए	तेहि
अपा०	ताहं, तहे	ताहिं
सम्ब०	तिह, ताहि, तहे,	ताहि
अधि०	तहि, तहिं	ताहिं

सामान्यतया त (स) शब्द का रूप प्रा० भा० आ० की ही तरह म० भा० आ० में भी प्रचलित थे। नपुंसक लिंग का रूप प्र० और द्वि० को छोड़ कर अन्य रूप पुल्लिंग की तरह चलते हैं।

(1) 'स, सो, सा, सु, पुल्लिंग रूप है, सा स्त्रीलिंग रूप, प्राकृत और अपभ्रंश में सो रूप प्रचलित है। अपभ्रंश में सु रूप भी मिलता है। **प्राकृत पैंगलम्** में सो रूप ही मिलता है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में सो रूप भी उपलब्ध होता है। **सो वरिसुक्खु पइट्ठणवि** (8/4/340)। सु रूप भी मिलता है। **बालि उ गलइ सु झुम्पडा** (हेम०)। यह दोनों एक वचन का रूप है। ब० वचन में ते और ति रूप होता है–"ते णविदूर गणन्ति (हेम०)।

सोइ और सोउ रूप भी मिलता है। सोई का विकास 'स+एव' से हुआ है और सोउ का विकास 'सो+उ' से प्रतीत होता है। सौ और सु का विकास क्रम इस प्रकार माना जा सकता है। पालि, प्रा०, अप० सो < सः, अप० सु < सो < सः। स्त्रीलिंग में सा रूप होता है। पा०, प्रा० अप० सा < सा, अप० स < सा नपुंसक – त < तत् (तं), पा०, प्रा०, – तं < तत् या तं, अप० तुं या तु रूप होता है। तं रूप भी मिलता है। कुछ आचार्यों के अनुसार द्रम रूप भी मिलता है (क्रमदीश्वर–जद्रु, तद्रु) ब० व० पु०–पालि, प्रा०, अप० ते < ते, अप० से। स्त्री०–ब० व० पालि–ता < ताः, पा०–तायो (तावो) प्रा० ताओ < * तायः < अप० ताउ० अप०–ति < पुं० ते। ब० व० नपुं०–पा० तानि, प्रा०–ताइं < * ता+इं < अप० ताइं यह प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में होता है।

(2) द्वि० एक व० पुं० और स्त्रीलिंग में तं रूप होता है। नपुंसक लिंग में भी यही रूप पाया जाता है । पा०, प्रा०, अप०–तं, अप० तु < तं कर्ता एक वचन सु के सादृश्य पर तु रूप भी होता है। जैसे षष्ठी रूप तासु। (< तां रूप भी पाया जाता है)। **डा० तगारे** ने इसे नपुंसक रूप के सादृश्य पर बना हुआ रूप माना है। **हेमचन्द्र** ने किसी विशेष लिंग के विषय में निर्देश नहीं किया है। नपुंसक लिंग के बहुवचन में ताइं रूप होता है। इसी के सादृश्य पर पुल्लिंग में भी ताइं एवं इसका परिवर्तित रूप तें < ते बना। पुल्लिंग ब० वचन पा०, प्रा० ते, प्रा० दे < ते < अप० ते 1 स्त्री० पा० ता० < ताः, पा० तायो, प्रा० ताओ < अप० ताउ, प्रा० ते < अप० ति।

(3) 'तेण-तण्हि' करण ए० व० के रूप हैं। तेँ रूप भी पाया जाता है। संस्कृत तेन का प्राकृत में तेण होता है। उसी का अपभ्रंश में तेण एवं तें रूप पाया जाता है–**वडवा नरस्स किं तेण।** तें का प्रयोग–**तो तें मारिअडेण** (हेम०) 'तण्हि' का प्रयोग अवहट्ठ भाषा में पाया जाता है। तण्हि का विकास **डॉ० चाटुर्ज्या** के अनुसार 'त+ण् + हिँ=तण्हि मानना चाहिये। यह षष्ठी ब० व० के 'आनां (> ण) तथा तृतीया ब० व०–'भिः'– (> हि) के योग से बना है।[55] इसका 'न्हि' रूप **वर्ण रत्नाकर** में तथा इसका 'नि' रूप **तुलसी** में मिलता है। कुछ लोग

व्रजभाषा का ब० व० चिह्न भी इससे जोड़ते हैं। इन रूपों का विकास क्रम इस प्रकार माना जा सकता है—

(i) करण ए० व० पुल्लिंग, नपुंसक लिंग—पा० तेन, प्रा० तेण (म्) अप० तिण < तेण, तिं, ते, तें < सं० तेन, **ऋग्वेद** तेना। तइँ रूप भी मिलता है।

(ii) स्त्रीलिंग ए० व०—पा० ताय, प्रा० ताए <* ताय = तया, < अप० ताए, तए। प्रा० ताए, तिअ <* तीया, * तीयई < अप० तिए, तइं रूप पुल्लिंग रूप के सादृश्य पर बना है। ब० व० पुल्लिंग में तेहिं रूप होता है। पा०, प्रा० तेहि < तेभिः (वैदिक), प्रा० तेहिं <* तेभिम् < अप० तेहिं, तेहि।

(iii) स्त्रीलिंग पा०, प्रा० तहि < तभिः < अप० तेहि पुल्लिंग ब० व० के सादृश्य पर। प्रा० ताहिं <* ताभिं < अप० ताहँ पुल्लिंग का एक रूप।

(4) अपादान पुल्लिंग एक वचन में ङसि विभक्ति को हां होकर तहाँ रूप होता है—'तहाँ होन्तउ आगदो', पर आजकल हिन्दी खड़ी बोली में यह अव्यय के रूप में प्रयुक्त होता है। तम्हा का विकसित रूप तहाँ है। पालि तम्हा (तस्मा भी होता है) < तस्मात्, प्रा० तम्हा < अप० तहाँ, तम्हा। पा० ततो, प्रा० त (द) ओ > प्रा०, अप० तओ < तउ < ततः। स्त्री० ए० व०—पा० ताय, ताओ < * तायह अप० तहे।

(5) सम्बन्ध पुं० ए० व० में तसु, तासु और तस्सु रूप होता है। इसका विकास क्रम इस प्रकार होगा 'तस्य > तस्स > तस्सु > तसु > तासु। उकार की प्रवृत्ति अपभ्रंश की विशेषता है। ताहो और तहो रूप भी मिलता है। यह अप० तासु, ताहो <* तासः का रूप है। इसी तहो के आधार पर पंचमी एवं षष्ठी के बहुवचन में तहु रूप होता है। स्त्री० में तहे, ताहि और तिह रूप होता है। पा० तस्सा < तस्याः, पा०, प्रा० तिस्सा < * तिस्याः अर्धमागधी तिसे < * तिसयइ, अप० ताहे, तहे ताहि, तिह <* तास्यइ, तासु <* तासः या * तास्यः।

पु० ब० व० में संज्ञा रूप की भाँति ताहँ और तहहं रूप भी होता है (जे पर विट्ठा ताहँ) यह प्राकृत तास या तासाम् का विकसित रूप है। पा०

तासाम या तेसानां < तेषां + * तानाम्, अप० ताहा < तासाम्। स्त्री ब० व० में पा० तासम् < तासाम्, प्रा० ताण (म्) <* तानाम्, पा० तासानाम् < तासां + * तानाम्, प्रा० तासिम् < तासिं < अप० ताहिं < ताहि।

(6) अधिकरण पुल्लिंग ए० व० में तहिं और तहि रूप होता है इसका विकास त+हि (भिः) से हुआ है। 'हि' करण ब० व० का चिह्न है, अधिकरण में भी प्रयुक्त हुआ। इसका प्रयोग **सन्देश रासक** में भी मिलता है :– 'किं तहि दिसि णहु फुरइ जुन्हणिसि णिम्मल चंदह। तहिं का उदाहरण :– 'तहिं तेहइ भड-घड-निवहि कन्तु पया सइ मग्गु। तेहिं रूप भी मिलता है जो कि प्राकृत तेसिं का विकसित रूप है।

(i) पुं०, नं० ए० व० के रूप का विकास–पा० तम्हि (तस्मिम् भी होता है) अप० तहिं <* तभिम्, तद्रु **हेमचन्द्र** के अनुसार। (ii) स्त्री० ए० व० पा० तस्सम < तस्याम्, तिस्सम <* तिस्याम् तायम् < * तायाम्, प्रा० ताये, तिये <* तायियि, * तियियि, तिअ * ताया (म्) अप० तहिं < ताहिं < * ताभिम्।

(i) पु० नं० ब० व० के रूप पा०, प्रा० तेसु, प्रा०, तेसुम् < * तेषुम्, अप० तहि <* ताभिम् या तेभिम् (ii) स्त्री० पा०, प्रा० तासु < तासु अप० ताहिं।

एत–(एष) एतद् शब्द का रूप। यह (एतद्) शब्द के लिये, अपभ्रंश के तीनों लिंगों में क्रम से कर्ता ओर कर्म के एक वचन में 'एह एहो एहु' और बहुवचन में 'एई' रूप होता है।

		एक०	बहु०
पुल्लिंग	कर्ता	एहो	एइ
	कर्म	,,	,,
स्त्रीलिंग	कर्ता	एह	एईउ, एहाउ
	कर्म	,,	,, ,,
नपुंसक लिंग	कर्ता	एहु	एइइं, एईइं, एहाइं
	कर्म	,,	,, ,,

उपर्युक्त रूप **हेमचन्द्र** के अनुसार दिया गया है। अपभ्रंश साहित्य में और भी बहुत से रूप दिखाई देते हैं। अतः मध्य भारतीय आर्य भाषा की पृष्ठभूमि में पूर्व अपभ्रंश के रूप दिखाई देते हैं।

	एक व०	**बहु०**
कर्ता–पुं०–	एसो, एसे, एसु, ए, एउ, एह, एहु, इह (एषा, इयं=)	पुं० – एए, एदे,
	स्त्री०–एस, एसा, एअ	नपुं०–एदे, एआइ, एयाइम, एयाणि
	नपुं०–एस, एअम	स्त्री०–एआओ, एयाओ, एदाओ, एया
कर्म० –	सभी लिंग–एअं, एयं, इदं	पुं० – एए
करण –	एएण, एएणं, एइणा, एदेण, हिण्णि, इम, एहि	एएहिं, एएहिं एदेहिं, इण्णि (आनया)
	स्त्री०–एयाए, एईए, एदाए, रूप पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी में चलता है।	स्त्री० – एयाहिं
पंचमी–	ऍत्तो, एदादो, °दादु, °दाहि– एत्ताहे, एआओ एआउ, एआहिं, °हिंतो, एआ, एत्थ ।	०
षष्ठी–	एअस्स, एदस्स, एदाह	एआण, एतेसि, एएसिं, एएसि, एयाणम्, एदाणम्।
सप्तमी–	एअस्सिम, एअम्मि, ऍयम्मि, एयम्मि, एयम्सि, एदस्सिम, एहउं, इत्थि (अस्यां)	स्त्री०–एआण, एईणम्, एआण, एयासिं, एयाणं सप्तमी–एएसु, एएसुं, एदेसुं, एदेसु, एहउं।

ये रूप **पिशेल** (§424) एवं **डॉ० तगारे** (§121) के आधार पर दिये गये हैं। इस शब्द का अधिकांश रूप इदं से, तथा एषः—एषा एतत् से सम्बद्ध है। इत्थि का प्रयोग अधिकरण में पाया जाता है। 'त्य' विभक्ति चिह्न जो मूलतः 'त्र' प्रत्यय (तत्र, यत्र, अत्र) का विकास जान पड़ता है, **डॉ० भोला शंकर व्यास**[56] के अनुसार सप्तम्यर्थ प्राकृत में ही प्रयुक्त होने लगा है। **हेमचन्द्र** ने इदं शब्द के साथ में त्थ शब्द का प्रयोग वर्जित माना है।[57] परिनिष्ठित प्राकृत में 'त्थ' शब्द का प्रचलन अवश्यमेव रहा होगा। क्योंकि अपभ्रंश में त्र प्रत्यय (> त्थ) वाले प्रयोग पाये जाते हैं :—

'जइ सो घडंदि प्रयावदी केत्थुविलेप्पिणु सिक्खु।
जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु।।

(हेम० 8/4/404)

एत्थु का विकास एत्थ (< एतत् + < त्र) के साथ अधिकरण ए० व० चिह्न 'इ' जोड़ कर मान सकते हैं :— 'इत्थ + इ' (< इदं या एतत् + त्र + इ) इसी से मिलता जुलता रूप पंजाबी में 'इत्थे' चलता है। 'इण्णि' (करण ए० व०) को एण्हिं या इण्हिं से जोड़ सकते हैं।'

(1) एतत् शब्द का प्रथमा एवं द्वितीया ए० व० पुं०, स्त्री० और नं० में क्रम से एहो, एह और एहु रूप होता है। पा०, प्रा० एसो < अप० एहो < एषः। प्रा० एस, अप० एह < एष (:)

(2) स्त्री ए० व० पा०, प्रा० एषा, अप० एह < एषा।

कर्ता० कर्म० ए० व० नपुं० पा० एतं < * एतम, **अशो०** एस, एसे, अप० एह, एहु < एष (:) अप० एहउं (केवल कर्म में) < * एषकम।

प्राकृत एस का आधार प्रा० भा० आ० एष है। अप० एह (< प्रा० भा० आ० एष) और एह-अ (< एषक) की प्रवृत्ति का परिणाम ह का उच्चारण प्रा० भा० आ० के स्वर में होने लगा। एक वचन में उ और ए को ई अपभ्रंश में हो गया। पुल्लिंग में प्रयुक्त होने वाला ओ नपुंसक लिंग में भी प्रयुक्त हुआ। इससे प्रतीत होता है कि इस समय लिंग का भेद शनैः शनैः मिट रहा था। ए की विशेषता पूर्वीय अपभ्रंश में पायी

जाती है। **हेमचन्द्र** ने आ का विधान किया है। एहा (8/4/445) और एयं रूप भी कहीं कहीं मिलता है। * एष–क > एह–अ > एहा। एह की व्युत्पत्ति इदृश या काल्पनिक रूप * आदृस > अइस > अइस > एस > एह से है। एहो, एहु रूप के साथ साथ कहीं कहीं ऍउ और इउ रूप भी मिलता है। **पुष्पदन्त** की रचनाओं में एहउ = एतद् रूप भी मिलता है। इस प्रकार पुं० प्र० ए० व० में रूप होगा–इह, इहु, ऍहु, और एस। नं० ए० व० में रूप होगा–इउ, ऍउ, इहु, ऍहु और एहु।

पुं० ब० व० में प्रा० ए (द) ए, अप० एइ < एते। एहउं रूप भी मिलता है जो कि = * एषकम् (हेम० 8/4/362) कर्म पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग में भी प्रयुक्त होता है।

स्त्री ब० व० में प्रा० ए (द) आ ओ < एताः अप० एईउ, एहाउ। प्रथ०, कर्म, ब० व० नं० में प्रा० ए (द) आ इ (म्) < * एता + इम्, ए (द) ए, अप० एइइं, एईइं, एहाइं।

करण पुं० ए० व० –प्रा० ए एण (म्) < एतेन, प्रा० एदिणा < * एतिना प्रा० एहेण < अप० एहें < एतेन।

पु० ब० व० प्रा० ए (द) ए हिम < * एताभिम् अप० एयाहिं या एहे हिं सम्बन्ध के बहुवचन में भी इसी तरह के रूप होंगे एय–हा, आयहं। स्त्री० में एयाहिं < एताभिम्।

अपादान ए० व० प्रा० ए (द) आ (द) ओ, ए (द) आ (द) उ < * एतत् + तास, एआ < * एतात् (आत्, तात्, यात् ऋग्वेद), ए (द) आहि < * एताहि, प्रा० एत्तो, एत्तहा (क्रमदीश्वर), एत्तहे, अप० एत्तहे, एत्ताहे किन्तु एत्ता = एत वर्ग से निकला है और ताहे की भाँति स्त्रीलिंग का अधिकरण एक वचन का रूप माना जाना चाहिये। अप० में इस एत्तहे का अर्थ 'यहाँ से' होता है और इसका दूसरा अर्थ 'इधर' है (हे० 8/4/436) इसके अनुकरण पर अप० में तेत्तहे रूप भी बना है जिसका अर्थ 'उधर' है।

सम्बन्ध पुं० ए० व०–प्रा० एअस्स < एतस्य अप० एहो, एहु, एअस्स आदि। ब० व० में प्रा० ए (द) आ ण (म्) < * एताणाम, एइणम < * एतीनाम्। एयहि, आयहं।

अधिकरण ए० व० में **अशो०** एतम्हि < एतस्मिन् पा० एतसि < एतस्मिन् या * एतसि, अप० इहि, एहिं > इहि-हि प्रा० भा० आ० स्मिन् ब० व० में जै० महा० एएसु, एएसुं, शौर० एदेसुं और एदेसु < एतेषु भी होता है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश का एह वाला रूप आगे चलकर अवहट्ठ अवधी, व्रज और खड़ी बोली में प्रचलित हुआ।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण में एह का बहुवचन रूप एन्ह मिलता है–'एन्ह मांझ' (उक्ति०)। एन्ह का परिवर्तित रूप इन्ह, इन्हें इन आदि आधुनिक हिन्दी में मिलता है।

कीर्तिलता में ए (ये) के स्थान पर ई मिलता है जो कि पूर्वी प्रदेशों की विशेषता है :–'ईणिच्चइ नाअर मन मोहइ' (पृ० 4) इसके अतिरिक्त उसमें एहु, एही और एहि रूप भी मिलता है :–

राय चरित रसाल एहु (पृ० 8)

एहि दिण्ण उद्धाँर के (पृ० 18)

जनि अद्य पर्यन्त विश्वकर्मा एही कार्य छल (पृ० 50)

अवधी और व्रज में भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं।

एहि महँ रघुपति नाम उदारा (मानस)

मैं जो कहा यह कपि नहिं होई (मानस)

ये बतियाँ सुनि रूखीं (सूर०)

आधुनिक हिन्दी में भी यह, ये इत्यादि रूप पाये जाते हैं।

आय, आअ, अ = इदम् शब्द का रूप

प्राकृत में इस शब्द के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन

कर्ता :– पुल्लिंग – अयं (अ० मा०, जै० महा०), अअं (सा० धम्म०) इमो (म०) इमे (अ०मा०)

नपुं० – अयं (अ० मा०) इमं० (मा०) इदं (महा०, अ० मा०, शौ०) इणम् (महा०)

स्त्री० – इमा, इमिआ, इअं (शौ०), अयं (पै०, अ० मा०)

कर्म० – पुं०, स्त्री० नपुं० – इमं, पुं०–इणं (अ० मा०)

पु०–एणं (महा०, शौ०, मा०)

करण–पुं०–एण (महा०) अणेण, °णम (अ० मा०), इमेण (महा०, जै० महा०, अ० मा०) इमिणा (जै० महा०, शौ० मा०), इमेणं (अ० मा०)

स्त्री० – इमिए, इमअ (महा०), इमाए (शौ०)

अपादान – पुं०–आ, इमाओ (जै० महा०, अ० मा०), इमादो (शौ०, मा०)

सम्बन्ध – पुं०–अस्स (महा०, जै० महा०), इमस्स, इमश्शा (मा०)

स्त्री० – इमीए, इमीअ (महा०, जै० महा०, शौ०), इमीसे (अ० मा०), इमाए (जै० महा०)

अधिकरण – पुं०–अस्सिं (महा०, अ० मा०), अयंसि (अ० मा०), इमम्मि (महा०, अ० मा०)

इमंसि (अ० मा०), इमस्सिं (शौ०), इमश्शिं (मा०)

स्त्री० – इमिसे (अ० मा०), इमाइ (जै० महा०)

बहुवचन

कर्ता – पुं०–इमे, नं० इमाइं (शौ०), इमाणि (अ० मा०, जै० महा०)

स्त्री० – इमाओ, इमा, इमीउ (महा०)

करण – पु०–एहि, एहिं (अ० मा०, ठक्की), इमेहि (महा०), इमेहिं (महा०) इमेहिं (अ० मा०, शौ०)

स्त्री० – आ–हि, इमाहिं (अ० मा०)

सम्बन्ध–पुं०–एसिं (महा०), इमाण (महा०), इमेसिं (अ० मा०)।

स्त्री० – इमाणं (महा० शौ०), इमिणं (महा०), इमासिं (अ० मा०)।

अधिकरण–पुं० – एसु (जै० महा०), इमेसु (महा०, शौ०) इमेसुं (शौ०)।

इस प्रकार इस शब्द की रूपावली तीनों लिंगों में प्रायः एक सी ही है। तीनों लिंगों का अन्त रूप अकारान्त ही होता है। इस सर्वनाम शब्द की रूपावली में ए और एय एक सा मिला हुआ है। इस कारण यह बहुत कुछ संस्कृत एतद् शब्द के रूप से भी मेल खाता है। **दोहा कोश** में ए का प्रयोग ए < एतद् > एअ से अधिक समता है। आअ + ए >* आ + ए > ए,–ए से उतना सम्बन्ध नहीं रखता है। इदम् से भी एअ और एय रूप बनता है। एतद् के एय शब्द के षष्ठी एक वचन में एयहु रूप होता है और इदम् शब्द के रूप में भी हु का प्रयोग होता है तथा आयहो रूप भी होता है। इसी प्रकार सप्तमी ए० व० में एयइ दोनों के शब्द रूप में होता है। एतद् और इदम् शब्द के रूपों में एकता हो जाने के कारण दोनों का भेद मिट गया और आगे चलकर इसी कारण इदम् शब्द का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता।

एतद् और इदम् शब्द निकटवर्तिता तथा निश्चय वाचकता का बोधक है। **हेमचन्द्र**[58] ने इदम् शब्द की जाह आय आदेश अपभ्रंश के लिये किया है। इदम् शब्द के इमु रूप का भी उसने विधान किया है। आय शब्द की रूपावली इस प्रकार होगी–

	एक०	**बहु०**
कर्ता० –	आयु, आयो, आय, आया	आये, आय, आया
कर्म० –	आयु, आय, आया	आय, आया
	नपुं०–आयइं,	नपुं०–आयइं
करण०–	आयेण, आयेणं, आयें	आयेहिं, आयहिं, आयाहिं
	नपुं०–आयइं, आयइ	
पं० ष०–	आयहो, आयहु, एहो, एहु	आयहं
अधि०–	आयहिं, इमम्मि, एयइ	आयहिं

इस शब्द की रूपावली का विकास क्रम इस तरह से माना जा सकता है।

(1) प्र० पुं० ए० व० में पा० अयं, प्रा० अअं < अयं (**पिशेल** के अनुसार < * अदं = अदः), प्रा० इमो, इमे, अप० इमु < इमं (कर्ता और कर्म नपुं० में) अप० एहो, एहे, एह < एषः, एष, एषा। स्त्री० ए० व० प्रा० (शौ०) इअं < इय, **अशो०** (शौ०, महा०) अयि < अयं (पुं० नपुं० के अर्थ में) * अयः, प्रा० इमा (< इमाः ए० व० के लिये ब० व० का प्रयोग या * इमा), इमिआ (< * इमिका), अप० एह < एषा, अप० एहो, एहु < एषः।

(2) कर्ता, कर्म, ए० व० नपुं०–पा०, प्रा० इमं < इदं, प्रा० इमे, अप० इमु < इमं, अप० इणं (क्रमदीश्वर) < इ+एनं, अप० इणमु (क्रमदीश्वर) < इ+एन[59] + इमम। ब० व० में इमाइं < इमानि।

(3) करण–पुं० नपुं०, ए० व०–पा० इमिना, प्रा० इमिणा < * इमिना, पा० अमिना < अमु + * इमिना, **अशो०** इमेन, प्रा० इमेण, अप० एं < * इमेन, एण < **ऋग्वेद** एना, पा० अनेन < अनेन, अप० आएण < * आएन, प्रा० इमेसिं (षष्ठी ब० व० का तृतीया एकवचन के अर्थ में) अप० इम्हेहिं। तृतीय० पु०, नपुं०, ब० व० – पा० इमेहि < * इमेभिः, पा०, प्रा० एहि < एभिः, अप० एहि, प्रा०, अप० एहिं < * एभिं। स्त्री० प्रा० अणाहि (म्), अप०–आयाहिं, आयहिं, आयेहिं < * आयेभिं। तृतीय० पु०, स्त्री० पा० एहि, इमेहि, प्रा० आहि < आभिः।

(4) सम्बन्ध, पुं०, नपुं०, ए० व०–पा०, प्रा०, इमस्स < इमास्य (ऋग्वेद 8/13/41), पा०, प्रा० अस्स < अस्य, अप० आअहो, आयहो < * आयस्य सम्बन्ध, पुं०, नपुं०, ब० व०–पा० एसां < एषां, एसानं < * एषानां या एषां + नां, इमेसं < * इमेषां, इमेसानं, महा० एसिं < * एसिं, अप० एहिं या एहं, अप० आअहं, आयहं < * आयसां। सम्बन्ध–पुं०, स्त्री०, नपुं०, ब० व० – प्रा० (क्रमदीश्वर) इमाण < * इमानां, इमिना < * इमिना (म्), इमेसिं < * इमेसिं, अप० इमेहिं < * इमेसिं (तृतीया की तरह)।

(5) अधिकरण पुं० नपुं०, ए० व०–पा० इमम्हि, प्रा० इमस्सिं < * इमस्मिन्, प्रा० अस्मिं, प्रा० अस्सिं < अस्मिन्, प्रा० आअम्मि < * अयस्मिन्, प्रा० इअम्मि < * इयस्मिन्, अप० आअहिं < * आयमिं पुं०, नपुं० ब० व०–पा०, प्रा० एषु, पा० इमेसु < * इमेषु अप० इमेहु इमेहिं <* इमेषु। स्त्री० ब० व० इमासु <* इमासु, अप०–इमाहिं < * इमास्यां।

श्री पिशेल ने (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण–पृ० 637) में दिया गया है कि किसी इ–वर्ग का अधिकरण कारक का रूप इह है जिसका अर्थ (यहाँ) होता है और =* इत्थ है। अप० में यह पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों में प्रचलित है = अस्मिन् और अस्याम्, अप० का इत्थिँ रूप जो सब प्राकृत बोलियों में ऍत्थ है = वैदिक इत्था का परिवर्तित रूप है। महा०, अ० मा० तथा जैन महा० रूप ऍण्हिं और इण्णि है जिसका अर्थ 'अभी' है। अपभ्रंश एवँहिँ या एम्वहिँ है जिसका अर्थ अभी या इस प्रकार है। "एम्वहिं राहअपओहरहं जं भावई तं होई" (हेमचन्द्र)। परवर्ती अपभ्रंश पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि इदम् शब्द का रूप घिसते घिसते हिन्दी में आकर बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट हो गया। केवल (बनारसी) भोजपुरी आदि बोलियों में इ मात्र अविशिष्ट रह गया है जैसे–ई सब सुनत हैं, इनन्हिं पचन तें कहत हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश के समय में ही आय (इदम्) शब्द लुप्त सा हो चला था। आगे चलकर अवहट्ट, अवधी, व्रज और खड़ी बोली में एह की परम्परा चली। **कीर्तिलता** में ई शब्द मिलता है–**ई णिच्चइ नाहर मनमोहइ**।

अदस् (अस, अम) शब्द का रूप

दूरवर्ती निश्चय बोधक संस्कृत अदस् शब्द का रूप अपभ्रंश ओइ होता है–'तो बड्डा घर ओई (हेम० 8/4/364)। इसका रूप अपभ्रंश में बहुत कम मिलता है। जैसे अपभ्रंश एह, एइ से हिन्दी में यह, ये इत्यादि बना है वैसे ही संभवतः एह के तुक पर ओह एवं ओई से वह, वे इत्यादि बना है। परिनिष्ठित अपभ्रंश के समय में ही संकेत निर्देश के लिये ओई शब्द से ओ मात्र अवशिष्ट रहा जैसे–**ओ गोरी**

मुह निज्जिअउ (हेम०)। अपभ्रंश पंचमी एक वचन ओहाँ आजकल हिन्दी में वहाँ प्रयुक्त होता है। अपभ्रंश ओहो का हिन्दी में ओहो आश्चर्य के लिये प्रयुक्त होता है। मैथिली में ओहु मगही आदि में उहो आदि होता है। इसी ओह का ओहु तथा आधुनिक हिन्दी में उस, उन, उन्हें इत्यादि प्रयुक्त होता है।

पिशेल ने पालि, प्राकृत आदि भाषाओं में प्रयुक्त आमु शब्द की रूपावलि दी है। उसी में उन्होंने यह भी कहा है अपभ्रंश में कर्म कारक पुल्लिंग का रूप अमुं है। (पिशेल §432)। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृत अमु शब्द का रूप यत्र तत्र पूर्ववर्ती अपभ्रंश में अवश्यमेव पाया जाता होगा।

कर्ता पुं०, स्त्री० ए० व०–पा० असु < * असो या असः, प्रा० अहो (क्रमदीश्वर) < * असउ; पा० अमु (केवल पुं०), प्रा० अमू < * अमूः। कर्ता, कर्म–नपुं–पा० अदुं < अदस् + म्, प्रा० अमुं। कर्म० पु०, नपुं०, पा०, प्रा० (व्याकरण) अमुं < अमूं। करण, पुं०, पा०, अमुना, प्रा० अमुणा < अमुना; करण स्त्री०, पा० अमुया < अमुया, अप० पुं०, पा० अमुम्हा, अमुस्मा < अमुस्मात् प्रा० (व्याकरण) अमूओ, अमूउ < अमुतः। अपादान–स्त्री०, पा० अमुया सम्बन्ध–पुं०, पा०, प्रा० अमुस्स < अमुष्य, प्रा० (व्याकरण) अमुणो < * अमुनः, सम्बन्ध-स्त्री०, पा० अमुस्सा < अमुस्याः, अमुया < * अमुयाः, (करण का०)। अधिकरण पुं०, पा० अमुम्हि, अमुस्मि, प्रा० अमुम्मि < अमुस्मिन्, अप० अअम्मि < * अदस्मिन्; अधि०–स्त्री०, पा० अमुस्सां < अमुस्याम्।

कर्ता–कर्म, पुं०, स्त्री०, ब०, व०–पा० अमू < अमूः (स्त्री०), अमुयो < * अमुयः प्रा० अमुणो (केवल पुं०) < * अमुनः, अमूओ (अमूउ भी) < * अमूयः, प्रा० (व्याकरण) अहा < * असाः या असानि * अस के आधार पर कहा जा सकता है। कर्ता, कर्म, नपुं०, पा० अमूनि, प्रा० (व्याकरण) अमूणि, अमूइं < अमूनि, * अमू + इं। पा०, प्रा०–करण–अमुहि < अमूभिः (स्त्री०), सम्बन्ध पा० अमूसं < अमूषां (स्त्री०) अमूसाणं (अमूषाम् + नाम्), अमूण (व्याकरण) < * अमूनाम्। अधिकरण, पा०, प्रा० अमूसु < अमूषु (स्त्री०)।

सम्बन्ध वाची सर्वनाम—जो (यत्)

पुल्लिंग

	एक०	बहु०
कर्ता० —	जु, जो, जं	जे
कर्म० —	जं	जे
करण —	जेण, जिं, जें	जेहिं
अपा०	जउ, जहे, जहाँ, जहँ	जहु
सम्बन्ध—	जस्स, जसु, जासु, जहो, जहे	जाहँ, जाह
अधि० —	जहि, जम्मि, जहिं	जहिं, जहु

नपुंसक लिंग

	एक०	बहु०
कर्ता०	जं, धुं	जाइं
कर्म०	जं, जु	जाइं

शेष पुल्लिंग के समान रूप होगा।

स्त्रीलिंग

	एक०	बहु०
कर्ता०	जा, जे,	जाउ
कर्म०	जं	जाउ
करण—	जाइँ, जाएँ, जिए	जेहिं
अपा०—	जाहे, जहे	जाहिं
सम्बन्ध—	जाहि	जाहिं
अधिकरण—	जाहि	जाहिं

कर्ता० पुं०, ए० व० में पा० यो, प्रा० जो, < यः, पा०, या, प्रा०, अप०, जा < या, अप० जेहिं (तृतीया पुं० से); कर्ता, कर्म० नपुं०, पा० यं० प्रा०, अप० जं। **अशो०** यो, अप० जु < यः (पुल्लिंग), अप० जेहु < * येषः, जुं (क्रमदीश्वर के अनुसार) धुं (**हेमचन्द्र** के अनुसार)। कर्म, पुं०, स्त्री०, पा० यं, प्रा०, अप० जं < यां। करण, पुं०, नपुं०, पा० येन, प्रा०, अप० जेण। जें (जे)। प्रा० जिणा < * यिना (ऋग्वेद अना)। तृतीया–पंचमी, स्त्री० पा० याय, अप०, जाइं, जाहे। पंचमी पुं०, नपुं० पा० यम्हा, यस्मा < यस्मात्, प्रा० जम्हा, अप० जम्हां, जहाँ। सम्बन्ध, पुं०, नपुं०, पा० यस्स < यस्य, अप० जाह < * यास = यस्य, अप० जासु (स्त्री०) < * यस्याः या यासु, जस्सु, जसु (सप्तमी ब० व०), सम्बन्ध, स्त्री०, पा० यस्सा < यस्याः, याय (तृतीया, पंचमी), अप० जासु, जाहे, जाहि < * यास (य) अइ। सप्तमी, पुं० नपुं०, पा० यम्हि, अप० जम्हि, जहिं, जहि, जाहि < * याभिं; जाए, जीए, जद्रु (क्रमदीश्वर)। सप्तमी, स्त्री० पा० यस्सा (षष्ठी-सप्तमी के अर्थ में), अप० जस्सम्हि, जम्हि, जाहि < यस्य + स्मिन्, जाम (= यस्मिन् प्रा० पैंगलं, 2,133), जाए, जीए। **प्राकृत पैंगलम्** में जहा रूप भी मिलता है। जही तथा जहि रूप भी पाया जाता है। **हेमचन्द्र** 8/2/162 के अनुसार यत्र के अर्थ में जहि और जह रूप भी चलते हैं।

कर्ता० पुं०, ब०, व०–पा० ये, प्रा०, अप० जे, अप० जि < यः। कर्ता० स्त्री०, ब० व०, पा० या, प्रा० जा, अप० जाउ < याः। कर्ता, कर्म०, नपुं०, पा० यानि < यानि, अप० जाइं < यानि। करण पुं०, स्त्री–अप० जेहि, जेहिं < येभिः (ऋग्वेद) या * येभिम्। सम्बन्ध, पुं० नपुं०, पा० येसं, येसानं < येषां + नां, अप० जहां < * यसाम्, प्रा०, अप० जाण (म्) < * याणाम्, अप० जाहं, जाह। सम्बन्ध स्त्री०, अ० मा० यसिं अप० जहिं। सप्तमी पुं० अशो० येसु, अप०–जेसुं **प्राकृत पैंगलम्** में (2,151) में यह रूप * पाया जाता है। यह जेसु (< येषु) का वैकल्पिक रूप हो सकता है। आधुनिक हिन्दी में इसी जो (यत्) से जो, जिन्हें, जिनका आदि बना है।

क < किम्–क्या, कौन–प्रश्न वाचक, और अनिश्चित सर्वनामः–

पुल्लिंग

	एक०	बहु०
कर्ता–कर्म०–	को, कु	के
करण–	केण, कइं,	केहिं
अपादान–	कउ, किहे, (कहे), कहाँ,	कहु
सम्बन्ध–	कहो, कहु, कस्स, कासु	काहं, कह
अधिकरण–	कहि, कहिं	कहिं

नपुंसक लिंग

	एक०	बहु०
प्रथमा– कर्म	किं	काइं

स्त्रीलिंग

	एक०	बहु०
प्रथमा, कर्म	का, क	कायउ, काउ
तृतीया–	काइं, काए	केहि, काहि
पंचमी	काहे	काहिं
षष्ठी–	काहिं, काहि	काहि
सप्तमी	काहिं	काहिं

प्रश्न वाचक एवं अनिश्चय वाचक किम् शब्द का रूप अपभ्रंश में तीन प्रकार से मिलता है—क, किं एवं अन्तिम कवण[60] का रूप अधिक पाया जाता है। इसी कवण (कवण < कउणं < कौन) से आधुनिक हिन्दी का कौन शब्द बना है। काइं रूप नपुंसक लिंग में पाया जाता है। किम् शब्द के 'क' में सं० अपि का वि होकर, कवि, केवि, कुवि या किंपि और केणवि इत्यादि रूप पाये जाते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में काइं का रूप विनष्ट हो गया। हिन्दी में कौन, किनका, किनसे,

किन्हें आदि कवण का ही विकसित रूप अधिक प्रचलित है। अपभ्रंश में प्राकृत किं शब्द का भी प्रचलन रहा जैसे–'किं गज्जहिं–खलमेहं' (हेम०)। अपभ्रंश में कवि शब्द भी प्रचलित है–'कवि घर होइ विहाण' (हेम०) तथा कोइ रूप भी पाया जाता है। 'देहु म मग्गहु कोइ' (हेम०)। आधुनिक हिन्दी में कोई अव्यय के रूप में प्रचलित है। इस तरह इन रूपों को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) अनिश्चित सर्वनाम पि, वि, मि, इ, < सं०, अपि, चि < सं०, चित् आदि।

(ख) किं का काइं रूप अव्यय के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(ग) कवण (कोण) प्रश्न, वाचक सर्वनाम के रूप में, कवणु, कवण (स्त्री०) आदि।

कवण शब्द का रूप भी अन्य सर्वनाम शब्दों की भाँति होगा। सर्वनाम क प्रा० भा० आ० के विविध कि, की में दीखता है। किन्तु प्रा० भा० आ० का कि, की म० भा० आ० में कभी भी निश्चित रूप से स्त्रीलिंग के लिये ही प्रचलित नहीं था। क शब्द के रूप का विकास इस प्रकार देखा जा सकता है।

कर्ता०, पुं०, ए० व०–पा०, प्रा०, अप०, को, अप०, कु, पा०, प्रा०, अप० के < कः, अप० केहे <* कयसः (= कयस्य) या * कषः। स्त्री० अप० केहि। कर्ता, कर्म, नपुं०, पा० किं, प्रा० किं, अप० किं, कि < किं। **डा० तगारे** (§127) ने 'को' रूप को मुख्य माना है। कु (क+उ) का प्रयोग 600 ईस्वी से होता आ रहा है। कु का प्रयोग पूर्वी भारत में नहीं होता था। काइं प्रयोग (हेम० 8/4/367) वस्तुतः नपुंसक लिंग के बहुवचन–क + आइं है जिसका ए० व० में काई और काइ रूप भी कहीं-कहीं मिलता है। किं या कि रूप पूर्वी अपभ्रंश में अधिक प्रचलित था। कि रूप मैथिली, मगही और बंगला आदि में अधिक प्रचलित है। अई और आई नपुंसक बहुवचन में होता है। अतः काइं और काई मूलतः नपुसंक लिंग के रूप हैं। कि (< कि) का प्रयोग **पाहुड़ दोहा** तथा **सावयव धम्म दोहा** में पाया जाता है। किं तथा किंपि का प्रयोग **दोहा कोश** में पाया जाता है।

(1) को < कः, का < का (स्त्री०), किं-कि-की (< किं) काइ–काइँ (< कानि), के (< के, ब० व० रूप)।

कवण शब्द का प्रयोग **डा० तगारे** के अनुसार सर्व प्रथम छठी शताब्दी जोइन्दु के **परमात्म प्रकाश** में पाया जाता है। तब से लगातार इसका प्रयोग 1200 ई० तक होता रहा। इसकी व्युत्पत्ति कमन (सामान्यतया क+पुनर् से कँवण की संभावना की जाती है) < कम + अ (या क+म) + न। इस आधार पर इसका रूप इस प्रकार हो सकता है। कर्ता–कर्म, नपुं० ए० व०, **अशो०** कि (म्) मम < * किमम; निय प्रा० कम (म) < * कमम, अप० केम, किम, किव < * केमम, * किमम, अप० किमप (क्रमदीश्वर के अनुसार) < * किमबम् < * किम (म्) अम्, कमणु, पुं०–अप० कवणु < * कमनः, स्त्री अप०–कवण < * कमना, करण–प्रा० किणा < कि+ना या * किन + आ, अप० कव णेण < * कमनेन; अपादान–अप कवणहे <* कमनसः, कवणह < * कमणस।

करण–पा० केन < केन, प्रा० किना < * किना, केन अप० केण, केणु, कइं < * केनः। अपादान पा० कस्मा, प्रा० कम्हा < कस्मात्, अप० कहाँ, पा० किस्मा < * किस्मात्, प्रा० किणो < किनः (अप० तृ० किणु, किनु), कत्तो <कात + तस्, क ओ < * कतः काओ < * कातः, अप० कऊ < कतः, काहं, काहँ < का + हम (क्रिया विशेषण); सम्बन्ध–पुं०, नपुं० प्रा० कस्स < कस्य, प्रा० कास, मा० काह०, अप० कासु, काहे < * कास (:); पा० किस्स स्सु < * किष्य सु, महा० कीस, अप० किसे, किहे, कहु, काहु, काहो काह, अधिकरण० पु०, नपुं०, पा० कम्हि, कस्सिं, प्रा० कहिं < * कभिम्, अप० कहिं, कहि, स्त्री० अप० काहिं < * काभिम्।

अनिश्चय सूचक :–'कोई' शब्द है। इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'कः + अपि' (कोऽपि) से मानी जाती है। प्रा० भा० आ० कोऽपि > म० भा० आ० कोवि > अप० कोइ। हिन्दी 'किसी' तथा 'किन्हीं' की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी जाती है।[61] 'कस्यापि > कस्सवि > कस्सइ > हि० किसी (रा० कस्या); केषामपि > * कानामपि > म० भा० आ०

काणंपि, काणंवि > काणइ > किन्हीं (यह व्युत्पत्ति पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो पाती।)

साकल्य वाचक सव्व = सब (सर्व) शब्द

एक०	बहु०
कर्ता–सव्वु, सव्वो, सव्व	सव्वे, सव्व, सव्वा
कर्म–सव्वु, सव्व, सव्वा	सव्व, सव्वा
करण–सव्वेण, सव्वें	सव्वेहिं (सव्वेसिं)
अपादान–सव्वहाँ, सव्वाहां	सव्वहुं, सव्वाहुं
सम्बन्ध–सव्वसु, सव्वस्सु सव्वहो, सव्व, सव्वहा	सव्वहं, सव्व, सव्वा
अधिकरण–सव्वहिं	सव्वहिं

नपुंसक लिंग

एक०	बहु०
कर्ता–सव्वु, सव्व, सव्वा	सव्वइं, सव्वाइं
कर्म–सव्वु, सव्व, सव्वा	सव्वइं, सव्वाइं

शेष रूप पुल्लिंग की तरह होंगे।

सर्वार्थ बोधक संस्कृत सर्व शब्द का प्राकृत में सव्व के बाद अपभ्रंश में साह एवं सव्व दोनों शब्द चल पड़ा। साह[62] शब्द संभवतः सर्वोपि > सव्वोमि > सहि > साह। **पिशेल**[63] ने साह शब्द की व्युत्पत्ति शाश्वत् से मानी है जो कि उचित है। प्रथमा ए० व० में साहु एवं सव्वु > सर्वः रूप होता है। द्वि०, ए० व० में साहु, साहं, सव्वु एवं सव्वं होगा। ब० व० में साहे एवं सव्व आदि। तृ० ए० व० में साहें, सव्वेण, सव्वें इत्यादि रूप पूर्ववर्ती रूपों की तरह होगा। और भी शब्द सर्वादि गण में हैं जिनका उल्लेख **हेमचन्द्र** ने अपने अपभ्रंश सूत्रों में नहीं किया है, पर वे शब्द प्राकृत में तथा अपभ्रंश दोहों में भी पाये जाते हैं।

निज वाचक अप्प या अप्पण (आत्मन्) शब्द

एक०	बहु०
प्रथमा--अप्पा, अप्पो, अप्पाणो (महा०)	अप्पाणो, अप्पा (महा०) अप्पाणा (अ० मा०)
द्वि०--अप्पाणं (महा०, अ० मा०) अप्पं अप्पणअं (महा०)	'' '' ''
तृतीया--अप्पण (अ० मा०, जै० महा०, शौ०) अप्पेण, अप्पें, अप्पणेण, अप्पणा, अप्पें, अप्पणें	अप्पेहिं, अप्पहिं
पंचमी--अप्पह, अप्पहु, अप्पण, अप्पाण, अप्पहो,	अप्पहु, अप्पणहु
सम्बन्ध--अप्पणहो, अप्पणस्स, अप्पणसु, अप्पणहो, अप्पणहु	अप्पणहं, अप्पहं
सप्तमी--अप्पे, अप्पि, अप्पी, अप्पेसु	अप्पाहि, अप्पणहिं

निज वाचक आत्मन शब्द का प्राकृत में त्त तथा प्प होता था। अपभ्रंश में अप्प तथा अप्पण दोनों प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। हिन्दी आप शब्द की व्युत्पत्ति इसी अप्प से हुई है तथा अपना विशेषण वाचक शब्द अप्पण से बना है। अपभ्रंश में आत्मन्+क=अ=अप्पण शब्द का प्रचलन अधिक है। प्राकृत अप्प शब्द भी अपभ्रंश में प्रचलित है। **हेमचन्द्र** अपभ्रंश दोहों में दोनों शब्द प्रचलित है। 'अप्पउँ तडि घल्लन्ति' (हेम०), **फोडेन्ति जे हियडउँ अप्पणउँ ताह पराई कवण घृणु** (हेम०)। अप्पणु का प्रयोग--'अप्पणु जणु मारेइ' (हेम०)। अप्पण--'जो गुण गोवइ अप्पणा' (हेम०)। अप्पाणु रूप भी पाया जाता है--**पिये दिट्ठे हल्लो हल्लेण को चेअइ अप्पाणु** (हेम०)। तृतीया एक वचन में अप्पें और अप्पेणं रूपं मिलता है--'अह अप्पणें न भन्ति' (हेम०)। पंचमी एवं

षष्ठी एक वचन में अप्पहो रूप होता है। षष्ठी में अप्पाण भी हो सकता है।

संस्कृत इतर और अन्य सर्वनाम शब्द का रूप भी अपभ्रंश दोहों में पाया जाता है। अन्य शब्द का रूप प्राकृत के बाद अपभ्रंश में प्रथमा एवं द्वितीया एक वचन में अन्न या अन्नु रूप मिलता है–'जइ उप्पत्तिं अन्नु जण' (हेम०) 'अन्नु वि जो परिहविय तणु–(हेम०) 'अन्नु वहिल्लइ जाउ' (हेम०)। बहुवचन में अन्ने या अन्नइ रूप होगा। तृ० ए० व० में अन्नें होता है। ब० व० में अन्नेहिं होगा। पंचमी एवं षष्ठी ए० व० में अन्नह तथा ब० व० में अन्नहं होगा। सप्तमी ए० व० में अन्नहिं रूप मिलता है–'अन्नहिं जम्महिं वि' (हेम०)–संस्कृत अन्यस्मिन् का विकसित रूप है।

संस्कृत इतर शब्द का रूप अपभ्रंश के प्रथमा ए० व० में इयरु होता है। 'इयरू वि अन्तरु देइ' (हेम०) स्त्रीलिंग में इयरा होगा। षष्ठी ए० व० में इयरहु, इयरस्सु होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का रूप अपभ्रंश के समय में नष्ट हो गया था। केवल प्रथमा का रूप अवशिष्ट रहा। वह भी प्राकृत के प्रभाव के कारण।

सार्वनामिक विशेषण

सार्वनामिक विशेषण के तीन मुख्य भेद होते हैं (1) परिमाण (2) गुण और (3) स्थान के अनुसार।

(1) परिमाण वाचक

परिमाण वाचक सार्वनामिक विशेषण निम्नलिखित तीन प्रकार के वर्गों के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं:–

(क) एत्तिउ, जेत्तिउ, तेत्तिउ, केत्तिउ (हेम० 8/4/341) < सं० * अयत्यः, * ययत्यः इत्यादि। पुरानी राजस्थानी में एतउ, जेतउ, केतउ, तेतउ होगा।

(ख) एत्तुलो, जेत्तुलो, केत्तुलो, तेत्तुलो, (हेम० 8/4/435), पुरानी राजस्थनी में एतलउ, जेतलउ, तेतलउ, केतलउ। गुजराती में एटलो, जेटलो आदि। हिन्दी में इतना, तितना, कितना, उतना।

(ग) एवडु, जेवडु, < सं० * अयवड्रकः, * ययवड्रकः = (हे० 8/4/407)–'जेवडु अन्तरु रावण–रामहँ तेवडु अन्तरु पट्टण–गामहँ। (हेम० 8/4/408) 'एवडु अन्तरु' केवडु अन्तरु' हिन्दी इतना, उतना कितना, जितना।

(2) गुणवाचक विशेषण

जइसो, जेहु–जैसा; कइसो, केहु–कैसा; तइसो, तेहु–तैसा; अइसो, एहु–ऐसा।

'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में इसके अस और ऐसे दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। को कस इहाँ (32/1), कैसें काह करत (32/1) अइस प्रत्यय के अतिरिक्त **हेमचन्द्र** ने (8/4/402) एहउ वाले रूपों का भी उल्लेख किया है केहउ मग्गण एहु आदि।

(3) सम्बन्ध वाचक विशेषण

एरिस–हिन्दी ऐसा–इसकी व्युत्पत्ति एतादृश >* एआरिस > एरिस के क्रम से हो सकता है। एरिसं, एरिस, एरिसि, एरिसिअ, एरिसिअं, एरिसही (= एतादृशैः); सं० एतादृक्, एतादृश > म० भा० आ० एदिस–एइस > हि० ऐस, ऐसा।

हमारिस–हि० हमारे जैसा, मादिस, मारिस < मादृश, अम्हारिस < हम्हारिस < अम्हादिस < अस्मादृश।

तुम्हारिस–तुम्हारे जैसा।

हमार, महार, महारउ, तुम्हार, तुम्हारउ।

इस सम्बन्ध वाचक विशेषण में आर, आरअ, स्त्री० एरि प्रत्यय लगा है। यह षष्ठी रूप म० भा० आ० के * कार, * कारि, < कार्य से व्युत्पन्न प्रतीत होता है। यह वस्तुतः परसर्ग केर, केरअ < प्रा० भा० आ० कार्य है।

प्रथम पुरुष, एक वचन पुल्लिंग–महार, महारउ

स्त्री०–महारि (< * मह-* कारी); हमार, °रि; मेर (<* म-केर), मेरी (<* म-केरी)

ब० व०–अम्हारय, अम्हारआ, अम्हारी (<अस्म-कार-क °कारी)

द्वितीया, ए० व०–तुहार, तुहारअ, तुहारऊ, (तुह * कार) तेरउ,

स्त्री०–तेरी (< त्व > त केर, ० केरी)

सर्वनामों के जिन रूपों के अन्त में ईय लगता है, उनमें से मईअ < मदीय का उल्लेख **हेमचन्द्र** ने 2, 147 में किया है। इन रूपों के स्थान में नहीं तो केर, केरअ और केरक काम में लाये जाते हैं (तुम्हकेरो < युष्मदीयः, अम्हकेरो < अस्मदीयः) कार्य का * कार < आर रूप बना और इससे अप० में महार और महारउ < * महकार बना। यह सम्बन्ध कारक एक वचन मह+कार से बना है। इसका अर्थ मदीय है। इसी भाँति तुहार < त्वदीय, अम्हार < अस्मदीय है। अप० में हमार छन्द की मात्रा ठीक करने के लिये हम्मार रूप इसी अम्हार से बना है। यह रूप * म्हार से * महार और इसी से हमार भी बना है। अप० रूप तोहर < युष्माकं, * तोहार के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। तुम्हार, * तोॅम्हार, तोॅहार और तोहार रूप भी पाया जाता है। **हेमचन्द्र** के अनुसार तुम्ह और अम्ह शब्द के आगे हार प्रत्यय लगाकर तुम्हार, तोहार और हमार शब्द बना है।

संदर्भ

1. डॉ० प्रबोध बेचरदास पण्डित–**प्राकृत भाषा** पृ० 51
2. **हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास** पृ० 332 प्रकाशन–नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
3. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 503।
4. **हिस्टॉरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश** पृ० 27–इन्ट्रोडक्शन से।

5. **प्राकृत व्याकरण** अपेन्डिक्स, पृ० 680–प्रकाशन पूना।
6. 'लिङ्गमतन्त्रम्' 8/4/445
7. **पिशेल प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 511, प्रकाशन–राष्ट्रभाषा परिषद पटना।
8. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 511 राष्ट्रभाषा परिषद पटना।
9. **हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास**–डॉ०उदय नारायण तिवारी पृ० 129
10. **अपभ्रंश पाठावली** पृ० 13
11. 'स्यमोरस्येद्वा' **हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण** 8/4/331
12. 'सौ पुंस्योद्वा' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/332
13. 'स्यमो जस्शसांलुक्' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/333
14. 'एट्टि' **हे० प्रा० व्या०** 8/3/333
15. 'आट्टोणोऽनुस्वारः'' **हे० प्रा० व्या०** 8/4
16. 'भिस्सुपोहिं' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/347
17. 'ङसेर्हेहू' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/336
18. 'भ्यसो हुं' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/337
19. 'ङसः सु होस्सवः' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/338
20. 'आमोहं' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/339
21. 'ङि नेच्च' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/334
22. 'एं चेदुतः' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/303
23. 'ङसिभ्यस् ङीनां हे हुं हयः' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/341
24. 'हुं चेदुद्‌भ्याम्' **हे० प्रा० व्या०** 8/4/340
25. **हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश** पृ० 150
26. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** पृ० 557
27. हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण पर अपेन्डिक्स पृ० 697

28. **हे० प्रा० व्या०** 'टा ए' 8/4/350
29. 'ङस् ङस्योर्हे' 8/4/350
30. भ्यसामोर्हुः 8/4/351
31. ङेर्हि 8/4/352
32. **हे० प्रा० व्या०** 'क्लीबे जस्शसोरिं' 8/4/353
33. **हे० प्रा० व्या०** 'किलाथवा-दिवा सह नहेः किराहवई दिवे सहुँ नाहिं' 8/4/419
34. पाणिनि "तेन सहेति तुल्ययोगे" 2/2/28
35. भयाणी–सन्देश रासक (Study) §73
36. तेस्सितोरी–अनु० नामवर सिंह–§70 (5)
37. वर्णरत्नाकर भूमिका §36
38. डा० सुभद्र झा–विद्यापति–भूमिका पृ० 153
39. डा० सु० कु० चा०–**उक्ति व्यक्ति प्रकरण**–भूमिका–§60
40. भयाणी **पउम चरिउ** भूमिका–§91
41. हे० प्रा० व्या० 'तादर्थ्ये केहिं, तेहिं, रेसिं रेसिं तणेणाः' 8/4/425
42. पाणिनि 'निपात एकाजनाङ्' 1/1/14
43. डॉ० तगारे §104
44. **पउम चरिउ** §95
45. हेमचन्द्र **प्राकृत व्याकरण** अपेन्डिक्स 8/4/355
46. 'पुरानीं राजस्थानी' अनुवादक–नामवर सिंह पृ० 84 ना० प्र० स०
47. **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** भूमिका §60-4
48. 'सिद्धहेमगत अपभ्रंश व्याकरण'–भूमिका पृ० 48–प्रकाशन बाम्बे।
49. **प्राकृत पैंगलम्**–डॉ० भोला शंकर व्यास–पृ० 230
50. डॉ० एस० के० सेन **कम्परेटिव ग्रामर ऑफ मिडिल इन्डो आर्यन** §77
51. Tagare §120; P. 214

52. तेस्सितोरि: §86, पृ० 108
53. **कम्परेटिव ग्रामर ऑफ मिडिल इन्डो आर्यन** पृ० 117
54. डा० भोला शंकर व्यास **प्राकृत पैंगलम्** भाग–2 §89, पृ० 221
55. डा० भो० शं० व्यास **प्राकृत पैंगलम्** भाग–2 पृ० 222 से उद्धृत 'वर्णरत्नात्कर' (Study §27)
56. **प्राकृत पैंगलम** भाग–2 पृ० 225
57. न थः (हे० 8/3/76) इदमः परस्य 'डेः स्सिं–म्मि–त्थाः' (8/3/59) इति प्राप्तः त्थो न भवति। इह, इमस्सिं, इमम्मिं। हे० प्रा० व्याकरण 8/3/76 सूत्र तथा वृत्ति।
58. 'इदमो आयः' प्रा० व्या० 8/4/365
59. इ का सामान्य आधार ऋग्वेद का इद, इम, ईम है। 'Comparative grammar of Middle Indo Aryan' के पृ० 117 से उद्धृत।
60. हेमचन्द्र–'किमः काइं कवणौ वा' 8/4/357
61. डॉ० भोला शंकर व्यास **प्राकृत पैंगलम्** भाग–2 §94।
62. हेमचन्द्र 'सर्वस्य साहो वा' 8/4/366
63. पिशेल **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** §64, 262

नवम अध्याय

अव्यय

वैसे शब्दस्वरूप जो तीनों लिंग एवं सातों विभक्तियों में एक से बने रहें अर्थात् जैसा उसका स्वरूप हो वैसा ही मध्य और अंत में भी बना रहे तथा जिनमें कोई विकास न हो उन्हें अव्यय कहते हैं। अव्यय शब्द, वाक्य और क्रिया के साथ संबंध रखता है। कहीं कहीं कोई कोई अव्यय प्रकृति के अर्थ को परिवर्तित भी कर देता है।

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।।

संस्कृत, पालि एवं प्राकृतादि में नाम तथा सर्वनाम शब्दों के बाद तद्धित एवं कृदन्त के कतिपय प्रत्यय लगाने से अव्यय बन जाते थे। अपभ्रंश में भी यही स्थिति रही। यद्यपि संस्कृत में तथा अन्यत्र भी अव्यय के रूप नहीं होते किन्तु कभी कभी अव्यय विशेषण का भी काम करता है। यह क्रिया विशेषण तथा कारक विशेषण दोनों के लिये व्यवहृत होता है। जैसे—रामः द्रुतं धावति पद में 'द्रुतं' पद अव्यय है, पर 'धावति' की विशेषता बताता है; अतः 'द्रुतं' अव्यय क्रिया-विशेषण हुआ। इसी प्रकार अव्यय कारक विशेषण भी हो सकता है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अव्यय के रूप नहीं होते। अपभ्रंश के अधिकांश अव्यय प्रायः संस्कृत के तद्भव हैं। प्राचीन संस्कृत वैयाकरणों ने अव्ययों का विभाजन वर्गों के अनुकूल नहीं किया था, परंतु आजकल आर्य परिवार की भाषाओं में वर्गीकरण किया जाता है। अतः इसी आधार पर वर्गीकरण करना उचित होगा।

(1) रीति वाचक अव्यय

संस्कृत कथं, यथा, तथा के स्थान पर अपभ्रंश में विकल्प करके (हे० 8/4/401) कथं का केम, किम, किह तथा किध रूप होता है। अपभ्रंश में 'म' को विकल्प से अनुनासिक वँ (हे० 8/4/397) भी होता है। किवँ एवं केवँ रूप भी होता है। इसी प्रकार यथा का जेम, जेवँ, जिम, जिवँ, जिह तथा जिध होगा। प्राकृत एवं अपभ्रंश में आदि 'य' को प्रायः ज हो जाता है। तथा से तेम, तेवँ, तिम, तिवँ तिह तथा तिध रूप होगा। इसी का हिन्दी रूप क्यों, यों, त्यों इत्यादि रूप होता है।

संस्कृत के यादृश, तादृश, कीदृश एवं ईदृश शब्दों के आदि अक्षर को छोड़ कर शेष को 'एहु' आदेश होता है (हेम० 8/4/402)। यादृश का जेहु, तादृश का तेहु एवं ईदृश का एहु रूप होता है और कीदृश का केहु होता है।

विशेषण की तरह 'वड्ड' और 'वडु' प्रत्यय लगाकर भी प्रयोग बनता है—जेवडु, तेवडु, केवडु, एवडु, जेवड्ड, तेवड्ड, केवड्ड एवड्ड। **पिशेल**[1] ने एवडु और एवड्ड की व्युत्पत्ति * अयवड्ड्र से मानी है इसी प्रकार * कियदवृद्ध >* के—वृद्ध > केवड्ड, केवडु रूप की प्रक्रिया है। यही प्रक्रिया विशेषणात्मक रूपों की है।

न० भा० आ० में इसका रूप—हि० इतना, मराठी—इतका (< इयत्); हिन्दी कितना, म०—किती (< कियत्)। इसी प्रकार मराठी में एवढ़ा, केवढ़ा, तेवढ़ा आदि रूप होते हैं।

एह रूप के साथ साथ 'अइस' रूप भी पाया जाता है। हेम० 8/4/403— जइसो, कइसो, अइसो इत्यादि। इसी का हिन्दी रूपान्तर जैसा, कैसा, एवं ऐसा रूप बना है। 'जइसो घडन्दी प्रयावदी'।

(2) स्थान वाचक

(क) संस्कृत यत्र एवं तत्र के स्थान पर विकल्प करके एत्थु एवं अत्तु आदेश होता है—हे० 8/4/404। इत्थु, एत्थु, जित्थु, जेत्थु तित्थु, तेत्थु, कित्थु, केत्थु आदि—"जेत्थु वि तेत्थु वि एत्थु जगि भण तो

तहि सारिक्खु''। इन रूपों के साथ साथ हो प्रत्यय वाला रूप भी मिलता है–जेत्थहो (=जत्थहो), तेत्थहो आदि।

(ख) इह (षष्ठी का रूप) जहिँ, तहिं, कहिं, सर्वनाम सप्तमी का रूप अव्यय की तरह प्रयुक्त होता है।

(ग) अत्त प्रत्यय लगाने से रूप जत्तु, जेत्तु, तत्तु तथा तेत्तु रूप होता है। इसी के साथ कभी कभी 'हे' प्रत्यय जोड़कर भी रूप होता है–ऐत्तहे, जेत्तहे, तेत्तहे, केत्तहे इत्यादि। इन शब्दों का क्रम से हिन्दी अर्थ होगा = जहाँ, तहाँ, कहाँ एवं यहाँ इत्यादि जो कि किसी निर्दिष्ट स्थान की सूचना देते हैं।

(3) काल वाचक

(क) संस्कृत यावत् एवं तावत् शब्द के 'व' अक्षर के स्थान पर म, उं, एवं महिं रूप पाया जाता है–8/4/406। जाम, ताम, जाउँ, ताउँ, जाव, ताव, जा, ता, जामहिं, जावहिं, तामहि, तावहिं, जव्वे, तव्वे। जेम, तेम रूप भी मिलता है।

(ख)–तो (ततः) जो (यतः)

इन रूपों का हिन्दी अर्थ जब तक, तब तक होता है।

(4) परिमाण वाचक

हेम० 8/4/407 अपभ्रंश में संस्कृत यावत् एवं तावत् शब्द को विकल्प से 'एवडु' एवं 'एत्तुल' आदेश होकर रूप जेवडु, जेत्तुल एवं तेवडु, तेत्तुल रूप होता है। इन रूपों का वर्णन सार्वनामिक विशेषण के समय किया जा चुका है। ये रूप वस्तुतः विशेषण में ही प्रयुक्त होते हैं। इन उदाहरणों के अतिरिक्त **हेमचन्द्र** के दोहों में कुछ और दूसरे रूप भी मिलते हैं 8/4/391–**इत्तउं व्रोप्पिणु सउणि ठिउ**; 8/4/341–एत्तिउ–संस्कृत इयत्, 8/4/395–तेत्तिड संस्कृत तावत्, तेवडु, संस्कृत तावान्।

(5) सम्बन्ध वाचक

विद्वानों ने इसेदो भागों में विभक्त[2] किया है—(क) समान वाक्य संयोजक और (ख) आश्रितवाक्य संयोजक। समानवाक्य संयोजक के चार भेद किए गए हैं,—(1) समुच्चयबोधक, (2) प्रतिषेधक, (3) विभाजक और (4) अनुकरणात्मक।

संस्कृत अपरं का अपभ्रंश में अवरं > हि० और होता है। समं का सम्व एवं समणु रूप होता है। 8/4/418—प्रतिषेधक संयोजक परं का पर होता है। अपि का वि और पुनः का पुणु होता है। निश्चयात्मक 'ध्रुव' का 'ध्रुवु' होता है। निषेधात्मक मा का मं, न का ण तथा मनाक का मणाउ होता है। संस्कृत किम् सर्वनाम का 'किं'या 'कि' भी अव्यय के लिये कभी कभी प्रयुक्त होता है जो कि प्रायः प्रश्नात्मक हुआ करता है। हेम० 8/4/417 अपभ्रंश तथा हिन्दी में भी अनुकरणात्मक सम्बन्ध-वाचक अव्यय का प्रयोग 'तो' से होता है जो कि संस्कृत 'ततः' या 'तदा' से बना है।

जइभग्गा पारक्कडा तो सहिमज्झु पिएण।

अहभग्गा अम्हं तणा तो तें मारिअडेण।।

आश्रित वाक्य संयोजक रूप जिम, तिम, जिवँ, तिवँ, जेम, तेम, जेवँ, तेवँ इत्यादि।

(6) विविध

8/4/413—संस्कृत अन्यादृश शब्द का अपभ्रंश में अन्नाइसो और अपर सदृश शब्द की जगह अवराइसो होता है।

8/4/414 प्रायस शब्द के स्थान पर अपभ्रंश में प्राउ, प्राइव, प्राइम्व एवं पग्गिम्व रूप होता है।

8/4/415 अन्यथा शब्द के स्थान पर अन्नु और अन्नह का प्रयोग होता है।

8/4/416 कुतः (हिन्दी कहाँ से) शब्द की जगह कउ एवं कहन्तिहु प्रयोग होता है जो कि स्थान वाचकता का बोधक है।

8/4/419 निश्चयवाची किल के स्थान पर किर या अहवइ का प्रयोग होता है। दिवा के स्थान परं दिवे, सह के स्थान पर सहुं का प्रयोग होता है। संस्कृत में सह का प्रयोग सदा तृतीया विभक्ति के साथ होता था। यह सह स्वतः साथ अर्थ व्यक्त करता था। अपभ्रंश 'सहुं' से ही हिन्दी 'से' की उत्पत्ति हुई है। निषेधात्मक 'नहि' के स्थान पर अपभ्रंश नहिं का प्रयोग होता है।

8/4/420 व्यतीत काल को बताने वाला पश्चात् के स्थान पर 'पच्छइ', सम्बन्ध द्योतक एवमेव के स्थान पर 'एम्वइ', निश्चय बोधक एव के स्थान पर °जिँ, काल बोधक इदानीं के स्थान पर 'एम्वहिं', संबन्ध द्योतक प्रत्युत के स्थान पर 'पच्च लिउ, एतस् के एत्तहे प्रयोग होता है।

8/4/421 विषण्ण के स्थान पर 'वुन्न', उक्त के स्थान पर वुत्त तथा वर्तमान के स्थान पर वुच्च का प्रयोग होता था।

8/4/422 कुछ ऐसे देशी शब्द हैं जो कि संस्कृत शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त होते थे। उनमें से कुछ शब्द तो अव्यय के हैं तथा कुछ संज्ञा के हैं। वे शब्द भी दोहों में अव्यय की तरह प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत का 'शीघ्र' हिन्दी में 'जल्दी' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। उसके स्थान पर अपभ्रंश में 'बहिल्ल' देशी का प्रयोग होता था––**अन्नु वहिल्लउ जाइ**। 'कलह' अर्थ को बताने वाले झकट के स्थान पर 'घंघल' शब्द का प्रयोग होता था–**जिवँ सुपुरिस तिवँ घंघलइं**। न छूने योग्य 'संसर्ग' के स्थान पर 'विट्ठालु' का प्रयोग होता था–'तहं संखहं विट्ठालु परु'। भय के स्थान पर 'द्रवक्क' एवं आत्मीय शब्द के स्थान पर 'अप्पण' शब्द प्रचलित था। यह सर्वनाम अप्प की भाँति है। दृष्टि के स्थान पर –'द्रहि' का प्रयोग होता था । गाढ के स्थान पर 'निच्चट्ट', 'साधारण' के स्थान पर 'सङ्गल' एवं निषेधवाची 'अ' उपसंर्ग लगाने पर असङ्गल का प्रयोग होता था। कौतुक के स्थान पर 'कोडढ', क्रीडा के

स्थान पर 'खेडढ', रम्य के स्थान पर 'रवण्ण', अद्भुत के स्थान पर 'ठक्करि', पृथक् पृथक् के स्थान पर 'जुअंजुअ', हे सखि के स्थान पर 'हेल्लि', मूर्ख के स्थान पर 'नालिय' तथा मूढ के स्थान पर वढ का प्रयोग होता था—'दिवेहिं विढत्तउ खाइ वढ'।

8/4/422 नव के स्थान पर 'नवख' 'नवखी कवि विस गंठि', अवस्कन्द के स्थान पर 'दडवड' शब्द प्रयुक्त होता था। यह झटपट के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। 'दडवड होइ विहाण', यंदि के स्थान पर 'छुडु'—'छुडु अग्घइ वव साउ'। सम्बन्धवाची केर और तण शब्द है। इसी केर से हिन्दी में का, के, की परसर्ग बना है।

8/4/423 कुछ ऐसे देशी शब्द हैं जो कि चेष्टाओं के अनुकरण में प्रयुक्त होते हैं। वे अधिकांश शब्द अव्यय के ही हैं किन्तु कभी कभी विभक्तियों के सहित भी प्रयुक्त होते हैं। 'हुहुर' शब्द चेष्टानुकरण में प्रयुक्त होता है—**प्रेम द्रहि हुहुरुत्ति**। 'कसरक्केहिं' का अर्थ है कचर कचर करके, परन्तु **पी० एल० वैद्य** का कथन है कि इसका ठीक ठीक अनुकरणात्मक अर्थ नहीं बताया जा सकता। वस्तुतः इस अर्थ को देखते हुए "खज्जइ नउ कसरक्केहिं' में 'कचर कचर' कर अर्थ करना ही अधिक उचित प्रतीत होता है। 'घुंटेहिं' का अर्थ 'घुट घुट' शब्द करना होगा। घुग्घ शब्द चेष्टा के अनुकरण में प्रयुक्त होता है—जैसे 'मक्कड घुग्घिउ देइं' बन्दर घुड़की देता है। °उट्ठवईस'=उठना बैठना। इस शब्द को **पी० एल० वैद्य** ने मराठी का कहा है। उनके अनुसार मराठी में उट्ठवेस और उट्ठवश आदि चलता है।

8/4/426 आचार्य **हेमचन्द्र** ने कुछ ऐसे शब्दों का निपात किया है जो कि निरर्थक होते हैं—अर्थात् उन शब्दों का प्रयोग भाषा प्रयोजन हीन होता है। संस्कृत में भी वे कुछ शब्द ऐसे हैं जो कि वाक्यों के प्रयोग में निष्प्रयोजन प्रयुक्त होते थे; फिर भी उसका अर्थ कुछ न कुछ हो ही जाता था। अपभ्रंश में भी यही बात रही। जैसे 'घइं विवरीरी बुद्धडी' में 'घइं' शब्द निरर्थक है फिर भी इसका 'नूनं' अर्थ किया जा सकता है।

षड्भाषा चन्द्रिका में कृदन्त के कुछ प्रत्ययों को भी अव्यय प्रकरण के पाठ में रखा गया है। पूर्वकालिक क्रिया के बोधक 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर होनेवाले आदेश °इ, इउ, एवं ए, 'अवि' तथा 'एप्पि' एप्पिणु, एपि, एपिणु इत्यादि। इसी प्रकार तुमुन प्रत्यय के स्थान पर एवं, अण, अणहं, अणहिं तथा एप्पि, एप्पिणु, एपि, एपिणु आदि। संस्कृत में भी क्त्वा प्रत्यय अव्यय होता था—**क्त्वातोसुन्कसुनः—अष्टाध्यायी** 1/1/39। कृदन्त के सभी प्रत्यय जिनका कि रूप नहीं चलता था उनकी अव्यय संज्ञा होती थी। अपभ्रंश में भी **सिद्धराज** ने क्त्वा एवं तुमुन् को अव्यय में पढ़ा। **पाणिनि** ने तो तद्धित के उन प्रत्ययों की भी अव्यय संज्ञा की है जिनका कि रूप नहीं चलता। इस दृष्टि से विचार करने पर अपभ्रंश के तद्धित प्रत्यय भी अव्यय के भागी होंगे।

8/4/425 तादर्थ्य में प्रयुक्त निपात केहिं, तेहिं, रेसि, रेसिं एवं तणेण आदि अव्यय होते हैं अर्थात् इन निपातों में रूप विकार नहीं होता। **हउँ झिज्जउं तउ केहिं पिय तुहुँ पुणु अन्नहिं रेसि** 'बड्डत्तणहो तणेण'। **सिद्धराज** ने उदाहरण दिया है—रामकेहिं, रामतेहिं, रामतेसि, रामतेसिं, तथा रामतणेण। ये सभी प्रत्यय युक्त रूप 'राम के लिये' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

8/4/426 स्वार्थ में विहित पुनः तथा विना शब्द के आगे डु प्रत्यय होता है। न को ण होकर पुणु एवं विणु रूप होगा।

8/4/444 संस्कृत में इव शब्द उपमा के अर्थ में तथा निश्चय के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। उसी अर्थ में अपभ्रंश में न, नउ, नाइ, नावइ, जाणि एवं जणु आदेश होता है=**'नं मल्ल जुज्झु ससि-राहु करहिं' 'नउ जीवग्गलु दिण्णु'**—संस्कृत—ननु जीवार्गल दन्तः। गवेसइनाइ—संस्कृत में गवेषतीव। नावइ गुरु मच्छर भरिउ—संस्कृत में ननु गुरुमत्सरभरितं। सोहइ इन्दनील जणु', संस्कृत में 'शोभते इन्द्र नीलः ननु' इत्यादि।

उपर्युक्त अव्ययों का निर्देश **हेमचन्द्र** ने अपभ्रंश सूत्रों में किया है जो कि दोहों में पाये जाते हैं। इन अव्ययों के अतिरिक्त कुछ और

अव्यय अपभ्रंश दोहों में पाये जाते हैं प्रायः संस्कृत अव्ययों के तद्भव रूप अपभ्रंश में पाये जाते हैं।

सूत्र	रूप	अर्थ
8/4/330	णाइ	संस्कृत इव के अर्थ में
	मा	निषेध
	न	निषेध
	वि	(अपि) भी
8/4/331	णावइ	(इव) निश्चय
8/4/335	पर	(परं) परन्तु या किन्तु
8/4/336	जिवँ	उपमा अर्थ में
8/4/337	जिह	यथा–जिस प्रकार
8/4/339	अह	(अथ) इस प्रकार, या
	सह	साथ
	सइं	स्वयं
8/4/340	वरि	वरं
	ण	नहीं
8/4/341	एत्तिउ	(इयत्) इतना
	जिव	(एव) निश्चय ही
8/4/343	तेवँ	(तथा) उस प्रकार
8/4/343	जइ	यदि।
8/4/343	अज्जु	(अद्य) आज (सम्प्रति)
8/4/344	णिरु	नितरां
8/4/349	जहिं	(यत्र) जहाँ
8/4/350	कवण	कौन

8/4/357	तहिं	(तत्र) वहाँ
	कहिं	क्व (कहाँ)
8/4/376	तिवँ	तथा
8/4/383	कित्तिउ	कितना
	वारइवार	वारवार
8/4/385	छुडु	शीघ्र
8/4/387	जाम	जब तक
8/4/391	इत्तउँ	इतना
	सव्वेत्तहे	(सर्वत्र) सभी जगह

कुछ और अव्यय शब्द हो सकते हैं जो कि **हेमंचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में पाये जाते हैं। (1) संज्ञा पदों से निर्मित अव्यय–खण, खणो अहंणिसं, लहु। (2) अन्य पदों से निर्मित अव्यय–अज्जु, णिच्च–णित्ता (नित्यं), णिह–णिहुअ (निभृतं), भित्तरि (अभ्यंतर), णिअल (निकटे) परहि (परतः) परि पासे (पार्श्वे) अग्गे (अग्रे) पुर (पुरतः) फुर बहुत्त झत्ति (झटिति) णाइ (हि० नाइँ)।

संख्यावाचक शब्द

संख्यावाचक विशेषण के गणनात्मक तथा क्रमात्मक दोनों तरह के रूप अपभ्रंश में पाये जाते हैं–

(1) गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण

गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण के रूप निम्न प्रकार हैं–

(1) एक्क, एक्को, एक्कं, ऐक्कु एक्कउ, एक्के, एक्कइ, एक, एक्का, सविभक्तिकं रूप एक्केण, एक्के, एक्कक्के (< सं एक्के) एकल्ल और एक्कल्ल आदि से प्रतीत होता है कि सर्वत्र म० भा० आ० एक्क शब्द का प्रचलन था। इन रूपों के साथ साथ एक, इग और एय का भी प्रयोग होता था। 'क' प्रत्यय जोडकर पश्चिमी अपभ्रंश में एक्केक्क, इक्किक्क

(< एक्काइक) एँक्के ँक्कम (<* एकैकम) एक्कमेक्क (एकैक) एक्कै (एकाकिनी) न० भा० आ० का एक अप० एक्क से व्युत्पन्न है। एक्क में द्वित्व क की प्रवृत्ति संभवतः म० भा० आ० के बोलने वालों की विशेषता है जो कि प्रा० भा० आ० एतद और एक के बीच की विशिष्टता है।

(2) कर्ता और कर्म कारक में दो, दुवे, बे बोला जाता है। नपुंसक लिंग में दो ँण्णि, दुण्णि, बेण्णि और बिण्णि होता है। दो < द्वौ और दुवे तथा बे < द्वे (नंपुसक) पुराने द्विवचन हैं। श्री **पिशेल** का (§436) कहना है कि इसकी रूपावली बहुवचन की भाँति चलती है और इसी भाँति काम में आती थी।

द्व (द्वि) के मुख्य दो प्रकार के रूप होते थे (1) दुव (जैसा कि ऋग्वेद में दुवा होता है) और (2) दूसरा द्व है। म० भा० आ० में दोनों प्रकार की प्रक्रिया दीखती है। दु (व) ए, दु (व) इ, दु और एक खण्ड का रूप इस प्रकार होगा—द्वो, द्वे, द्वि, दो, वे (< * द्वे) आदि। कर्ता और कर्म कारक प्रा० (पु०, नपुं०) दो, दु, द्वे, वे (नपुं०) दोण्णि (ण) वेण्णि, विण्णि, अप० वि, वेणि (ण), वेन (न) विन्नि। तृती०, प्रा० दुवेहिं, (शौ०) दोहि (म्), वेहि, अप० वेहिं, विहिं, सम्ब० प्रा० दोण्णं, दोण्हं, वेण्हं, अप० विहुं, वेण्ण, अधि०—प्रा० दुवेसु अप० वेहिं। संस्कृत द्वा के स्थान पर अप० में बा होता है। परवर्ती अपभ्रंश में भी निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं—दु, दुइ, दुद् दुइ, (< द्वो, द्वौ) दुअउ दो दुहु बि, बिण्णि बिण्णो बिहु बीहा बे समस्त पद में—दुक्कल (< दु-बि < द्वौ, द्वि)।

(3) तृतीया का कर्ता और कर्म कारक पुल्लिंग और स्त्रीलिंग का रूप तओ < त्रयः है, नपुंसक लिंग में तिण्णि < त्रीणि है, यह ण्ण सम्बन्ध कारक के रूप तिण्णं की नकल पर है। इसके रूप बिना किसी प्रकार के भेद के तीनों लिंगों में काम में आते हैं। अप० में दो तिण्णि वि < द्वौ त्रयो पि और तिण्णि रेहाइं < तिस्रः रेखाः मिलते हैं। करण °तीहिं है। इस तरह अपभ्रंश में तिअ, ति, तिज्जे, तिणि, तिण्णि, तिण्णिआ, तिण्ण, तिण्णे, ती, तिअ, तीणि, अधिकरण कारक ए० ब० रूप 'तीए' (< त्रि, त्रीणि (त्रि)। प्रा० भा० आ० त्रीणि, पै० तीनि, प्रा० तिण्णि, हि०—तीन, बंगाली, नेपाली—तिन, पंजाबी तिन्न। प्रा० भा० आ०

त्रिं का अप० में ति, तइ, ते आदि। तिविह, (त्रिविध), तिग (त्रिक), पूर्वी अपभ्रंश में तेलोअ, पश्चिमी अप० तैलोय (तैलोक्य), तैय (त्रिक)।

(4) कर्ता पुल्लिंग–चत्तारो < चत्वारः, चउरो < चतुरः, चउ, (चउकलउ, चउक्कल), चो (चोअग्गला), चारि, (< चतु–चत्वारि < चतुर्)। चउ < चतुर, चयारि (*चतारि < चत्तारि < सं० चत्वारि)। न० भा० आ० में इसका उच्चारण (महा०, हि०, गुज०, पंजा०, नेपा०) चार है। अपभ्रंश में संयुक्त रूप चउ है। पूर्वी अपभ्रंश चउत्थ (चतुष्टय), पश्चिमी अपभ्रंश–चउव्विह, चउविह (चतुर्विध), चउरासि (चतुरसीति), आचाउद्दिसि (चतुर्दिक्षु), चउद्दिसं < चतुर्दिशम्, चउम्मुह < चतुर्मुख, चउद्दस < चतुर्दशन् पद्य में चउदस तथा संक्षिप्त रूप चौँदस भी चलता है। महा० में चौँदह रूप है, चोद्दसी भी मिलता है। चौँग्गुण और उसके साथ-साथ चउग्गुण < चतुर्गुण है। अपभ्रंश के नपुंसक लिंग में चारि है–(पिंगल 1,68,87,102) जो (पिशेल §439 के अनुसार) चत्वारि, * चात्वारि, * चातारि, * चाआरि रूप ग्रहण कर चारि बना है।

(5) पंच (< पंच), पा०, प्रा०–पंच, मरा०, हि०, गुज०, बंगा०, नेपा०, पाच, पंजाबी–पंज, सिन्ध०–पंजा। तृतीया और अधि० में हि और चतु०, षष्ठी, पंचमी में हा और ह होता है। संयुक्त में पंच अपरिवर्तित रहता है या यह पण्ण या पण में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार पश्चिमी अपभ्रंश में पंच गुरु (°गुरून), पणुबीस, पंचुत्तर वीस (पंचोत्तर विंशति) पश्चिमी अपभ्रंश में पण्णरह (पंचदश), हि०-पन्द्रह, म०-पंध्रा, सिन्धी–पंद्रहा आदि।

(6) छअ, छआ, छउ, छह, छक्का, खडा, 'छ' समास में (छक्कलु, छक्कलो) (< षष् (षट्)। इसका विकृत रूप समस्त न० भा० आ० में पाया जाता है–गुज०, हि० छ, छह, मरा०–सहा, सिन्धी–स, सय, बंग०–छय। प्रा० भा० आ० के माध्यम से प्राकृत के बाद अपभ्रंश में छ का प्रयोग हुआ है। अप० में छह < * षष् जो छहवीस में दिखाई देता है और इसी का **गौल्दश्मित्त** के अनुसार छव्वीस हैं। **पिशेल** के अनुसार संस्कृत षोडश से पूरा मिलता जुलता प्राकृत रूप सोळस है और अपभ्रंश में सोळह है।

(7) सत्त, सत्ता (< सप्त) अट्ठ, अट्ठा, अट्ठह, अट्ठए, अट्ठाइँ, अट्ठाइ, 'अठ' समास में (अठक्खरा, अठग्गल, अठतालिस, अठाइस) (< अष्ट–अष्टौ)। णव (< नव)। इन सभों का रूप न० भा० आ० के समान सरल है। इस प्रकार अप० सत्त > मरा०, गुज०, हि०, बंगा०–सात, पंजाबी–सत्त। अप० अट्ठ > मरा०, गुज०, हि०, ओरिया–आठ, बंगाली–आट, पंजाबी–अट्ठ और अप० णव़ > मरा०, गुज०, हि०, नेपा० नौ।

इन रूपों का पूरक है – सत्तत्थ (सप्तास्त) चउरत्थ (चतुरस्त)।

(8) साहित्यिक अपभ्रंश में दो रूप पाये जाते हैं–दस और दह < दश (पैशाची में केवल दस मिलता है)। पूर्वी अपभ्रंश में दह रूप पाया जाता है। **हेमचन्द्र** ने 8/4/331 के दोहे दह (दहमुहु) का प्रयोग किया है। पूर्वी प्राकृत में दशन् का प्रयोग होता है। न० भा० आ० में दोनों दह और दस का प्रयोग होता है। गुज०, हि०, दस, मरा०, पंजाबी दहा, सिंधी–दह। अपभ्रंश साहित्य में स्पष्ट रूप से दस और दह का प्रयोग होता है।

(9) 11–एआरह, एआरहि, एआरहहि, एगारह, एग्गारह, एग्गाराहा, एगारहि, एग्गारहहि, इग्गारह, गारह, गारहाइँ, इसका न० भा० आ० का रूप है–मरा० अकरा, गु०–अग्यार, हि० एगारह, ने० एघार।

(10) 12–बारह, बारहा, बाराहा, बारहहि, बारहाइ (< द्वादश) पा०, प्रा० बारस–अप० बारह, हि० बारह)।

(11) 13–तेरह (त्रयोदश) अ० मा० तेरस, हि० तेरह, ने० तेर, गुज०–तेर।

(12) 14–चउदह, चाउद्दह, चउद्दही, चाउद्दाहा, चोद्दह, चोदह, जै० महाराष्ट्री में चोद्दस तथा चउदस रूप भी मिलता है। चारिदहा तथा दह चारि रूप भी मिलता है। सं० चतुर्दश।

(13) 15– जै० महा० पण्णरस, अप० पण्णरह, पण्णाराहा, अप० में दहपञ्च और दहपञ्चाइं रूप भी मिलता है । (< पंचदश) न०

भा० आ०–म०–पंधा, गु० पंदर, पंजा०–पन्द्रा, हि० पनरह या पन्द्रह, ने० पन्द्र।

(14) 16–पा०, प्रा० सोलस, पा० सोरस, अप० सोलह, सोला, सोलहाइ (< षोडश)।

(15) 17–पा०, प्रा०–सत्तरस अप०-दहसत्त, सत्तारह (< सत्तरस–सत्तरह (प्रा०), < सप्तदश)।

(16) 18–पा०–अत्ठादस, पा०, प्रा०–अट्ठारस, अप०–अट्ठारह, अट्ठारहेहिं, दहाई अट्ठ (< अष्टादश)। हि० अट्ठारह, ने० अठारह।

(17) 19–एऊण विंसा, णवदह (< एकोनविंशत्) हि० उन्नीस।

(18) 20–बीस, बीसआ, बीसए (< विंशत्)

21–एक्कबीसंती, एआईसेहि, एअबीसत्ता (< एकविंशत्)

22–पा०–द्वावीस, बावीस, प्रा० बावीसं, अप० बाइस, बाइसही, बाईसा, सविभक्तिक 'बाईसेहिँ', (< द्वाविंशत्)।

23–पा०–तेवीस, प्रा०–तेबीसं, अप०–तेइस (< त्रयोविंशत्)।

24–पा०–चतुवीस, प्रा० चऊव्वीसम्, अप० चउवीस, चोवीस।

25–पचीस (< * पचईस <* पंचईस <* पंचवीस < पंचविंशत्)

26–प्रा० छव्वीसं, अप० छव्वीस, छहवीस।

27–प्रा० सत्तवीसं, सत्ताविसं, सत्तावीसा, अप० सत्ताईस, सत्ताईसा, सत्ताईसाइँ (< सप्तविंशत्)

28–प्रा० अट्ठावीसं, अट्ठावीसा, अप०–अट्ठाइस, अट्ठाईसा (< अष्टाविंशत्)।

29–उनतीस का प्राकृत रूप अउणतीसं है।

(19) 30–पा० तिंस, तिसा, तिंसति, प्रा० अप०–तीसं, तीसा, अप०–तीस।

32–बत्तीस, बत्तिस, बत्तीसा, बत्तीसह, बतीसह (< द्वात्रिंशत्)।

33–प्रा० तेत्तीसं, अप० तेतीस।

34–चोत्तीसं, चउतीस।

35–पणतीसं, पैंतीस।

36–छत्तीसं < छत्तीस।

37–सततीस < सप्तत्रिंशत्।

38–अट्ठतीस < अष्टत्रिंशत्।

40--चालिस, चालीसा (< चआलीसा < चत्तालीसा < चत्वारिंशंत्)

41–इआलिस (< * इआलीसं <* एअआलीसं < एकचत्वारिंशत्)।

42–बाआलीसं, बेआल (< द्वाचत्वारिंशत्)।

44–चउआलह, चउआलिस, चउआलीस, चोआलीसइ (< चतुश्चत्वारिंशत्)

45–पचतालीसह (< पंच चत्वारिंशत्)।

46–छयायालीसं > छयालीस।

48–अढ़तालिस (< अठतालिसा < अट्ठअत्तालिसा < अष्टचत्वारिंशंत्)।

50–पण्णास < पञ्चाशत्, पञ्चशत् * पञ्चशत् और पंचत् से पच्चास।

52–बावण, बावण्ण (द्वापंचाशत्)।

60–सट्ठि (< सं० षष्ठि)

62–बासट्ठि (< द्वाषष्ठि)

64–चउसट्ठि (< चतुः षष्ठि)

68–अट्ठासट्ठि (< अष्ट षष्ठि)

70–सत्तरि, स्त्तर < सं० सप्तति, प्रा० सत्तरि।

71–एहत्तरि, एहंत्तरिहि (< एक सप्तति)।

76–छेहत्तरि (< षट् सप्तति)।

80–असी, असिय (< अशीति)।

82–बासीइं, बेसाओ (< द्वयशीति)।

84–चउरासी (< चतुरशीति) प्रा० चउरासीइ; गुज० चोरासी, हि०–चउरासी, नेपा०–चौरासि।

88–अट्ठासि (< अष्टाशीति)।

90–णवदि, णवइ, णउदि, नउय < सं० नवति, प्रा०–नउइ, न० भा० आ०–म०–नव्वद्, गु० नेवू, हि० पंजा०–नव्वे, नेपा०–नव्वे।

96–छण्णवइ, छण्णउदि (सण्णवति), प्रा०–छणउइ, न० भा० आ०–मरा०–शाण्णव, गु० छण्णऊ, ने० छयानव्वे।

99–णवणउयि (वरिसयी) < नव-नवति, प्रा० णवणउइ–न० भा० आ०–हि० निन्यानवे।

100–सअ, सउ, सय < शत।

200–दो सयाइं, 300–तिण्ण सयाइं, 400–चत्तारि सयाइं, **प्राकृत पैंगल**–चउसया मिलता है। 500–पञ्च सया, 600–छ सयाइं, छ सया भी पाया जाता है और छस्सया भी मिलता है।

1000–सहस्स, सहस < सहस्र, 1008–अट्ठसहस्सं।

100000–लक्ख, लख < लक्ष, इसके लिये सत सहस्स शब्द भी मिलता है।

10000000–कोडी < कोटि।

(2) क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषण

पढम, पढमं, पढमो, पढमे, पढमहि < सं० प्रथम, पहिल्लिअ, बीअ, बीए, बीअम्मि < सं० द्वितीय।

तीअ, तीअं तीअओ, तिअलो, तीए < सं० तृतीय।

चउठा, चउथो, चउत्थए, चउत्थहिँ < सं० चतुर्थ, इसके अतिरिक्त परवर्ती अपभ्रंश में 'चारिम' शब्द भी मिलता है।

पंचम, पंचमा, पंचमे < सं० पंचम।

छट्ठ, छट्ठं, छट्ठहि, छट्ठम (< * षष्ठ–म) < सं० षष्ठ।

सत्तम < सं० सप्तम, अट्ठम < अष्ट, णवम < नवम।

(3) समानुपाती संख्यावाचक विशेषण

दुणा, दुण्ण, दुण्णा, दूण < सं० द्विगुणिताः।

तिगुण, तिण्णि गुणा < सं० त्रिगुणिताः।

11–ऍक्कारसम, 12–बारसम, दुबालसम, 13–तेरसम, 14–चउदसम, 15–पन्नरसम, 16–सोळसम, 18–अट्ठारसम, अठारसम रूप भी **पिशेल** ने दिया है, 19–एगूणवीसम और एगूण वीसइम भी होता है। 20–वीसमइ या बीस रूप होता है, 30–तीसइम और तीस है, 40–चत्तालीसइम, 55–पन्न पन्नइम, 72–बावत्तर, 80–असीइम, 81–एक्कासीतिम (एकासीति–तम), 82–दुवासीम (द्वयासीति-तम), 83–तेयासीतिम (* त्रय-असीति-तम)।

84–चउरासीम (चतुरासीति-तम)

85–पंचासीम (पंचासीति)।

86–छासीतिम (सद-असीति > छ या छह-असी)

87–सत्तासीतिम (सप्तासीति)।

88–अट्ठासीतिम (अष्टासीति)।

89–एक्कूण–णवदिम (एकोन-नवति)।

90–णवदिम (नवति)

91–एक्क–णवदिम (एक-नवति)

92–दुणउ दिम (द्वा-नवति)

93–ति-णवदिं (त्रि-नवति)।

94–चउ-णवदिं (चतुर-नवति)

95–पंच-णवदिं (पंच-नवति)।

96–छण्णउदिं (षण्णवति)।

97–सत्तणउदिं (सप्त-नवति)

98–अट्ठणउदिं (अष्ट-नवति)

99–णवणवदिं (नव-नवति)

100–सयमो (शत)।

101–एकोत्तर सयम (एकोत्तर-शत)।

102–दुत्तर सयम (द्वयुत्तर-शत)

अधिकांश रूपों का ढ़ाँचा मध्य भारतीय आर्य भाषा के रूपों की तरह ही अपभ्रंश में भी होता है। अपूर्ण संख्या को व्यक्त करने वाले शब्द अन्य प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी होता है।

½ (आधा) को व्यक्त करने के लिये अद्ध या अड्ड < अर्ध शब्द मिलता है। **पिशेल** (§450) का कहना है कि जैसा संस्कृत में होता है वैसा ही प्राकृत में डेढ़, अढ़ाई आदि बनाने के लिये पहले अद्ध या अड्ढ रूप उसके बाद जो संख्या बतानी होती है उससे ऊँचा गणना अंक रखा जाता है। अड्ढाइज्ज, अड्ढ+तिज्ज, * तीज्ज, तिज्ज से व्युत्पन्न होता है=अर्ध तृतीय, अद्धुट्ठ, अद्ध + * तूर्थ से बना है=अर्ध चतुर्थ (=3½); अद्धट्ठम=अर्धाष्टम (–7½); अद्धनवम (=8½) अद्धछट्ठेहिं भिम्खासयाइं (=550) अड्ढाइज्जाइं भिक्खा सयाइं (250), अद्धछट्ठाइं जोयणा (=5½ योजन), 1½ अंक के लिये दिवड्ढ शब्द का प्रयोग किया जाता था। दिवड्ढ संय का प्रयोग (=150) डेढ़ सौ के लिये किया जाता था।

गणनात्मक संख्या शब्द

1. अ० मा० में सइं < सकृत है। इसका अर्थ एक बार है।

2. एकदा के अर्थ में एक्कसि और एक्कसिअं का प्रयोग होता है। इसके लिये एक्कबारं < एक वारम् भी चलता है।

(3) शेष संख्याओं को गिनने वाली संख्या के साथ अर्धमागधी में खुत्तो < कृत्वः रूप लगाया जाता था। दुक्खुत्तो < द्विकृत्वः=दोबार तिखुत्तो और तिक्खुत्तो < त्रिकृत्वः=तीन बार; तिसत्तक्खुत्तो < त्रिसप्त कृत्वः; अणेगसय सहस्सक्खुत्तो < अनेकशतसहस्रकृत्वः=हजारों बार। **पिशेल** के अनुसार (§451) महाराष्ट्री में इसके लिये 'हुत्त' रूप प्रचलित था–सअहुत्तं=सैंकड़ों बार, सहस्सहुत्तं=हजारों बार।

(4) अ० म० भा० एवं अपभ्रंश में हिं का प्रयोग होता था। यह गणनात्मक क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था–विहिं=दोबार, तिहिं=तीन बार; पंचहिं=पाँच बार आदि।

'बार' के अर्थ में च्च का भी प्रयोग होता था=दोच्चं, दुच्च=दोबार'; तच्चं=तीन बार।

(5) 'प्रकार' बताने के लिये संस्कृत की भाँति प्राकृत में विशेषणात्मक रूप विह < विध का प्रयोग होता था और क्रिया विशेषण के रूप में हा < धा का प्रयोग प्राकृत में होता था।

(क) दुविह, तिविह, चउव्विह, पञ्चविह, छव्विह, सत्तविह, अट्ठविह, नवविह और दसविह आदि।

(ख) दुहा, तिहा, चउहा, पञ्चहा, छहा, सत्तहा, अट्ठहा, नवहा, दसहा आदि।

संदर्भ

1. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** §434-प्रकाशन–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना
2. इस विभाजन का आधार **हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास**–पृ० 509–डॉ० उदय नारायण तिवारी–से लिया गया है।

दशम अध्याय

रचनात्मक प्रत्यय

(तद्धित प्रत्यय)

डॉ० तगारे ने अपभ्रंश के रचनात्मक प्रत्ययों को दो भागों में विभक्त किया है=(1) प्रारम्भिक प्रत्यय (2) परवर्ती प्रत्यय। यह विभाजन वस्तुतः समस्त म० भा० आ० के लिये भी किया जा सकता है। प्रा० भा० आ० के अतिरिक्त बहुलांश प्रत्यय अपभ्रंश के अपने हैं और कुछ द्रविड़ परिवार से भी प्रभावित दीख पड़ते हैं।

(1) प्रारम्भिक प्रत्यय

(1)–अ < सं०–क. खवणअ (क्षपणक), बप्पीहय (बाष्प-इह-क), विणुअ (विज्ञुक), उट्ठ-बइस=उठना बैठना।

अ (अउ) स्वार्थे) < सं० क। लहुअ < लघुक, कलंबअ, < कदंबक, णंदउ < नंदकः मोरउ < मयूरकः।

(क) नञर्थक–अगलिअ, अचिंतिअ, अप्पिअ, अलहंतिअ।

(ख) सहार्थक–सकएण, सरोस, सलज्ज, ससणेही।

(ग) प्रशस्तिक वाचक–सुअण, सुपुरिस, सुमिच्च, सुवंस।

(2)–अ–आ < आअ < आका (स्वार्थे स्त्रीलिंग), कलअ < कलाआ < * कल चंडिआ < चंडिआअ < * चंडिकाका।

(3)–अण < प्रा० भा० आ० अन + अक प्रत्यय क्रियाओं में प्रयुक्त होता है। कुछ रूप स्पष्ट रूप से प्रा० भा० आ० की संज्ञा का विकसित रूप है। उक्कोवण (उत्कोपन), पयदिण (प्राक्तन),–इण < अन स्वर परिवर्तन हो जाता है–अविखण (अवेक्षण)।

अण < प्रा० – अण < अन (भाववाचक संज्ञा) लक्खण < लक्षण, वंटण < वर्तनं, जीवण < जीवनं, पिंधण < पिधानं, गमण < गमनं।

म० भा० आ० के पूर्ववर्ती प्रत्यय वाली धातुओं के उदाहरण– जंपणय (√जम्प < √जल्प), उग्घादणि (उद्–√घातय) क्रिया पद का नाम–वुज्झण, जुज्झण, जणण, घत्तण (सामान्यतया √घत्त का सम्बन्ध घृष से किया जाता है)

(4)–इअ,-इय < प्रा० भा० आ० इक, इका,=सुहच्छी, सुहच्छिअ < सुहच्छि क,-का; उल्लूरिय (उल्लूर-ईय)।

इ–ई (< इअ < -इका) (स्वार्थे स्त्रीलिंग) लइ < लइअ < लतिका, कित्ती < कित्तिअ < कीर्तिका, चन्दमुही < चंदमुहिअ < चंदमुखिका, णारी < णारिअ < नारिका, भूमी < भूमिअ < भूमिका।

(5) इर (ताच्छिल्य) के भाव में प्रयुक्त होता है। (इसका प्रयोग **ऋग्वेद** में भी पाया जाता है–अजिर (शीघ्र), ध्वसिर (क्षीण) इसिर, अजिर आदि) विशेषण; यह प्रायः पूर्ण कालिक क्रिया में प्रयुक्त होता है। प्रा०, अप०–घोलिर (चक्कर लगाना) हसिर (स्त्री०-हसिरी) मुस्कुराना, णच्चरि (स्त्री०) (नाचना); वज्जिर (ध्वनि करना), तच्च-जम्पिर (निष्प्रयोजन बात करना), बहु-सिखिरि (स्त्री०) (बड़ा विद्वान); भीइर (भयभीत) (वसु०) कील्लिरी (√कृद)=कृदन शील, हिंसिर (√हिंस) = हेषणशील, चाविर (√चर्व) = चर्वणशील, गसिरु (√ग्रस)=ग्रसन-शील, कन्दिर (√क्रन्द) हल्लिर (√हल्ल) हसिर (√हस)।

(6) इम–अ० मा०–खाइम, गणहिं, अप०–खाइम, साइम (√स्वद)।

(7) इल्ल < प्रा० भा० आ०–र या ल–सोहिल्ल, कडिल्ल, खडिल्ल, पहिल्ल, कुंभिल्ल, लोहिल्ल, पुच्छिल्ल, पुव्विल्ल, रसिल्ल।

(8) एव्व < प्रा० भा० आ०–तव्य–वंचेव्व (√वंच), जाणेव्वि (√जाणे)।

(9) ग < प्रा० भा० आ०–क–खमग=क्षमक < √=क्ष्म-खवग=क्षपक < √क्षप-जाणग (√जाण)=ज्ञायक;

(10) तार प्रा० भा० आ०–तृः अहित्तार (अभिवक्-तृ), कत्तार (कर-तृ)

अधिकांश प्रा० भा० आ० के प्रत्यय की प्रकृति से हम परिचित हैं, प्रा० भा० आ० के मूल प्रत्यय का भाव (धर-म) म० भा० आ० के पूर्ववर्ती अपभ्रंश में पूर्ण रूप से समाप्त हो गया था।

(2) परवर्ती प्रत्यय

निम्नलिखित प्रत्यय परवर्ती रूपों में पाये जाते हैं।

1. अ < प्रा० भा० आ०–क–बाधअ (वृद्धक); संताविय-अ (संतापितक), अहाणअ (आभाणक), तुट्टियअ (त्रुटितक) विसरिअ (विस्मृतक)।

स्वार्थिक् अ–विशेषण के रूप में प्रयुक्त-अगल, अपूर, उएड, तुच्छ, निअ, वहिल्ल, अप्पण, एह, जेह, तेवड्ड, महार, केर, सर्वनाम–अप्प, एक्कमेक्क

2. अ < प्रा० भा० आ०–स्त्रीलिंग–गत्तिअ (गात्रिका=गात्री), तरूण, (तरूणी),

3. आक–अक–विशेषण–पराय < पराक, वाराणसीयक या वाणारसीयक–बनारस का रहने वाला।

4. आर–सोण्णआर (स्वर्ण-कार), सूणार (सूना+कार), अम्हार, हि० हमार, तुम्हार (विशेषण के रूप में), अहगार (अघ-कार) क का ग–**हेमचन्द्र** 8/4/396।

5. आरी < आरिअ <–कारिक (कार+इक) भिखारी < भिक्खाआरिअ <–भिक्षाकारिक।

6. आल < प्रा० भा० आ०–आल-आर और आलु प्रत्यय मत् और वत् के अर्थ में काम में लाये जाते हैं–सद्दाल < शब्दवत्, रसाल < रसवत्, णिद्दाल < * निद्रावत्, हरिसाल < हर्षवत्, सोहाल, भुक्खाल, धम्धेवालु, णिद्दालु < निद्रालु, ईसालु < ईर्ष्यालु, दआलु < दयालु।

7. इल्ल और उल्ल प्रत्यय भी मत् तथा वत् प्रत्यय के अर्थ में होता है—छइल्ल (= चतुर; विदग्ध) इसकी उत्पत्ति पिशेल ने * छविल्ल से मानी है जो कि छवी से सम्बन्धित है और इसका संस्कृत रूप छवि है। गामिल्ल (=किसान), गामिल्लिआ (=किसान की स्त्री), सोहिल्ल, कडिल्ल, खडिल्ल, पहिल्ल, कुंभिल्ल, नाम विशेषण। उल्ल का प्रयोग बहुत कम पाया जाता है यह भी उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—मतुप के अर्थ में। पिउल्लअ < प्रिय, मुहुल्ल < मुख, और हथुल्ला < हस्तौ, मडउल्ल, कडउल्ल, अहरुल्ल, सुणहुल्ल, हियउल्ल—स्वार्थिक प्रत्यय।

अल्ल, अल प्रत्यय भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—एकल्ल < एक, महल्ल < महत्, अन्धल्ल < अन्ध अंधल रूप भी प्रचलित है। नवल्ल < नवल, स्वार्थ प्रत्यय।

8. ल (र)—ल्ल प्रत्यय का प्रयोग स्वार्थ में विशेषण के लिये प्रयुक्त होता है। पंगुल, पक्कल < पक्व, एक्कल, पत्तल, मोक्कल, णग्गल, अग्गल, पियला (=पिअल < प्रिय + ल) हिअला (< हृदय+लः)।

9. अर (अ)—आर (अ)—मालारी < मालाकारी, चित्तअर = चित्रकार, अंधार < अंधकार, विप्पिअआरअ < विप्रिय कारक, दिणअर < दिनकर, सोणार < स्वर्णकार।

10. इर < प्रा० भा० आ०—इर, विशेषण—गुहिर < गुहा+वज्जिर < वज्र + सुरोसिर (सुरोष), गग्गिर < गदगद, लम्बिर (लम्ब) जम्पिर < जल्प, भमिर < भ्रमर, उद् + श्वस् का रूप ऊससिर; गव्विर और स्त्री० गव्विरी रूप गर्व से बना है। विवरेर (स्वार्थिक प्रत्यय) पसाहिर, णभिर।

ताच्छिल्य के अर्थ में भी इर प्रत्यय का प्रयोग होता है—कीलिरी (√कृद)=कृदन शील; हिइंसिर (√हिंस)=हेषणशील, चाविर (√चर्व)=चर्वणशील; कन्दिर (√क्रन्द)=चिल्लाना, हल्लिर (√हल्ल—घूमना)।

11. इम—भाववाचक संज्ञा विशेषण बनाने में इसका प्रयोग होता है—गहीरिम (गभीर), वंकिम (वक्र), सरिसिम (सदृश), मुणीसिम, पा०-मज्झि < मध्यम।

इम < इमन् का प्रयोग सामान्य अर्थ में मुणीसिम, वंकिम < वक्र+, कारिम (* कार–इम=कृत्रिम), खाइम < खाद, साइम < स्वादय।

12. इय < प्रा० भा० आ० पराइय < परकीय, महइय (महत्)।

13. इत्त प्रत्यय मत् और वत् के अर्थ में प्रयुक्त होता है = कव्वइत्त < काव्य, माणइत्त < मान, पाणइत्त < प्राण। पुल्लिंग में इत्तअ और स्त्रीलिंग में इत्तिआ होता है = पओहर वित्थारइत्तअ < पयोधर विस्तारयुक्त।

14. इअ < इक–विशेषण–पहिउ < पथिअ < पथिक, पंथिअ < * पंथिक, जाइत्थिअ < * यादृश्तिक।

15. इआ < इका--सअद्दिआ < साकटिका, वसन्तसेणिआ < * वसन्तसेनिका।

16. इक, * इक्य=मच्चिय < * मर्यिक <* मर्त्यक, भालिक < * भारिक < भारवत्, बप्पीकी (स्त्री०) < वप्प, इक का इअ भी हो जाता है–सव्वंगिय < सर्वांगीण।

17. इल्ल + क–मा०–घरिल्ल < घर +, मुक्कलअ < मुक्त +, गामेल्लअ < ग्राम, पडिहत्थेल्लिय < प्रतिहस्त।

18. इर–विशेषण–गुहिर < गुहा +, वज्जिर < वज्र।

19. ई (स्त्री०)–दिट्ठी < दृष्ट, तनु सरीरि, परपुत्थि, कुमारी, वंकी, सकण्णी, कृदन्त का ई प्रत्यय–दिण्णी, रूट्ठी, जंअंति, गणंति।

20. इत्त–< प्रा० भा० आ०–इ–त्र या–इ–त्रि–इसका प्रयोग बहुत कम पाया जाता है–छदाइत्त (छन्द–इत्र=छन्द–वत्), कव्वइत (काव्य), माणइत्त (मान)।

21. त्तिय < प्रा० भा० आ० * तिक < ता + इक क्रिया विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त होता है–एत्तिय (*अयत्–तिक)=इयत्।

22. तुल < प्रा० भा० आ० * तुल < ता+उल, यह प्रत्यय क्रिया विशेषण से विशेषण बनाया जाता है=एत्तुल (एतावत्), केत्तुल (कियत्), जेत्तुल (यावत्), तित्तुल (तावत्)।

23. त्त, का प्रयोग त्व प्रत्यय की जगह होता है। बहुधा सम्प्रदान कारक में त्ताए का प्रयोग होता है=पुप्फत्त < पुष्पत्व, पुमत्त < पुंसत्व, माणुसत्त < मनुष्यत्व, सीयत्त < शीतत्व।

24. त्तण प्रत्यय का प्रयोग त्व और ता के भाव अर्थ में होता है–वड्डत्तण=बड़ाई, धम्मत्तण <* धर्मत्वन्, कुडिलत्तण, तुंगत्तण, थिरत्तण, गरुयत्तण, गूढत्तण, भिच्चत्तण, मूठत्तण, सयणत्तण, पत्तत्तण, तिलत्तण,

त्तण प्रत्यय के साथ कभी य भी जुड़ता है–थिरत्तणय, वड्डत्तणय, तिलत्तण,

अपभ्रंश में त्तण में त्त की जगह प्प भी होता था–वड्डप्पण=वड्डत्तण < * वड्रत्वन्। गहिलत्तण, गहिलप्पण, सिद्धत्तण।

25. क प्रत्यय का प्रयोग स्वार्थिक होता है। इसका कभी अ, य और उ या इय आदि हो जाता है। कभी कभी दो क प्रत्यय भी जोड़ा जाता है–जैसे–बहुअय (हे० 2,164); लहुअ < लघुक, णंदउ (< नंदक), जन्तिअउ, रहिअउ, थविअउ, फुल्लिअउ, कहिअउ, तिय (स्त्राक) क का ग–गेहेअन्तग,

क्य का क्क हो जाता है–पारक्क में क्य प्रत्यय राइक्क < राजकीय–इक्य प्रत्यय गोणिक्क आदि।

ख–(सुख, दुख) नवख (–खी) नक्खी।

26. ड संस्कृत < त् प्रत्यय का प्रयोग भी स्वार्थे होता है किन्तु इससे अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस ड प्रत्यय के बाद कभी कभी अ=क प्रत्यय भी देखने में आता है–**हे०** 8/4/429 और 430 कण्णडअ < कर्ण, हिअ डउं, **हे०** 8/4/432–दव्वडअ < द्रव्य, 8/4/419, 1–देसड, 4/418, 6–देसडअ < देश, दोषडा < दोष, 4/379,1–माणुसड < मानुष, मारिअड < मारित, 4/422, 1 मित्तड < मित्र, रण्णडअ < अरण्य 4/38 **हे०** 8/4/419,1 हत्थड और हत्थडअ < हस्त, 8/4/422 – हिअडा, हिअड < * हृद < हृद् 4/414, 2–मणिअड < मणि-क+ट हैं < मणिकट। इसमें अड प्रत्यय नहीं है। स्त्रीलिंग के अन्त में–डी आता है–4/431–णिद्दडी < निद्रा, **हे०** 4/432 सुवत्तडी < श्रुतवाती। संस्कृत में जिन शब्दों के इ और

ई लगाकर स्त्रीलिंग बनाया जाता है उनके अन्त में अपभ्रंश में अडी भी होता है–गोरडी < गौरी, 4/424–बुद्धडि < बुद्धि; भुम्हडि < भूमि, **हे०** 4/422, 22 मब्भीसडी < मा भैषीः; **हे०** 8/4/430–रत्तडी < रात्रि, **हेम०** 8/4/414, 2–विभन्तडी < विभ्रान्ति। क प्रत्यय के साथ भी यह प्रत्यय आता है–धूलडिआ < * धूलकटिका < धूलि। **पिशेल** का कहना है कि यहाँ अड प्रत्यय नहीं हुआ है, मध्यस्थ प्रत्यय दिखाई देता है। ड तो अपभ्रंश बोली की अपनी विशेषता है, दूसरे प्रत्ययों के साथ–क रूप में भी जोड़ा जाता है। **हेम०** 4/430,3 बाह बहुल्लडा < बाहाबल तथा बाह बहुल्लडअ में उल्ल की यही स्थिति है अर्थात अन्तिम उदाहरण में–उल्ल+ड+क आये हैं।

27. तक–तिक–परिमाण वाचक विशेषण–प्रा० एत्ति (क) अप०–तत्तक।

28. तय एवि–एत्तवि, जेत्तवि, तेत्तवि।

29. तम–उत्तिम=उत्तम।

30. ता–भतिता, सुन्नसहावता, ताहे–एत्ताहे (अभी)।

31. त्र, त्रिक, त्रिका (स्त्री०) स्थान का क्रिया विशेषण–परत्त।

32. डेत्तुल–एत्तुल,–एत्तुल, केत्तुल, तेत्तुल, जेत्तुल–संस्कृत में पूर्वोक्त प्रत्यय की जगह तडित अतः प्रत्यय लगाकर इतः, कुतः, यतः, ततः रूप होता था–हिन्दी यहाँ, वहाँ, कहाँ इत्यादि होता है। यह अव्यय रूप की तरह प्रयुक्त होता है।

33. दु–यह प्रत्यय पूर्वी अपभ्रंश में प्रयुक्त होता है रूक्खदु (*रुक्ष) वृक्ष, तरूणीदु (तरूणी), भूमिदु (भूमि), वण–दु (वन) अन्यत्र इसका प्रयोग नहीं पाया जाता है।

34. ध प्रत्यय क्रिया विशेषण समय और स्थान के लिये प्रयुक्त होता है–इध, ध को ह होकर महाराष्ट्री में इह प्रा०–अह, जह, तह (इहइ रडन्तउ जाइ)।

35. नी–इनी (स्त्री०) भिक्खुनी, सिस्सिनी।

36. मन्त–संज्ञा विशेषण–गुणमन्त, धनमन्त, कभी-कभी मन्त म ही अवशिष्ट रहता है। वज्जमा। मत और वत् के रूप मन्त और वन्त हो जाते हैं।

37. ल, (–र), ल्ल–संज्ञा विशेषण–प्रा० पक्कल < पक्व + अप०–एकल, पत्तल, दीहर, मोक्कल (ड) अ–णग्गल, ताहर–(उसका), तुहार, अम्हार (हम लोगों का), महार–(मेरा), वेग्गल, वंचयर (< वंचक) बहिल्ल (< बहिर)।

38. व < प्रा० भा० आ०–वत्, मत् यह संज्ञा विशेषण प्रत्यय है। व < प्रा० भा० आ० वत् सामान्य प्राकृत का विकसित रूप है। परिनिष्ठित संस्कृत में मत् प्रत्यय का प्रयोग होता है। हणुव < * हनु–वत्=० मत। अपभ्रंश में यह व से समाप्त होता है। चन्दकव (चन्द्रक-वत) दूसरी प्राकृत बोलियों में भी यह पाया जाता है।

39. वाल < प्रा० भा० आ०–वत–धन्ध=वाल–लज्जावत् (पाहुड़दोहा 122), धय धन्धा और णर लज्जा के लिये प्रयुक्त हुआ है। गुत्तिवालअ < गुप्तिपालक।

40. हर (< धर) धराहर–(बादल), महिहर् (पर्वत)।

41. रिस < प्रा० भा० आ०–दृष क्रिया विशेषण संज्ञा विशेषण बनाने में प्रयुक्त होता है–एरिस (ईदृष), केरिस (कीदृष) आदि।

42. ल–लि, लिय (स्त्री०) < प्रा० भा० आ०–त **डॉ० तगारे** के अनुसार यह आल, आलु, इल्ल, और उल्ल से भिन्न है इसकी व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० र या ल से की जा सकती है–पोत्तली (पोत्त-पेट), अन्धलय (अन्ध), पूर्वी अपभ्रंश, णग्गल (नग्न); अल्ल-न-वल्ल (नव), पश्चिमी अपभ्रंश–महल्ल (महत), एक्कलिय।

43. (ए) ह–उ < म० भा० आ०–इस, प्रा० भा० आ०–दृष, संज्ञा विशेषण के लिये क्रिया विशेषण में प्रयुक्त होता है=जेहउ (यादृश) तेहउ (तादृश), केहउ (कीदृश) आदि।

44. ह (<–ख) +-क–प्रा०–शुणहक–(कुत्ता) (पा० सुनख), अप० मेच्छहक–(लुटेरा)।

45. इया <–उ +-य आ (स्त्री०)–अज्जविया < ऋजु, लाघ्वीया, लहुइ <–लहुईभूया (लघ्वीभूता) मद्दविया < मृदु, सोचविया < * शोचव्या < शुचि।

अपभ्रंश में इन रचनात्मक प्रत्ययों के अतिरिक्त और भी प्रत्यय हो सकते हैं जो कि प्राकृत में प्रचलित थे। किन्तु अपभ्रंश मे शनैः-शनैः प्रत्ययों के प्रयोग में भी सरलीकरण होता गया। ध्वनि परिवर्तन के कारण बहुत से प्रत्यय घिसकर एकरूपता में परिवर्तित हो गये। जैसा कि **पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी**[1] ने कहा है कि इल्ल, उल्ल, ड आदि स्वार्थिक प्रत्यय अपभ्रंश में बहुत पहले आ गये थे। कभी-कभी–एक, दो और तीन प्रत्ययों का योग भी मिलता है :–

साभि सरोसु सलज्जु पिउ, सीमा संधिहि वासु।
पेक्खिवि बाहुबलुल्लडा, धण मेल्लइ नीसासु।।

हेमचन्द्र

यहाँ 'बलुल्लडा' में बल शब्द के 'उल्ल' और 'ड' दो स्वार्थिक प्रत्यय जुटे हुए हैं। परन्तु अर्थ में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। ड का उदाहरण दोषड़ा (हेम०)। इसी से हिन्दी में हियरा, जियरा, गहेलड़ी आदि बना है।

हेमचन्द्र की अपभ्रंश के कुछ प्रमुख उपसर्ग

1. नञर्थक–अ-< प्रा० भा० आ०–अन, अ।

अगलिअ, अचिंतिअ, अडोहिअ, अप्पिअ, अलहंतिअ, अबुहअचलु, असुद्धउ, असरणा, असारु, **हे०** 8/4/396–असइहिं (असतीभिः), 4/396–अकिआ (अकृत) 4/442,7–असट्ठलु (असाधारणः), 4/422–अपूरय (अपूर्ण), 4/440–असेसु, 4/423–अचिन्तिय (अचिन्तित)।

(2) अणु < प्रा० भा० आ०–'अनु'

8/4/422,9–अणुरत्ताउ (अणुरक्ताः); 4/428–अणुदियहु (अनुदिवसाः)

अणुणेइ (अनुनयति), अणुत्तर

(3) अव < प्रा० भा० आ०–'अब'

8/4/395,6 अवगुणु (अवगुण) अवतरिअ (अवतरित)।

(4) आ < प्रा० भा० आ०–आ

8/4/419–अविट्टइ (आवर्तते), 4/422–आवहि (आगच्छसि);

4/422–आलवणु (आलपन), 4/422 आदन्नहं (आर्तानां)।

(5) उ < प्रा० भा० आ०–उत्

उप्पत्तिं (उत्पत्तिं), उएइ (उदेति), उआसीण (उदासीन) उव्वरिअ (उपवारितः)

6. नि < प्रा० भा० आ०–नि, निर :

हे० 8/4/395 निवारणु (निवारण), निज्जउ (निर्जितः), निग्घिण (निर्घिणं), 4/395–निसंकु (निःशंकः), 4/401 निज्जिअउ (निर्जितः), 4/401–निरुवम-रस (निरूपम-रस), निवडइ (निपतति), 4/401 निरामइ (निरामये), 4/395,3 निअत्तइ (निबाहना), 4/419–निवाणु (निर्वाण); 4/422– निच्चिन्तिय (निश्चिन्त);

7. दु < प्रा० भा० आ०–दुर्

हे० 8/4/386 दुब्भिक्खें (दुर्भिक्षेण), दुब्बल (दुर्बल)।

8. प < प्रा० भा० आ०–प्र

हे० 8/4/396 पम्पाम्हट्ठउ (प्रमृष्ट; 4/396-)पफुल्लिअंउ (प्रफुल्लितः); पयासु (प्रयास), पमाण (प्रमाण), पयावदी (प्रजापति), पणट्ठइ (प्रनष्टः), 4/395, 4–पवासुअहं (प्रवासितानां), 4/419–पमाणु (प्रमाण), 4/419–पवसन्ते (प्रवसता), 4/422 पमाणिअउ (प्रमाणितः),

9. परि, परं < प्रा० भा० आ०–परि, परम

हे० 8/4/389 परिहरइ (परिहरति), परिचलइ (परिचलति), परिहरिअ (परिहृत्य), 4/422, 8–परमत्थु (परमार्थ) 4/425 परिहासडी (परिहास),

10. वि < प्रा० भा० आ०–वि

हे० 8/4/ 396–विणिज्जअउ (विनिर्जितः), 4/395 वित्थारु (विस्तार) 4/423–विप्पिअ आरउ (विप्रिय कारकः), 4/424–विआलि (विकाले), विच्छोह गुरु (विक्षोभकरः), विसमा (विषमा), विसिट्ठ (विशिष्ट),

11. सहार्थक स,

हे० 8/4/401–सदोसु (सदोषः), 4/420–सलोणी (सलावण्या); 4/430–सलज्जु (सलज्जः), 4/439, 3 सरोसु (सरोषः), ससणेही (सस्नेहा), सकण्ण (सकर्णिका),

12. प्राशस्त्य वाचक सु < प्रा० भा० आ०–सु

हे० 8/4/422–सुपुरिस (सुपुरूषः), 4/422,90–सुअणेहि (सुजनैः), 4/423, 2–सुहच्छडी (सुखासिका), सुवंस, सुकइ (सुकविः)

13. सं० < प्रा० भा० आ०–सम्

हे० 8/4/395, 2 संसित्तउ (संसिक्तः) 4/395/5–संमुह (सम्मुख), 4/422 संवेरवि (संवरीतुं), 4/422–संपडिय (संपतितः), संहार (संहार),

14. कु < प्रा० भा० आ०–कु

कुगइ (कुगतिः)

इस प्रकार **हेंमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में पूर्वोक्त उपसर्ग उपलब्ध होते हैं। इसके अलावा और भी उपसर्ग अपभ्रंश में हो सकते हैं। जो कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से चलते आ रहे हैं।

संदर्भ

1. **हिन्दी साहित्य का आदि काल**, पृष्ठ 43 प्रकाशन राष्ट्रभाषा परिषद पटना

एकादश अध्याय

क्रियापद

धातु–प्रत्यय–प्रेरणार्थक–विकार युक्त प्रक्रिया

श्री उलनर के अनुसार मध्य भारतीय आर्य भाषा में संज्ञा की अपेक्षा क्रियाओं में बहुत परिवर्तन हुआ। समान्यतया साधारण ध्वनि नियम का प्रभाव व्यंजनात्मक क्रियाओं पर अधिक पड़ा। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के व्यंजनान्त रूप प्रायः स्वरान्त हो गये। कारक रूपों की भाँति क्रिया में भी सरलीकरण की प्रवृत्ति रही। क्रियाओं के विविध रूप एकरूपता में परिणत हो गये। एकरूपता की यह प्रवृत्ति पुरानी प्राकृत में नहीं पाई जाती किन्तु परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश काल तक आते-आते केवल एक क्रिया रूप अवशिष्ट रहा। इन रूपों में यद्यपि बहुत सी अनियमिततायें भी पाई जाती हैं फिर भी इन रूपों ने इस काल को पुरानी पद्धति के काल से पृथक् कर दिया।

इस प्रकार संस्कृत में बहुत से क्रियापदों का प्रचलन था। उन सबका अपभ्रंश में अभाव हो चला, जैसे अपभ्रंश में अकारान्त नामों की प्रधानता हो चली, व्यंजनान्त समाप्त हो चले। संस्कृत विभक्तियों का अत्यधिक ह्रास हो चला था, क्रियापदों में भी बहुत कमी हो चली थी। आत्मनेपद समाप्तप्राय सा हो चला था। किन्तु कुछ अवशिष्ट रूप जरूर बचे रहे जैसे संस्कृत के अनुकरण पर पिच्छए, लुब्भए, लक्खए आदि प्रयोग पाये जाते हैं। कृदन्त के प्रयोगों में आत्मनेपद का रूप पाया जाता है–वट्टमाण, पविस्समाण, आदि रूप भी मिलते हैं।

अपभ्रंश में बहुत कम लकार हो गये। संस्कृत में ये लकार कालों के बोधक होते थे, संस्कृत में 10 लकारों का प्रयोग होता

था, ग्यारहवां एक 'लेट् लकार' भी था जो कि केवल वैदिक लकारों में ही प्रयुक्त होता था। वर्तमान काल के लिये लट् लकार[1] का प्रयोग होता था। भविष्यत् काल के लिये लृट् लकार तथा भूत काल के लिये लिट्[2] लकार प्रयुक्त होता था। यह लकार अनद्यतन भूत के लिये प्रयुक्त होता था। अनद्यतन भविष्य में लुट्[3], अनद्यतन भूत में लंङ् एवं लुङ् लकार प्रयुक्त होता था। अवशिष्ट लोट्, लिंङ्[4] (विधि एवं आशिष लिंङ) एवं लृंङ् लकार, आशीर्वाद विधि एवं हेतुहेतुमद्भावादि अर्थों में लुङ भी होता था। संस्कृत में भूतकाल के लिये कृदन्त निष्ठा क्त–क्तवतु प्रत्यय का भी प्रयोग होता था। संस्कृत में व्याकरण की दृष्टि से भूत के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विभिन्न लकार थे, जिनके प्रयोगों से अर्थ निर्णय में सरलता होती थी, परन्तु पालि के समय में यह नियम ढीला हो चला। प्राकृत के युग में भूतकाल के सभी लकार विनष्ट हो चले। केवल स्वरान्त धातुओं[5] से भूत के अर्थ में विहित प्रत्ययों के स्थान पर ही, सी, तथा हीअ प्रत्यय होते थे जैसे–कासी, काही और काहीअ (संस्कृत–अकार्षीत्, अकरोत्, चकार इत्यादि) आदि। **प्राकृत प्रकाशकार वररुचि** के मत में 'इअ' प्रत्यय का भी प्रयोग होता था। यही इअ प्रत्यय प्राकृत में व्यंजनान्त धातुओं से परे भूत अर्थ में होता था, जैसे–गेण्हीअ (सं० जग्राह)। किन्तु अपभ्रंश का युग आते-आते भाषा में सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण ये भूतकालिक प्राकृत के रूप भी घिसते घिसते समाप्त हो गये। फलतः अपभ्रंश में भूतकाल के द्योतन के लिये कृदन्त का प्रयोग होने लगा। अद्यतन और अनद्यतन भूत के लिये क्रियाति पत्त्यर्थ (Conditional) समाप्त हो चला–आसि < आसीत्। **हउं आसि धित्तु विवाए जिणेप्पिणु। णउ जक्खहं रक्खहं किन्नराहं लइ इत्थु आसि संचरु नराह**; कर्मणि भूत-कृदन्त प्रयोग। संस्कृत में भूतकाल के लिये निष्ठा = क्त, क्तवतु का प्रयोग होता था। क्तवतु=तवत्+तवान् का प्रयोग कर्तृवाच्य में तथा क्त=त का प्रयोग सामान्यतया 'भाव कर्मणि' होता था। किन्तु अपभ्रंश में भूतकाल के अर्थ द्योतन के लिये कृदन्त क्त=त

प्रत्यय का ही प्रयोग होता था और क्तवतु प्रत्यय का प्रयोग समाप्त हो गया। क्तवतु प्रत्यय के समाप्त होने का कारण संभवतः भाषा के सरलीकरण की प्रवृत्ति ही रही। संस्कृत की भाँति अपभ्रंश में भी क्त का प्रयोग भाव कर्मणि होता था। परिणामतः वाक्य की सजावट में एक ही जगह कर्मवाच्य एवं कर्त्तृवाच्य का प्रयोग होने लगा। उदाहरणः–

1. विट्टीए मइं **भणिय** तुहुँ मा कुरु वंकी दिट्ठि।

2. ढ़ोल्ला मइं तुहुँ **वारिया** मा कुरु दीहा माणु। (हेमचन्द्र)

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणों में 'भणिय' तथा 'वारिया' में क्त प्रत्यय का प्रयोग होने के कारण वाक्य रचना कर्मणि हुई है तथा दोनों का उत्तरार्द्ध कर्तृवाच्य में हुआ है। यही स्थिति सर्वत्र पाई जाती है। कृदन्त प्रत्यय के प्रयोग के कारण परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश का भूतकालिक प्रयोग भाव कर्मणि होने लगा।

इस तरह जैसा कि **डॉ० सुनीति कुमार चादुर्ज्या**[6] ने लिखा हैं कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषा के अधिकांश सूक्ष्म काल तथा भाव रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गये, और अन्त में द्वितीय म० भा० आ० अवस्था में केवल एक कर्तरि वर्तमान, एक कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यत् (निर्देशक रूप में), एक अनुज्ञार्थक तथा एक विधि लिङ् वर्तमान रूप प्रचलित रहे; साथ ही कुछ विभक्ति साधित भूत रूप भी बचे रहे, यथा–भूतकाल का निर्देश साधारणतया 'त,–इत'; (या–न) साधित कर्मणि कृदन्त या निष्ठा द्वारा होने लगा, और यह कृदन्त, क्रिया अकर्मक होने पर कर्त्ता के, एवं सकर्मक होने पर कर्म के विशेषण का कार्य करता था। इस प्रकार, उपर्युक्त रूप की सकर्मक क्रिया का भूतकाल वास्तव में कर्मवाच्य में ही होता था, और इसीलिये क्रिया का भूतकालिक रूप स्वभावतः विशेषण का कार्य करने लगा। निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश में तीन लकार लट्, लोट् और लृट् लकार की क्रियायें पाई जाती हैं। विधिलिङ् के भी कुछ रूप पाये जाते हैं। भूतकाल के लिये कृदन्त का प्रयोग होता था। इस प्रकार अपभ्रंश में हमें समापिका एवं असमापिका क्रियाओं के दो रूप मिलते हैं–

समापिका क्रियाओं के रूप–

1. वर्तमान निर्देशक प्रकार (प्रेजेंट इंडिकेटिव)
2. आज्ञा प्रकार (इम्पेरेटिव)
3. भविष्यत् (फ्यूचर)
4. विधि प्रकार (ओप्टेटिव)

असमापिका क्रियाओं के रूप–

1. वर्तमान कालिक कृदन्त (प्रेजेंट पार्टिसिपिल)
2. कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त (पेसिव पास्ट पार्टिसिपिल)
3. भविष्यत्कालिक कर्मवाच्य कृदंत (जीरंड)
4. पूर्वकालिक असमापिका क्रिया (एब्सोल्यूटिव)
5. तुमन्त रूप (इनफिनिटिव)

साधारणतः तीन प्रकार (Moods) पाये जाते हैं :–1. निर्देशक प्रकार (इंडिकेटिव) 2. आज्ञा प्रकार (इम्पेरेटिव) तथा 3. विधि प्रकार (ओप्टेटिव)। संयोजक प्रकार (सब्जंक्टिव मूड) का कोई अलग से रूप नहीं है। यहाँ निर्देश प्रकार के साथ ही 'जइ' (यदि) जोड़कर संयोजक प्रकार के भाव की व्यंजना कराई जाती है। जैसे[7] :–

सेर एक्क जइ पावउँ घित्ता, मुंडा बीस पकावउँ णित्ता।
(प्राकृत पैंगलम् 1,130)

एका कित्ती किज्जइ जुत्ती जइ सुज्झे (प्रा० पैं० 2,142)

प्रा० भा० आ० में दो पद मिलते हैं:–परस्मैपद और आत्मनेपद। प्राकृत में आत्मनेपद का प्रयोग कम व्यवहृत होने लगा। अपभ्रंश का युग आते-आते आत्मनेपद समाप्तप्राय सा हो चला। फिर भी कुछ रूप अवशिष्ट से रहे। संस्कृत के अनुकरण पर कुछ रूप पाये जाते हैं। कभी-कभी छन्दो निर्वाहार्थ भी कतिपय आत्मनेपदीय रूप परवर्ती अपभ्रंश में पाये जाते हैं। यह प्रायः चरण के अन्त में पाया जाता है। **प्राकृत पैंगलम्** में आत्मनेपद के रूपः–

सोहए (1,158), दीसए (1,186), किज्जए (1,186) आदि।

सन्देश रासक[8] में भी **प्रो० भयाणी** ने 'भणे' (95, भणामि) 'दड्ढए' (130) 'बड्ढए' (120) आदि रूपों को आत्मनेपदी माना है जो कि छन्दपूर्त्यर्थ प्रयुक्त हुए हैं।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश के युग आते ही लोगों को सामान्यतः इससे छुट्टी मिली किन्तु भाव कर्मणि प्रयोग में आत्मनेपद ने अपना स्वामित्व नहीं त्यागा। यह अवश्य है कि भाव कर्म में संस्कृत आत्मने पद का विकसित रूप ही पाया जाता है। जैसा कि **डॉ० तगारे**[9] ने भी लिखा है कि अपभ्रंश की धातुओं में सकर्मक एवं अकर्मक भेद प्राचीन भाषाओं की ही तरह रहा। इस कारण अपभ्रंश में धातुओं का रूप भाव कर्म को छोड़ कर अन्यत्र प्रायः परस्मैपदी ही रहा। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की धातुयें दश गणों में विभक्त थीं तथा उन धातुओं का रूप गण विशिष्ट विकरणों के अनुसार चलती थीं। किन्तु उन गणों में 'भ्वादि गण' सबसे बड़ा था। इस कारण सबसे अधिक रूप उसी के प्रचलित हुए। शनैः शनैः गणों का ह्रास होने लगा। अपभ्रंश के युग में गणों का भेद मिट सा गया। भ्वादि गण ने सब पर अपना आधिपत्य जमाया। अन्य गण वाची धातुओं का रूप इसी की भाँति चलने लगा। उदाहरण–चेअइ < सं० चुरादि० चेतयति, रोअइ < सं० तुदादि रोदिति, दिव्वई < सं० दिवादि दिव्यति, हणइ < सं० हन्ति।

संस्कृत के दसों गणों में सार्वधातुक विकरण विशिष्ट रूप होते थे। विकरण, धातु से भिन्न होता था। सार्वधातुक संज्ञा वाले लकारों में विकरण का आगम होता था[10]। इसी से गणों का भेद ज्ञात होता था। अपभ्रंश में इन्हीं विकरण विशिष्ट धातु रूपों का भी ग्रहण किया गया=जाणइ < जा+श्ना=जानाति, बुज्झइ < बुध + श्यन् = बुध्यति, करइ < कर + उ=(तनादि कृभ्यः उः–पा० 3/1/79) करोति, सुणइ < सुनोति, श्रृ+श्नु=श्रृणोति, पडइ < पत्+शप्=पतति, ग्रथइ < ग्रथ+श्ना=ग्रथ्नाति, घ्रिइ < घ्रा+श्लु=जिघ्रति।

अपभ्रंश में कुछ ऐसी धातुओं के रूपों का प्रयोग हुआ है जो कि संस्कृत लकारों से बने हुए रूपों के प्रयोग हैं। जैसे–पेक्खइ < सं० प्रेक्ष्यति, देक्खइ < सं० द्रक्ष्यति।

उपर्युक्त धातु रूप कर्तृवाच्य के हैं। कर्तृवाच्य के धातु रूपों का परिवर्तन भी पाया जाता है। कर्मवाच्य का रूप संस्कृत में विकरण 'यक्' लगाकर आत्मनेपदी तिङ् का प्रत्यय होता था। अपभ्रंश में इसका भी विकसित रूप धातुओं में ग्रहीत हुआ उपपज्जइ < उत्पद + यक्=उत्पद्यते, घिप्पइ < घिप + य=घिप्यते, छिज्जइ < क्षिप् + य=क्षिप्यते, बुज्झइ < बुध्+य=बुध्यते इत्यादि।

कृदन्तज रूपों से बने हुए धातुओं का भी ग्रहण हुआ–पइट्ठइ < प्र+विश+क्त=प्रविष्ट, लग्गइ < लग्न=लग+क्त, सँदइ < सम्+स्त्र+क्त=संस्त्रत।

डॉ० ग्रियर्सन[11] के अनुसार प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी बहुत सी धातुयें ध्वनि के अनुकरण पर बनीं, जैसे–गुलगुलइ (हाथी के समान), सलसलइ (पौधा या जानवरों के आधार पर धीमी अवाज), किलकिलइ (पूर्ण प्रसन्नता के अनुसरण में)।

संस्कृत में अकारान्त धातुओं से प्रेरणार्थक क्रियायें 'पुक' प का आगम करके क्रिया बनायी जाती थी जैसे–दापयति, दापितः, स्थापयति, स्थापितः, प्रापयति, प्रापितः इत्यादि। इसी 'पय' या 'आयं' से पालि एवं प्राकृत के विकास के बाद अपभ्रंश में अव लगा कर धातुओं का प्रयोग किया गया, जैसे–दावइ (दा), थावइ (था = स्था), विण्णवइ (वि+ज्ञा), चिन्तवइं (चिन्त), बोल्लावइ (बोल्लइ = बोलना); तोसावइ (तुष); पूर्वी अपभ्रंश में व की जगह ब होता है परिभाबइ (परि+भू); दहाबिय (दह),

डॉ० तगारे[12] का कहना है कि कभी-कभी धातुओं के मूल स्वर में वृद्धि भी हो जाती थी (मुख्यतया अ और इ, उ का गुण)

और उसके साथ अय शब्द रूप जोड़ दिया जाता थाः—उदाहरण झंखा अई (√झंख 'क्रुद्ध होना—हे० 8/4/140) लिक्खाविय, लिहाविय इत्यादि।

कुछ मूल और विकरण युक्त रूप भी पाये जाते हैं

णासइ (नसयति, नासयति), पावइ (*प्रापतिः प्रापयति), दलइ (दलति, दलयति); खवइ (क्षमति, क्षामयति √ क्षप भी) गमइ (*गमति, गमयति), णमइ (नमति, नमयति); अपभ्रंश में प्रत्ययान्त धातु (Derivative Roots) पाये जाते हैं। प्रेरणार्थक क्रिया (णिजन्त); बार-बार अर्थ बताने वाला धातुरूप (यङन्त), नाम धातु के भी कुछ क्षीण रूप कभी-कभी दीख जाते हैं :—

(क) प्रेरक धातु—पइसारइ, विउज्झावइ, पहावइ, नच्चावइ।

(ख) यङन्त प्रक्रिया—मरुमारइ, धंधूइ, जाजाहि मुसुमूरइ।

(ग) नाम धातु—सुहावइ, जगडइ, हक्कारइ आदि।

(घ) च्वि प्रकरण की नाम धातु-समर सिहूवाहं, बंधिकिउ, गोअरिहोइ

(ङ.) ध्वनि धातु—किलिकिंचइ, गिणगिणइ, गुमगुमइ, धवधवइ, रुहुरुहइ, कुलु कुलइ आदि।

उपरि निर्दिष्ट रूपों के प्रयोगों से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश की धातु रूप पद्धति सामान्यतः प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के धातु रूपों पर विकासात्मक दृष्टि डालने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अपभ्रंश रूपों का निर्माण संस्कृत एवं प्राकृत के विकसित रूपों पर ही आश्रित है। इस बात की पुष्टि **ज्यू ब्लॉक**[13] महोदय ने की है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों को देखने से यह भी ज्ञात होता है कि संस्कृत के परस्मैपद के आधार पर कुछ रूप ज्यों के त्यों सुरक्षित हैंः—कुरु 8/4/330, भुंजन्ति 8/4/335, वसन्ति 8/4/339, गणन्ति, एन्तु 8/4/347, विहसन्ति 8/4/365, मज्जन्ति 8/4/339, गणन्ति, भणन्ति इत्यादि। संस्कृत के ये रूप

या तो प्राकृत से होते हुए आये हों या सीधे ही आये हों। प्राकृत का न्ति, सि आदि प्रत्यय तो बहुत स्थलों पर छाये हुए हैं। पालि के भी कुछ रूप पाये जाते हैं। **पिशेल साहेब**[14] का अनुमान है कि अपभ्रंश में यत्र तत्र उपलब्ध कुछ रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा प्राकृत से या अर्ध मागधी से होता हुआ आया। इसका कारण यह था कि अपभ्रंश के अधिकांश लेखक जैनी थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि अर्धमागधी का प्रभाव उन पर अधिक हो।

इस प्रकार अपभ्रंश के क्रिया रूपों में अंगभूत विभिन्न प्रकार के प्रत्यय जुटते हैं। **प्रो० भयाणी**[15] ने तिङन्त प्रक्रिया के मुख्य तीन अंग माने हैं + 1. तिङन्त धातु मूलक 2. यौगिक 3. नाम मूलक।

यौगिक–(क) **उपसर्ग** युक्त तिङन्त धातु–अणहर, पवस, पडिपेक्ख, परिहर, विहस (तथा निज्जि, पसर्, विछोड्, विणड्, विणिम्भव्, विन्नास्, संपड्, संपेस्, संवल् आदि)

(ख) **नाम धातु** के साथ कर् और हो प्रत्यय का रूप– खलिकर (वसिकर), फसप्फसिहो चुण्णीहो, लहुईहो।

नाम मूलंक–मूल संज्ञा जब विशेषण के रूप में प्रयुक्त होती है तब–तिकख, पल्लव्, मउलिअ, धणा।

क्रियात्मक धातुमूलक–कर्, आव्, मर्, लह् मिल्, पड्, ज, खा, दे, हो, मुअ आदि।

ऊपर के मूल धातु के साथ निम्नलिखित प्रत्यय लगाये जा सकते हैं।

प्रेरणार्थक–निष्पन्न प्रेरक प्रत्यय–

'आव' प्रत्यय–उड्डाव्, कराव्, घडाव्, नच्चाव्, प्रठाव्, हराव्।

'अव' प्रत्यय–उल्हव्, हव्, विणिम्भव्।

(पूर्व प्रत्यय संस्कृत 'आप्' प्रत्यय का विकसित रूप है)

विकार युक्त प्रक्रिया–

केवल स्वर विकार वाला :– (अ > आ) पाड्, खाल्, मार्, वाल्, वाह्, विन्नास; (उ > ओ) तोस्।

स्वर तथा व्यंजन विकार :– फेड् (मूल फिट्ट), विछोड् (मूल-विछुट्ट), फोड् (मूल-फुट्ट)।

कर्मणि प्रयोग–प्रत्यय–निष्पन्न :–

'इअ' प्रत्यय का :– आण्, जण्, पाव्, खोल्ल्, माण्, वण्ण्, पट्ठाव्, 'इ' ज्ज, प्रत्यय की धातु–कप्प्, गिल्, चंप्, छोल्ल्, दंस्, फुक्क, मिल्, रूस्, लज्ज्, सुमर्, ज, जे, कि, छि, दि, पि, (ज्ज प्रत्यय का) खा।

(उपरोक्त प्रत्यय संस्कृत कर्मणि 'य्' प्रत्यय का विकसित प्रत्यय है)

सिद्ध रूप :–(संस्कृत कर्मणि प्रयोग का ध्वनि परिवर्तित रूप):– घेप्प, डज्झ, लब्भ, समप्प।

मूल कर्मणि प्रयोग या ऊपर प्रेरक रूप सिद्ध होते हैं।

भविष्य का प्रयोग–'ईस्' (एस्, इस्) 'स' (स्वरान्त बाद में होता है) वाला रूप :– करीस, पइसीस्, पावीस्, खुड्डीस्, कीस्, रूसेस्, सहेस्, फुट्टिस्, होइस्, एस्, होस।

'इह्' का ह् (स्वरान्त बाद में होता है) :– गमिह्, होह्। (भविष्य के प्रयोग साधक प्रत्यय संस्कृत 'इ' ष्य से बना हुआ रूप है)

भविष्य का आज्ञार्थ रूप–एज्ज् (इज्ज्), का 'ज्ज्', (स्वरान्त बाद में होता है) का रूपः– रक्खेज्ज् लज्जेज्ज् चइज्ज्, भमिज्ज्, होज्ज्, (पूर्वोक्त रूप का प्रत्यय विध्यर्थ 'एय्' से बना हुआ है)।

संयोजक स्वर

कुछ रूपों में रूप साधक प्रत्यय लगे हुए हैं। उनमें से कुछ बचा हुआ संयुक्त स्वर भी है—1. स्वरान्त प्रयोग बाद में होता है। 2. आज्ञार्थ वाचक, पुरुष वचन में स्वरादि प्रत्यय पहले होता है। 3. भविष्य काल के पहले पुरुष, एकवचन प्रत्यय के पहले संयुक्त स्वर नहीं रहता है किन्तु अन्यत्र रहता है। संयोजक स्वर के 'अ' का कहीं 'आ' 'इ' 'ऍ' का 'ए' होता है।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहों में मुहावरों का अभाव सा है। मुहावरों से भाषा में प्राणदायिनी शक्ति आ जाती है। अपभ्रंश में मुहावरों के अभाव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए **ज्यूल्स ब्लॉक** ने अपने **ला फ्रेज नोमिनल इन संस्कृत** और **लिण्डो आर्यन** में बताया है कि संस्कृत महाकाव्यों में बहुत कम मुहावरों का प्रयोग हुआ है। अतः प्राकृत के बाद अपभ्रंश में भी मुहावरों का अभाव हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन सारी दृष्टियों से विचार करने पर पता चलता है कि क्रिया रचना की पद्धति में क्रमिक विकास हुआ है। धातु रूपों का स्टेज प्राकृत और प्राचीन उत्तर भारतीय आर्यभाषा के धातु रूपों में से मध्यम मार्ग अपनाते हुए भारतीय आर्यभाषा की क्रिया पद्धति में नवीनता या सरलता लाने का सदा प्रयास किया गया है। जैसा कि प्राकृत में तथा उत्तरी आर्य भाषा की क्रियाओं में मुहावरों का स्थान साधारण रहा है ठीक उसी प्रकार अपभ्रंश की भी गति रही। अतः अपभ्रंश के धातुरूपों
ी क्रिया पद्धति प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के वर्तमान कालिक
पर आश्रित है। कुछ धातु रूपों के आधार को प्रा० भा०
क्रिया रूपों के आधार पर निर्माण में कल्पना का आश्रय
ये। तात्पर्य यह कि अपभ्रंश की क्रियाओं का रूप प्रा०
े वर्तमान कालिक रूप तथा वर्तमान को पूर्ण बनाने
वाले ।
पक कृदन्त क्रिया के आधार पर अवलम्बित है। धातुओं
में सकम५
ौर अकर्मकता का भेद प्रा० भा० आ० के समान

ही समझना चाहिये या प्रेरणार्थक रूपों के आधार पर समझना चाहिये। अपभ्रंश के धातु रूप मूलतः अकारान्त ही है। उनमें ध्वन्यात्मक विशेषता है या भाषात्मक पुनर्सजावट है। म० भा० आ० की क्रियाओं की सजावट का आधार है **कर्तृवाच्य, भाववाच्य और कर्मवाच्य।** इसके अतिरिक्त भूतकालिक कृदन्त तथा अनुकरणात्मक क्रिया का आधार भी यही है। इसकी पुष्टि **ग्रियर्सन** महोदय ने बड़े जोरदार शब्दों में **जर्नल आफ दी बंगाल एशियाटिक सोसाइटी** सन् 1924 में की है। इनके आतिरिक्त प्रेरणार्थक क्रियायें भी हैं जिसके आधार पर अकर्मक धातु भी सकर्मकता को प्राप्त कर लेती है। संस्कृत में णिच् प्रत्यय लगाकर प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। उसी प्रकार अपभ्रंश में भी आय या आव लगाकर प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। इसी से हिन्दी में आना या वाना लगा कर प्रेरणार्थक क्रिया बनती है—पकना, पकाना, पकवाना, पढाना, पढ़वाना आदि।

अपभ्रंश के वर्तमान कालिक क्रियारूपों पर संस्कृत एवं प्राकृत का बड़ा जबर्दस्त प्रभाव है। भविष्यत्काल के रूपों का विकास प्राकृत से अधिक हुआ। विध्यर्थक लोट् लकार पर दोनों प्राकृत एवं संस्कृत का प्रभाव है। भूतकालिक कृदन्त क्रिया प्राकृत से प्रभावित होती हुई भी स्वतः विकसित हुई। अपभ्रंश के रूपों में स्वरात्मक विकास कई प्रकार से हुआ। ध्वनि की सहायता से रूपों में परिवर्तन लाना सरलता की ओर झुकना था। क्रिया रूपों के विकास पर सिंहावलोकन करते हुए यह भी ध्यान देना चाहिये कि हिन्दी की क्रिया में जो दुहरी क्रिया अर्थात् कृदन्त के साथ काल बोध करने के लिये जो सहायक क्रिया का प्रयोग हो रहा है उसमें अपभ्रंश की क्रिया ही कारण है।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश की धातुयें तद्भव अधिक हैं। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में प्राप्त यत्र-तत्र संस्कृत धातु युक्त क्रिया पदों को छोड़कर कुछ ऐसी भी क्रियायें पाई जाती हैं जो कि पूर्णतया तत्सम न होती हुई भी तत्सम के समीपस्थ हैं। कुछ धातुयें ऐसी भी हैं जो कि हैं तो तत्सम किन्तु वे अपभ्रंश के प्रत्ययों के साथ

प्रयुक्त हुई हैं :– गमिहि 8/4/330 (गमलृ गतौ[16]) मिलइ[17] 8/4/332 सं० मिल धातु तुदादिगण में पठित है, अर्थ मिल-श्लेषणे-मिलना (परस्मैपद) तथा मिल संगमे (समागम) उभयपदी; भुंजन्ति 8/4/373 भुज[18] (पालनाभ्यवहारयोः) रक्षा और भोजन, भुजो[19] (कौटिल्ये) कुटिलता। उपभोग अर्थ भी हो सकता है। **गृण्हइ** 8/4/336 ग्रह[20] (उपादाने) लेना; मारेइ 8/4/393–मृ[21] (मरणे) मरना णिजन्त में मारयते, उत्तरइ 8/4/339–उत् + तृ[22] (प्लवन संतर णयोः) कूदना, तरना, कर, करहि, करहु 8/4/346 डुकृञ[23] (करणे) करना, एन्तु 8/4/351 इण[24] (गतौ), पसरिअउं 8/4/358 प्र+सृ (उपसरणे)[25], रूसइ–रूस रूसने[26] (हिंसार्थायां); गणइ 8/4/358 गण[27] (संख्याने) गणना, जलइ 8/4/365 जल[28] (घातने) मारने (भ्वादि०) जल[29] (अपवारणे) जाल, किन्तु दोहा के अर्थ को देखते हुए 'जलइ' का विकास ज्वल[30] (दीप्तौ) भ्वादि से है। अतः जलइ=जल धातु तद्भव है तत्सम नहीं। खण्डइ 8/4/367 खडि[31] मन्थे, खडि[32] भेदने। अर्थ की दृष्टि से चुरादि का जान पड़ता है। सहहि 8/4/382 षह[33] (मर्षणे) सहना, षह[34] (चक्यर्थे) तृप्त होना या मारना, षह[35] (मर्षणे) तृप्त होना, यह चुरादि तथा भ्वादि दोनों की धातु है। पीडन्तु 8/4/385 पीड पीडने चुरादि। फुल्लइ 8/4/387 फुल्ल[36] विकसना–फूलना, परिहरइ 8/4/389 परि+हृ (अपहरणे) भ्वादि। चिन्तिज्जइ 8/4/396 चिति (स्मृत्याम्) स्मरण चिन्ता करना। इस 'ति' में इकार ग्रहण से चुरादि का णिच् प्रत्यय विकल्प करके होता है। पक्ष में इसका रूप भ्वादि की भाँति भी होता है। गलइ 8/4/410 गल (अदने) खाना, गल–स्रवणे, गल–आस्वादने, देउ 8/4/422 दा-दाने (जुहोत्यादि) यह तद्भव है। इच्छउं–इषु[37] इषणे-इच्छा।

तिङन्त प्रत्ययों से युक्त संस्कृत धातुओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी धातुयें हैं जो कि हैं तो वस्तुतः संस्कृत की तत्सम धातु, परन्तु अपभ्रंश में अपभ्रंश के प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त होने के कारण स्वरों पर या व्यंजनों पर एक्सेंट पड़ा है। फलतः तत्सम धातुओं

में कुछ विकार सा उत्पन्न हो गया है। कुछ ऐसी तत्सम धातुयें हैं जो कि पालि में प्रयुक्त होने के बाद ज्यों के त्यों अपभ्रंश में सुरक्षित हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि पालि में प्रायः सभी संस्कृत धातु गणों का रूप भ्वादि की भाँति ही चलने लगा था। वही स्थिति अपभ्रंश में भी रही है जबकि संस्कृत तत्सम धातुओं का प्रयोग हुआ है। अस्तु अपभ्रंश के समस्त क्रिया रूपों पर ध्यान देने से पता चलता है कि अपभ्रंश में तद्भव रूपों का बाहुल्य है। कुछ देशज धातुयें भी प्रयुक्त हुई हैं किन्तु उनकी संख्या यदि तत्सम धातुओं से कम नहीं तो अधिक भी नहीं है। सबसे बड़ी विचित्र बात तो यह है कि भूतकाल के लिये प्रयुक्त कृदन्तज प्रयोगों में तत्सम धातुओं के रूपों का प्रायः अभाव है। यदि भूलते भटकते हुए कहीं तत्सम के रूप मिल भी जायँ तो भी उनकी संख्या नगण्य ही मानी जायेगी। कृदन्त तद्भव इस बात का द्योतक है कि अपभ्रंश ने स्वतः धातुओं का निर्माण किया। उनकी अपनी स्वतः सत्ता है। नव्य भरतीय आर्य भाषाओं की धातुयें इसी से उद्भव हुई हैं।

हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश में बहुत कम धात्वादेश के सूत्रों का विधान किया है। दोहों में धात्वादेश के अतिरिक्त बहुत सी ऐसी धातुयें प्रयुक्त दीखती हैं जो कि शौरसेनी की हैं। **डॉ० गुणे** एवं **दलाल** ने कहा है कि **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश धात्वादेश उनके प्राकृत व्याकरण, द्वितीय पाद के दूसरे सूत्र से लेकर द्वितीय पाद 259 सूत्र तक हैं[38]। वे सभी धातुयें अपभ्रंश में लागू होती हैं।

धातुरूप

1. अपभ्रशं में संस्कृत की व्यंजनान्त धातु में 'अ' जोड़ कर रूप बनाये जाते हैं।

भण + अ + इ = भणइ = कहता है।

कह् + अ + इ = कहइ = कहता है।

इनमें 'अ' को विकरण समझना चाहिए।

2. उकारान्त धातुओं को 'अव' होता है।

रु = रुवइ = रोता है।

सु = सुवइ = सोता है।

3. ऋवर्णान्त धातुओं के आन्तिम ऋ को 'अर' देते हैं।

कृ = कर = करइ = करता है।

मृ = मर = मरइ = मरता है।

हृ = हर = हरइ = हरता है।

उपान्त्य ऋ को अरि होता है।

कृष = करिसइ

मृष = मरिसइ

4. ईकारान्त धातुओं को ए होता है।

नी = नेई = ले जाता है।

उड्डी = उड्डेइ = उड्डीयते = उड़ता है।

5. उपान्त्य स्वर को दीर्घ होता है।

रुष = रूसइ = रूष्ट होता है।

तुष = तूसइ = तुष्ट होता है।

पुष = पूसइ = पुष्ट होता है।

6. एक स्वर के स्थान में दूसरा स्वर आ जाता है।

चिन = चिनइ = चुनइ = चुनता है।

रु = रुवइ = रोवइ = रोता है।

7. धातु के अन्तिम व्यंजन को द्वित्व होता है।

फुटइ = फुट्टइ = फूटता है।

तुट् = तुट्टइ = तोड़ता है।

लग् = लग्गइ = लगता है।

सक् = सक्कइ = सकता है।

कुप् = कुप्पइ = कुपित होता है।

8. संस्कृत द्य का ज्ज होता है।

संपद्यते = संपज्जइ = संपादित होता है।

खिद्यते = खिज्जइ = खिन्न होता है।

रूपावली

वर्तमान काल–

सामान्यतया अपभ्रंश में निम्नलिखित प्रत्यय होते हैं :–

पुरुष	**एक व०**	**बहुव०**
उत्तम०	उ	हुँ
मध्यम० –	हि और सि	हु
अन्य०	इ	हिं
	एक वचन	**बहुवचन**
उत्तम०	1. वट्टउँ	वट्टहुँ
मध्यम०	2. वट्टसि और वट्टहि	वट्टहु
अन्य०	4. वट्टइ	वट्टहिं

सामान्यतया प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार और अपभ्रंश साहित्य को देखते हुए निम्नलिखित तिङ् विभक्ति चिह्न पाये जाते हैं।

पुरुष	**एक०**	**बहुवचन**
उत्तम०–	मि, आमि, इमि, उं, उ	मु (हे० 8/4/386), हुँ (हे० 8/4/386 मो, म

मध्यम०–	सि, हि, हिं	हु, ह, इद्धा
अन्य०–	इ, दि, एदि, ए	हिं, न्ति, न्ते, इरे

	एकवचन	**बहुवचन**
उत्तम०–1.	करउँ, करमि, करिमि, करेमि करेवि (म को व) करु।	करहुँ, करिमु (हे०8/4/386) करिमो, करिम।
मध्यम०–2.	करसि, करहि, करहिं (करेसि)।	करहु, करह, करिद्धा (एलडी० 4,53 **डॉ० तगारे** §136)
अन्य०– 3.	करइ, करेइ, करदि (हे०8/4/393) करेदि।	करन्ति (हे० 4/382) करहिं (हे०4/382) करन्ते, करिरे।

पूर्वोक्त तिङन्त प्रत्यय चिह्नों का स्पष्टीकरण हम पालि तथा प्राकृत के प्रत्यय चिह्नों से कर सकते हैं।

पालि

	एकवचन	**बहुवचन**
उत्तम०–1.	आमि (< प्रा० भा० आ०–आमि)	आम (< प्रा० भा० आ० – आमः, आमो)
मध्यम०–2.	असि (< प्रा० भा० आ०–असि)	अथ (< प्रा० भा० आ० – अथ)
अन्य०– 3.	अति (< प्रा० भा० आ०–अति)	अन्ति (< प्रा० भा० आ० – अन्ति)

साहित्यिक प्राकृत

पुरुष	**एकवचन**	**बहुवचन**
उत्तम–	1. अमि, ए	आमो,मु,म
मध्यम–	2. असि, असे	अह, अध, अथ, इत्था
अन्य–	3. अइ, अए, अदि, अदे, अति।	अन्ति, अन्ते, इरे

इन प्रत्ययों में 'से' केवल अकारान्त धातुओं से परे होता है। जिन अकारान्त धातुओं के बाद 'मि' प्रत्यय आता है वहाँ विकल्प करके आ होता है–भणामि, पक्ष में भणमि। जिन अकारान्त धातुओं के बाद 'मो' 'मु' एवं 'म' प्रत्यय लगता है वहाँ विकल्प करके 'आ' और 'इ' होता है–भणामो, भणिमो, भणेमो इत्यादि।

इसी प्रकार अकारान्त धातुओं के बाद 'ए' विकल्प करके प्रायः सर्वत्र होता है जैसे–हसमि, हसामि, हसेमि और हसं भी हो सकता है। पैशाची में ति के स्थान पर 'तिं' एवं 'ते' होता है। शौरसेनी में 'ति' के स्थान पर 'दि' होता है–होदि, भोदि इत्यादि।

1. उत्तम पुरुष ए० व०–

(i) प्राकृत का अमि, आमि रूप प्रा० भा० आ० मि (आमि) से संबद्ध है (दे० पिशेल §454) जैसे–करोमि, ब्रूमि आदि। आमि, एमि (आ का अ और ए का इ) परवर्ती प्राकृत तथा अपभ्रंश में होता है। प्रा० करेमि, जाणामि, जाणेमि; प्रा०, अपभ्रंश–करिमि, जाणमि, जाणिमि।

(ii) प्रा० भा० आ०–म (मध्य में) बहुत कम पाया जाता है–पा०–गच्छम, अप०–याणम (=जाणम; वसु०)।

(iii) अऊँ (केवल परवर्ती अपभ्रंश में) **पिशेल** (§454) ने इसे रूप के अन्त में लगने वाला माना है–कड्ढउँ < कर्षामि (हे०

4/385) किज्जउँ < क्रिये यहाँ इसका अर्थ करिष्यामि है (हे० 4/385/445,3), जाणउँ < जाणामि (हे० 4/391,439,4); जोइज्जउँ < विलोक्ये, देक्खउँ < द्रक्ष्यामि, झिज्जउँ < क्षीये (4/356,357 4,425); पावउँ < प्राप्नोमि; < पकावउँ <* पक्वापयामि < पचामि, जीवउँ <* जीवामि, चजउँ (तजउँ) < त्यजामि (पिंगल–1,104, अ 2,64); पिआवउँ (पिआवउ) <* पिबापयामि < पाययामि है। अपभ्रंश के ध्वनि नियमों के अनुसार जाणउँ रूप केवल * जानकम से उत्पन्न हो सकता है (**पिशेल** §352), **पिशेल** महोदय का कहना है (§454) कि * जानकम् के साथ व्याकरणों द्वारा दिये गये उन रूपों की तुलना की जानी चाहिये जिनके भीतर अक आता है जैसे, पचतकि, जल्पतकि, स्वपितकि, पठतकि, अद्धकि और एहकि हैं। यह क परवर्ती वैदिक यामकि < यामि सें व्युत्पन्न माना जाता है।

अउँ (अउ का ही वैकल्पिक अनुनासिक है) का विकास **डॉ० चाटुर्ज्या** ने इस प्रकार माना है–

प्रा० भा० आ० आमि < म० भा० आ० आमि–अमि > परवर्ती म० भा० आ० या अपभ्रंश * अविं >* अउइ > अउँ। 'करउँ' की व्युत्पत्ति का संकेत **डॉ० चाटुर्ज्या**[39] ने यों किया है :–

प्रा० भा० आ० करोमि, * करामि > म० भा० आ०–करमि, परवर्ती म० भा० आ० या अपभ्रंश * करविं अन्तिम इ की समाप्ति के साथ या किसी समान स्वर से घुलमिलकर *> करवि >* करउइँ > करउँ। मि वाला रूप प्राकृतीकरण है। उँ, उ वाले रूप अपभ्रंश के निजी रूप हैं। **संदेशरासक**[40] में भी उँ, उ वाले रूपों का ही बाहुल्य है। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** तथा **प्राकृत पैंगलम्** में भी यही स्थिति है। निष्कर्ष यह कि 12वीं शताब्दी तक मि वाले रूप का अस्तित्व समाप्तप्राय सा हो चला। यत्र तत्र मि वाले रूप जो पाये जाते हैं वह वस्तुतः प्राकृत का साहित्य पर प्रभाव पड़ने के कारण था।

अपभ्रंश के अउँ, अउ का ही विकास न० भा० आ० भाषाओं के वर्तमान उत्तम पुरुष ए० व० के तिङ् के चिह्न के रूप में हुआ है। प्राचीन[41] पश्चिमी राजस्थानी में अन्त्य अ–उ प्रायः या तो दुर्बल होकर उँ हो जाता है (तेस्सितोरि §11, (1)) जैसे बोल्-उँ, धर्-उँ में अथवा सिमट कर ऊँ (तेस्सि० 11 (4)) हो जाता है–कर्-ऊँ, लह्–ऊँ। कहीं-कहीं अ–उँ के इ–उँ हो जाने का भी एक उदाहरण मिलता है–बोल् इ–उँ=मैं बोलता हूँ।

(iv) म्हि > म्मि (पूर्ववर्ती म० भा० आ० में नहीं पाया जाता) यह संभवतः उत्तम पु० ए० व० क्रिया अस्मि से आया है। बुद्धिस्ट संस्कृत में प्रायः अस्मि का प्रयोग क्रिया पूरक के अर्थ में होता है–प्रा०–गच्छम्हि, अप०–अब्भथियम्मि (विक्रमोर्वशी)

(v) ए–महे अप०–पदिच्छमहे (ब० व०, ए०व० के लिये) (वसु०)।

2. उत्तम पुरुष ब० व०–

सभी प्राकृत बोलियों के उ० पु० ब० व० वर्तमान कालिक रूप के अन्त में मो आता है, पद्य में-मु तथा म भी जोड़ा जाता है जो वर्तमान काल का सहायक चिह्न है (पिशेल §455) हसामो, हसामु और हसाम रूप है। अपभ्रंश में इसका हुँ रूप मिलता है–वट्टहुँ (=*वर्तामः = वर्तामहे) हुँ (अहुँ) की व्युत्पत्ति के विषय में काफी मतभेद है।[42] **हार्नले** ने इसे अहुँ, अउँ < प्रा० अमु से व्युत्पन्न माना है। यह संमक्तः उत्तम पु० ए० व० अउ से भिन्न रखने के लिये किया गया है। यह अन्य पु० ब० व० अहि से मिलाने के लिये किया गया है।

काडवेल ने अम्हों, अम्ह (हसम्हो, हसम्ह < √हस) को उत्तम पु० ब० व० का वैकल्पिक रूप माना है। इस पर **डॉ० तगारे** का कहना है कि अगर यह सत्य है तो अहुँ में ह–ड़सी का प्रभाव जान पड़ता है।

पिशेल (§455) ने उत्तम पुरुष ब० व० हुँ को समस्या माना है। उसने सुझाव दिया है कि इसका संबन्ध अपादान कारक ब० व० चिह्न हुँ से जोड़ना चाहिये।

डॉ० तगारे ने उ० पु० ब० व० अहुँ की व्युत्पत्ति के विषय में अपना नवीन मत दिया है। अपभ्रंश पद रचना में स्वर+स्म+स्वर= स्वर+ह+सानुनासिक स्वर–उद्‌हारण तस्मात् > तहाँ, तस्मिन् > तहिं रूप देख सकते हैं। इस प्रकार हम अहुँ का संबंध प्रा० भा० आ० रूप उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम कर्ता ब० व० अस्माक से जोड़ सकते हैं। अहुँ का अनुनासिक तत्व उत्तम पुरुष ए० व० अउँ का प्रभाव है। यही अहु न० भा० आ० के उ० पु० ब० व० की उत्पत्ति के जानने का साधन है–उदाहरण महा०–ओ, उँ, सिन्धी-ऊँ नेपाली (अ) उँ, मैथिली, बंगाली ओ आदि। हिन्दी में वर्तमान इच्छार्थक उत्तम पु० ब० व० में एँ (हि० चलें) रूप पाये जाते हैं। इसकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है। **डॉ० भोलाशंकर व्यास**[43] ने इसका विकास इस प्रकार माना है प्रथम पु० ब० व० चलहिं > चलइँ > **चलें**।

डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी[44] अउँ तथा म० पु० ब० व० * अह का सम्मिश्रण मानते हैं–कुर्मः >* करामः >* करउँ (उत्तम पु० ब० व०) तथा म० पु० ब० व० * करथ > करह, के एक दूसरे से परस्पर प्रभावित होने से * करउँ + करह से दोनों में करहु रूप हो गया। म० पु० ब० व० तथा उ० पु० ब० व० एक सा है। मध्यम पु० ब० व० में * करह रूप होना चाहिये तथा उत्तम पु० ब० व० में * करउँ।

3. मध्यम पुरुष ए० व०–

म० पु० ए० व० वर्तमान काल अपभ्रंश में समाप्ति सूचक–सि के साथ हि भी चलता है (पिशेल §264), मरहि <* मरसि < म्रियसे, रुअहि < वैदिक रुवसि < रोदिषि, लहहि < लभसे, विसूरहि < खिद्यसे और णीसरइ < निःसरसि (हेम० 8/4/368, 383, 1, 422, 2, 439, 4;)। प्रा० भा० आ० में वर्तमान के म० पु० ए० व०

का प्रत्यय सि (करोषि, चलसि, गच्छसि) था। म० भा० आ० में अपरिवर्तित रहा। अपभ्रंश में सि के साथ हि वाले रूप भी मिलते हैं। **डॉ० तगारे** ने—असि (—एसि, इसि) और अहि (एहि—हि) में से अहि (हि) को अपभ्रंश का वास्तविक विकास माना है। पूर्वी अपभ्रंश में (अ) सि वाले रूप ही अधिक मिलते हैं। दक्षिणी तथा पश्चिमी अपभ्रंश में हि वाले रूप अधिक मिलते हैं। **डॉ० तगारे** ने सि तथा हि रूपों में 2:25 का अनुपात माना है। 1100 से 1300 ई० में ब्राह्मणिज्म और संस्कृत के प्रभाव के कारण महाराष्ट्र में सि चिह्न वाले रूप प्रमुख हो उठे। पुरानी मराठी में असि और इसि वाले रूप पाये जाते हैं। हि वाले रूपों का विकास **प्रो० ज्यू ब्लाख**[45] और **एल० एच० ग्रेने**[46] आज्ञा म० पु० ए० व० के * धि से जोड़ा है। पूर्ववर्ती पश्चिमी अपभ्रंश में हि का बाहुल्य था। इसका प्रवाह अपभ्रंश काल तक था। किन्तु कथ्य भाषा में ये लुप्त प्राय हो चले। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** में सि (करसि) (§71) वाले रूप मिलते हैं। **प्राकृत पैंगलम्** में म० पु० ए० व० के वर्तमान कालिक रूप सि और हि दोनों रूप मिलता है :—

घल्लसि (1, 7), कीलसि (1, 7)

जाणहि (1, 132 < जानासि)

खाहि (2, 120 < खादसि)

न० भा० आ० भाषाओं में सि रूप नहीं पाया जाता है। इसकी जगह अइ वाले रूप पाये जाते हैं—जयपुरी—चलइ, गुज०-चाले-(√चल), अवधी, व्रज—चलइ, हि०—चले।

4. मध्यम पुरुष ब० व०—

म० पु० ब० व० में अहँ, अह और अहु प्रत्यय अपभ्रंश में पाये जाते हैं। प्राकृत ह तिङ् चिह्न का विकास प्रा० भा० आ० थ (गच्छथ) से हुआ है। **ज्यू ब्लॉख**[47] ने अह का संबंध वर्तमान कालिक म० पु० ब० व०*—थस् (उत्तम पु० ब० व० मस् के सादृश्य पर) से जोड़ा है केवल थ से नहीं जिससे कि प्राकृत का विकास

हुआ है। अपभ्रंश में वर्तमान तथा आज्ञा के म० पु० ब० व० के रूप आपस में घुल मिल गये हैं। दोनों जगह अह तथा अहु वाले रूप पाये जाते हैं—जाणह, पुच्छह, पुच्छहु, इच्छह, इच्छहु। इसी म० पु० ब० व० के अह अहु से न० भा० आ० के रूप विकसित हुए हैं। आज्ञा हि०—ओ—चलो, गुज०—मारवाड़ी—ओ (पढ़ो), व्रज, अवधी—उ—करु।

5. अन्य पुरुष ए० व०—

अन्य पु० ए० व० में अइ या इ का चिह्न पाया जाता है। अइ म० भा० आ० का चिह्न है जो कि प्रा० भा० आ० प्र० पु० ए० व० ति प्रत्यय (पठति, गच्छति) से विकसित हुआ है। अइ या इ की सत्ता प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए पुरानी राजस्थानी आदि में भी पायी जाती है। अपभ्रंश में इ या एइ रूप के साथ साथ शून्य या अ वाले रूप भी पाये जाते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में इसका आधिक्य है। **उक्तिव्यक्तिप्रकरण** और **कीर्तिलता** में इसके रूप बहुत पाये जाते हैं। **लक्ष्मीधर**[48] ने शौरसेनी की तरह अपभ्रंश में भी दि प्रत्यय का विधान किया है=होइ, हवइ, होदि, हवदि इत्यादि।

पुरानी राजस्थानी में अइ का उदाहरण—

निति काठ षाई करइ, राती वाहि निति उतरइ (कन्हड दे प्रबन्ध 1,114)।

पुरानी अवधी—

सब को होइ निबाह, बहइ न हाथु दहइ रिसि छाती (तुलसी)—अइ > ए रूप भी **कीर्तिलता** में पाया जाता है :—

काहू काहू अइसनओ संगत करे (कीर्ति० 34)

ए वाले रूपों का विकास अइ वाले रूपों से ही हुआ है:—°ए < °अइ < °ति।

प्राकृत पैंगलम् में भी ए रूप का उदाहरण मिलता है–

आवे (2,38), चलावे (2,38), णच्चे (2, 81) आदि।

शून्य रूप की उत्पत्ति के विषय में दो मत हैं। प्रथम मत के अनुसार यह शुद्ध धातु रूप है। दूसरे मत के अनुसार इसका विकास °ति > °अई > °अ के क्रम से हुआ है। **डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी** दूसरे मत के परिपोषक हैं। **उक्तिव्यक्तिप्रकरण** के वर्तमान प्र० पु० ए० व० रूप 'कर' की उत्पत्ति वे यों मानते हैं:–

प्रा० भा० आ० करोति, * करति > म० भा० आ० करइ > पुरानी कोसली करइ (जो कम पाया जाता है), कर। **प्राकृत पैंगलम्** में अ या शून्य वाले रूप बहुत मिलते हैं :–

पसर (1,76), हो (1,81,94), भण (1,108) आदि।

6. अन्य पुरुष ब० व०–

प्राकृत की सभी बोलियों में अन्य पु० ब० व० के अन्त में न्ति लगाया जाता है। प्राकृत होन्ति, करेन्ति, चू० पै० में उच्छल्लन्ति और निपतन्ति रूप आये हैं (हे० 4/326); अपभ्रंश में विहसंति, करन्ति < कुर्वन्ति (हे० 4/365;445,4)। किन्तु अपभ्रंश में साधारण समाप्ति सूचक चिह्न हिँ है। **पिशेल** के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। **अर्द्धमागधी** में भी हिँ रूप पाया जाता है–अच्छहिं < तिष्ठन्ति। **डा० सुकुमार सेन**[49] का कहना है कि इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार (उत्तम० पु० उम्, हुं; मध्यम पु० हि, हिं) इस प्रकार नहीं मानी जा सकती, जैसे कि हुं, हिं से पूर्ववर्ती नहीं दीखता। इसलिये अच्छा होगा कि इसे तृतीय ब० व० सर्वनाम (* एभिं, * इभिं) के हिं व्युत्पन्न मानें। यह क्रिया के साथ ठीक उसी प्रकार जुट गया जैसा कि उ० पु० में अउँ और म० पु० तु मिल गया। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं–अच्छहिँ, करहिँ, मउलिअहिँ < मुकुलयन्ति, अणुहरहिँ < अनुहरन्ति, *लहहिँ < लभन्ते, णवहिँ < नमन्ति, गज्जहिँ < गर्जन्ते,*

धरहिँ < धरन्ति, करहिँ < कुर्वन्ति, सहहिँ < शोभन्ते आदि (हे० 4/365,1,367,4; और 5; 382)—कर्मवाच्य में घेप्पहिँ < गृह्यन्ते।

परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश में इरे < प्रा० भा० आ० रे (वैदिक दुहरे शेरे) का प्रयोग होता था उदाहरण—हसेइरे, हसइरे, हसिरे आदि। **हेमचन्द्र** के अनुसार यह एक वचन में प्रयुक्त होता था (हेम० 3/142) सूसइरे गाम चिक्खलो < शुष्यति ग्राम चिक्खलः। यही नियम **त्रिविक्रम** ने 2,2,4 में बताया है—सूसइरे ताण तारिसो कण्ठो < शुष्यति तासां तादृशः कण्ठः।

इन सभी पूर्वोक्त रूपों के रहते हुए भी अपभ्रंश में हिँ का ही प्रचलन अधिक है। इसी से न० भा० आ० भाषाओं में हि का विकास पाया जाता है। पुरानी राजस्थानी में °हि °अह प्रत्यय पाये जाते हैं, जो—ए० व० और ब० व० में समान रूप से पाये जाते हैं—जाहि, खाहि, डरपाहि (ढोला मारु रा दोहा), पुरानी अवधी में इसके सानुनासिक रूप मिलते हैं। वहाँ ए० व० तथा ब० व० के रूपों में यह भेद है कि ए० व० में अनुनासिक रूप तथा ब० व० में सानुनासिक रूप मिलते हैं:—

कीन्हेसि पंखि उडहिँ जहँ चहहिँ (जायसी)

बसहिँ नगर सुन्दर नर नारी (तुलसी)

ब० व० में 'हिँ' वाले रूपों का विकास—'इ' के रूप में भी हो गया है। जहाँ ए० व० तथा ब० व० रूपों में कोई भेद नहीं रहा है।

आज्ञा प्रकार (इम्परेटिव) एवं विध्यर्थक

अपभ्रंश में आज्ञा, विधि, एवं हेतु हेतुमद्भावादि अर्थों में लोट् लकार वाला रूप प्रयुक्त होता है। संस्कृत में भी प्रायः इन अर्थों में कुछ कुछ समता होते हुए भी सब के लिये पृथक् प्रत्यय लगाकर अर्थ निश्चित किये जाते थे। किन्तु प्राकृत के बाद अपभ्रंश में यह भेद मिट सा गया और केवल आज्ञा प्रकार (लोट् लकार)

मात्र अवशिष्ट रहा। यह प्रायः सामान्य वर्तमान काल में ही प्रयुक्त होता है। आचार्य **हेमचन्द्र** ने आज्ञार्थ लोट् लकार म० पु० ए० व० हि के स्थान पर इ, उ, एवं ए का विधान किया है[50]। अन्य प्रत्यय विधानों के बारे में मौन हैं। निष्कर्ष यह कि शेष प्रत्यय अपभ्रंश वर्तमान काल की भाँति होते हैं :–

पुरुष	**एकवचन**	**बहुवचन**
उत्तम०–	उँ	हुँ
मध्यम०–	(हि) इ, उ, ए	हु
अन्य०–	उ	न्तु

	एकवचन	**बहुवचन**
उत्तम० 1.	करउँ, करमु, करिमो	करहुँ, करमु, करिमो
मध्यम० 2.	करहि, करिहि, करि, कर, करु, करह, करे	करहु, करहो, करह
अन्य० 3.	करु,	करन्तु, करहुं

व्यंजनान्त के आगे संयोजक अ लगाकर प्रत्यय लगाया जाता है।

	प्रत्यय	**रूप**
मध्यम पु० ए० व०	इ –	अच्छि, चरि, जंपि, खेइ, फुट्टि, मेल्लि, रुणझुणि, रोइ, संचि, सुमरि।
	ए –	करे
	उ –	करु, गज्जु, देक्खु, पेक्खु, विलंबु
	अ –	पेच्छ, भण

	हि –	आणहि, करहि, छड्डहि, धरहि, सुमरहि, खाहि
मध्यम० पु० ब० व०	हु –	करहु, नमहु, पिअहु, मग्गहु, देहु।
	ह –	पल्लवह, पुच्छह, ध्रुवह
अन्य० पु० ए० व०	उ –	अच्छउ, विनडउ (कर्मणि), समप्पउ, जउ, होउ
अन्य पु० ब० व०,	न्तु –	(=अनुस्वार+'तु') पीडंतु

प्रो० भयाणि[51] का कहना है कि अ (ए० व०), हि (ए० व०), ह (ब० व०) प्रत्यय का रूप प्राकृत से लिये गये हैं। ए प्रत्यय इ की पूर्व भूमिका है।

चरि, जेइ ऊपर का चर, जे है। करहु ऊपर का करो, करउ (अन्य पु० ए० व०) का करो अर्वाचीन रूप भी पाया जाता है।

आज्ञा वाचक अपभ्रंश उत्तम पुरुष के रूप की रचना वर्तमान काल के उत्तम पुरुष के रूप की तरह ही होता है। दोनों रूप विधानों में बहुत कुछ साम्य है। अर्थ भेद से ही कालों के रूप का ज्ञान होता है। प्राकृत व्याकरण की अपेक्षा अपभ्रंश साहित्य में रूपों की विविधता पायी जाती है। **डॉ० तगारे** ने इन रूपों की संख्या तक दी है। उन्होंने (1000 ई०) मध्यम पु० ए० व० के 11 रूप दक्षिण अपभ्रंश में दिया है। (1200 ई०) 9 रूप पश्चिमी अपभ्रंश में और पूर्वी अपभ्रंश में 7 प्रकार के रूप जिनमें कि विभिन्न प्रकार के रूप हैं। दूसरी बात यह है कि कुछ खास रूप जिसका वर्णन प्राकृत वैयाकरणों ने किया है—वे हैं—उत्तम पु० ब० व०—हुँ और अन्य पु० ब० व०—अहिं (§पिशेल 467) हैं जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। तीसरी बात यह है कि आज्ञा वाचक में छ प्रत्यय ऐसे हैं जो कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रों के लिये समान हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

मध्यम० पु० ए० व०—०या अ (इ, ए, उ), अह, अहु

अन्य० पु० ए० व०—(अ) उ, अन्य पु० ब० व०—(अ) न्तु

मध्यम० पु० ब० व०—(अ) हु

उत्तम पु० ए० व० में आज्ञा वाचक के लिये कोई अपने रूप नहीं हैं। किन्तु **पिशेल** ने (§470) उ० पु० ब० व० वर्तमान काल हुँ=जाहुँ (हे० 4/385) का विधान किया है। यह वस्तुतः वर्तमान काल का ही रूप है।

मध्यम पुरूष ए० व०—

(i) 'हि' की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० के विकरणहीन धातु के आज्ञा वाचक मध्यम पु० ए० व० तिङ् चिह्न धि (कृधि, जुहुधि) से मानी जाती है। इस प्रकार यह रूप समस्त भारत में था किन्तु पूर्वी अपभ्रंश में इसका बहुत अधिक प्रचलन नहीं था।

पिशेल (§468) का कहना है कि धातु का यदि ह्रस्व स्वर में समाप्ति हो तो नियम यह है कि संस्कृत के समान ही इसका प्रयोग मध्यम पु० ए० व० आज्ञा वाचक में किया जाता है और यदि उसके अन्त में दीर्घ स्वर आये तो उसमें समाप्ति सूचक चिह्न—हि का आगमन होता है। अ० मा० में अ में समाप्त होने वाले धातु अधिकांश में, महा०, जै० महा० और माग० में कभी-कभी अन्त में—हि लगा लेते हैं, जिससे पहले का अ दीर्घ कर दिया जाता है। ऐसा रूप बहुधा अप० में भी पाया जाता है किन्तु इस बोली में आ फिर ह्रस्व कर दिया जाता है। पेक्खहि (पिंगल 1,64) पेक्खु भी मिलता है (हे० 4/419,6), पलित्ता आहि < परित्रायस्व (मृच्छ० 175,22), कराहि और करहि (पिंगल 1,149, हेम० 4,385) और करु भी मिलता है (हे० 4/330,2) सुणेहि < श्रृणु (पिंगल 1,62)।

(ii) सु की उत्पत्ति प्रा० भा० आ० के आत्मनेपदी आज्ञा म० पु० ए० ब० स्व—(ष्व) से है। **पिशेल** (§467) के अनुसार यही

स्व > सु हो गया है। इसका विकास स्व > स्सु (पालिरूप) > सु के क्रम से हुआ है।

यह प्रत्यय प्रायः शब्द के अन्त में–ए और–इ लगाकर बनने वाले तथा कथित अपभ्रंश आज्ञावाचक रूप के साथ लगता हैः–करिज्जसु (प्राकृत पैं० 1,39;41;95;144 आदि), सलहिज्जसु < श्लाघस्व, भणिज्जसु < भण और < ठविज्जसु < स्थापय हैं (प्राकृत पैंगलम् 1,95,109,144)। अपभ्रंश में कर्मवाच्य रूप कर्तृवाच्य के अर्थ में भी काम में लाया जाता है, इसलिये इन रूपों में से अनेक रूप कर्म वाच्य में आज्ञावाचक अर्थ में भी ग्रहण किये जा सकते हैं (§पिशेल 461) जैसे, मुणिज्जसु और इसके साथ साथ मुणिआसु (§पिशेल 467), दिज्जसु (§466); इसके साथ ही साथ देज्जहिं रूप भी मिलता है।

(iii) उ का सम्बन्ध भी 'स्व' से जोड़ा जाता है। **डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी** (उक्ति व्यक्ति प्रकरण–भूमिका §74-पृ0 59) ने भी स्व से ही उ की व्युत्पत्ति दी है। प्रा० भा० आ० कुरुष्व > करस्सु >* करहु > करु। **डॉ० तगारे** (§139, पृ० 298) म० पु० ए० व० 'उ' को अन्य पु० ए० व० 'उ' (प्रा० भा० आ० तु) की अभिवृद्धि मानते हैं। और इसके लिये उदाहरण अणुहवु < अनुभवतु दिया है। उ का उदाहरण–पेक्खु, भणु, जाणु।

(iv) ओ उ का ही विकसित रूप है–करहु > करउ > करो।

(v) इ का रूप परवर्ती अपभ्रंश में अधिक पाया जाता है। इसकी उत्पत्ति °हि से मानना अधिक समीचीन होगा। प्रा० भा० आ० धि > हि > इ। **डॉ० पिशेल** (§461) का कहना है कि **हेमचन्द्र** ने (4/387) एँ और इ में समाप्त होने वाले जिन रूपों को अप्रभंश में आज्ञा वाचक बताया है वे ही विध्यर्थक ऐच्छिक रूप में भी प्रयुक्त होते हैं :– करे ँ < करे < करेः < कुर्याः, इसी से करि रूप भी बना। विअरि < विचारयेः, ठवि < स्थापयेः

और धरि < धारयेः हैं, वस्तुतः =* विचारेः, * स्थापेः और * धारेः हैं (प्राकृत पैंगल 1,68,71 और 72) जोइ < द्योतेः < पश्य है (हेम० 4,364 और 368); रोइ <* रोदेः < रुद्याः, चरि < चरेः, मेल्लि का अर्थ त्यजेः है, करि < करेः < कुर्याः और कहि <* कथेः < कथयेः है (हे० 4/368;387,1 और 3;422,14)।

(vi) शून्य रूप या अ :– इसका विकास प्रा० भा० आ० अ (√पठ, √चल, √भू, भव) से माना जाता है। म० भा० आ० काल में धातुओं को अदन्त होने के कारण अपभ्रंश में यह °अ >० हो गया (√कर + ० = कर, √पठ + ० = पठ √हो + ० = हो) अपभ्रंश तथा न० भा० आ० में भी ये रूप सुरक्षित हैं। उदाहरण–पुच्छ, चिन्त, पसिय, गृण्ह,–आस (√आस), मुय (स्मुक), न० भा० आ० चल < म० भा० आ० चल < प्रा० भा० आ० चल, पठ, हस आदि।

मध्यम पुरुष ब० व०–

ह, हु का संबन्ध ए० व० के रूप 'स्व' से जोड़ा जाता है, जो ब० व० के साथ भी प्रयुक्त होने लगा है। **डॉ० तगारे** ने (§138, पृ० 300) इसकी व्युत्पत्ति * अथु < प्रा० भा० आ० (अ) थ वर्तमान म० पु० ब० व० तथा उ (< प्रा० भा० आ० तु) से दी है। प्रा० भा० आ० थ > ह = होह; प्रा० भा० आ० थस > हु = णमहु, बुज्झहु, करेहु, करहु (हे० 4/346), कुणेहु, कुणहु, कुणह रूप भी **प्राकृत पैंगलम्** में मिलता है। पिअहु < पिबत (हेम० 4/422,20) ठवहु < स्थापयत और कहेहु < कथयत (प्रा० पैंगल 1,119 और 122) इच्छहु, इच्छह, देहु, मग्गहु (हेम०. 4/384)।

अन्य पुरुष ए० व०–

°उ का विकास प्रा० भा० आ० आज्ञा प्र० पु० ए० व० तु से हुआ है। यह प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में होता है :–करोतु, * करतु > म० भा० आ० करउ। शौरसेनी, मागधी और ठक्की में तु > दु हो गया है :–पसीददु < प्रसीदतु, कथेदु < कथयतु

(शाकुन्तल 120, 10) अपभ्रंश णन्दउ < नन्दतु (हे० 4/422,14); दिज्जउ < दीयताम्; और किज्जउ < क्रियताम् (पिंगल 1,81अ), होउ, शौर०, माग०, और ढक्की में भोदु < भवतु होता है। **संदेश रासक** तथा **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** दोनों में केवल °उ (°अउ) वाले रूप ही मिलते हैं। **संदेश रासक** §63 भूमिका–**प्रो० भयाणी**–पृ० 36–होउ, सिज्झउ, जयउ। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** §74–करउ < कुर्यात्, करोतु वा, देक्खउ < पश्येत् पश्यतु वा, होउ < भूयात्, भवतु वा (10/3,4); यह आज्ञा वाचक और विध्यर्थक दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। परवर्ती अपभ्रशं में उ म० पु० से प्रभावित दीख पड़ता है। करहु, चड्डहु आदि।

अन्य पुरुष ब० व०–

म० भा० आ० में इसका विभक्ति चिह्न °अन्तु < प्रा० भा० आ० अन्तु है (चलन्तु, पठन्तु)। अपभ्रंश में न्तु ही मिलता है करन्तु, होन्तु, पीडन्तु (हेम० 4/385)। अप० में इसका °हिँ रूप भी मिलता है–लेहिँ (हेम० 4/387)। अहुँ, अहिँ और अहु के विषय में विचार पहले किया जा चुका है। यह म० पु० ब० व० का रूप अपभ्रंश में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

वर्तमानकाल–

उत्तम पु० ए० व०–(अ) उँ –ब० व०–(अ) हुँ

अन्य पु० ए० व०–(अ) इं –ब० व०–(अ) हिं

यही आज्ञा वाचक में भी है। हम अन्य पु० ए० व० में (अ) उ और ब० व० में (अ) हुँ पाते हैं। ऐसे बहुत से रूप हैं जो कि वर्तमान काल और आज्ञा वाचक में एक समान हैं (यह प्रा० भा० आ० काल से ही वर्तमान काल का है) उदाहरण–म० पु० ए० व०–अहि,–हि, असु, म० पु० ब० व०–अहु,–अहुँ,–अह। इस आज्ञा वाचक म० पु० ने अपना महत्व इस प्रकार अत्यधिक बढ़ा लिया।

न० भा० आ० से भी इसका सम्बन्ध बढ़ गया। राजस्थानी और व्रज भाषा में अ, इ,—एँ, इँ—अप० अहि, एहि का ही विकास है। मरा०—ओ, ओरिया—उ, बंगाली उक आदि। इस प्रकार **ब्लॉक** ने म० भा० आ० से न० भा० आ० का आज्ञा वाचक सम्बन्ध दिखाया है। अपभ्रंश के रूप इन दोनों के बीच को जोड़ने वाली सम्बन्धात्मक कड़ी है।

भविष्यत्काल—

पुरुष	**एकवचन**	**बहुवचन**
उत्तम पु०	करेसमि, करिसु, करीहिमि।	करेसहुँ
मध्यम पु०	करेसहि, करेससि, करीहिसि	करेसहु, करेसहो
अन्य पु०	करेसइ, करेहिइ	करेसहिं, करेहिन्ति

प्रो० भयाणी ने अपने **अपभ्रंश व्याकरण** में भविष्यत्काल के दो भेद किये हैं। 1. निर्देशार्थ भविष्य 2. आज्ञार्थ भविष्य।

1. **निर्देशार्थ भविष्य**—भविष्य-अंग +(संयोजक स्वर) + प्रत्यय भविष्य रूप।

उत्तम पुरूष ए० व० के रूप में संयोजक स्वर नहीं होता। मध्य पु० ए० व० में कहीं 'इ' संयोजक स्वर होता है।

	प्रत्यय	**रूप**
i.	**उत्तम पु० ए० व०** उ (ईस् लगता है)	करीसु, पइसीसु, पावीसु, कुड्डीसु

(कर्मणि) खलिकीसु (कहीं-कहीं एस् भी लगता है)—रूसेसु (इस्)—फुट्टिसु;

iii. **अन्य पु० ए० व०** ई (एस् प्रत्यय) :— सहेसइ, (रूप साधक ईस्) चुण्णीहोइसइ (रूपसाधक स्) होसइ; (संयोजक इ)—एसी; (रूपसाधक—'इह्' संयोजक 'इ')—होहिइ।

ii. **मध्यम पुरुष** के रूपों का उदाहरण **हेमचन्द्र** के **अपभ्रंश दोहों** में नहीं है। 'एसी' < एसिइ; गमिही < गमिहिइ, इनमें इ+इ=ई संधि हुई है।

हेमचन्द्र ने 'कीसु' रूप को कर्मणि वर्तमान के रूप में गणना की है (प्रा० व्या० 4/389), किन्तु कर्मणि अंग 'कि' है (किज्जउँ,) + भविष्य का रूप साधक 'ईस' + उत्तम पु० ए० व० का प्रत्यय 'उ' है। इससे दोनों का भेद स्पष्ट रूप से हो जाता है।

हेमचन्द्र के अनुसार 'सहेसइ' (प्रा० व्या० 422, 23) अन्य पुरुष का रूप है। किन्तु जिस उदाहरण में यह प्रयोग आता है उसका अर्थ लगाने पर यह मध्यम पुरुष का रूप ठहरता है। ऐसा नहीं करते हैं तो 'होसइँ' (हेम० 4/418,4) में 'हि ँ' प्रत्यय का हकार लुप्त स्वर 'इँ' है, उसी में का म० पु० ए० व० 'हि' प्रत्यय का हकार लुप्त 'इ' स्वरूप है। इसकी गणना होती है।

2. **आज्ञार्थ भविष्य–**

मध्यम पु० ए० व० हि **(रूपसाधक प्रत्यय 'ज्ज')** दिज्जहि

„ „ ब० व० हु **(रूपसाधक प्रत्यय 'एज्ज')** रक्खेज्जहु

इसके बाद 'अ' प्रत्ययों का प्राकृत रूप पुरुष, वचन का निरपेक्ष रीति का उदाहरण (इज्ज प्रत्यय) चइज्ज, भमिज्ज, (म० पु० ए० व०), अ का (ज्ज प्रत्यय) होज्ज (अन्य पु० ए० व०) इन का रूप है–'लज्जेज्जं' (उ० पु० ए० व०) इसका संस्कृत रूप–लज्जेयं (विध्यर्थ उ० पु० ए० व०) का ज रूपान्तर है।

दिज्जहि (का देज्जहि), 'रक्खेज्जहु' (रक्खिज्जहु) का अर्वाचीन रूप दीजे या हि०–दीजिये, राखजो–हि० रखिये।

वस्तुतः म०.भा० आ० में भविष्यत् के दो प्रकार के रूप मिलते थे :– (1) स्स रूप, (2) ह रूप। स्स का विकास प्रा० भा० आ० 'स्य' से हुआ है। 'स्य' के य का इ सम्प्रसारण होकर स का ह होना स्वाभाविक है। इस तरह हि (ह) की व्युत्पत्ति की

कल्पना की जा सकती है। या जैसा कि **टर्नर**[52] ने ह की व्युत्पत्ति दी है वह भी तर्कसंगत प्रतीत होता है। प्रा० भा० आ० स्य > स्स > स और इसी से ह का होना स्वाभाविक है। **डॉ० सुकुमार सेन**[53] ने इस पर कई तरीके से विचार किया है।

(i) प्रा० भा० आ० 'स्य' का प्रयोग दोनों प्रकार की धातुओं में होता था–(क) अनिट् (ख) सेट्। अनिट् धातुओं में स्य का प्रयोग अ के अतिरिक्त कोई स्वर या व्यंजन के रहने पर होता था। म० भा० आ० में अनिट् धातुओं के रूपों का प्रत्यय, उन अनिट् रूपों के लिये प्रयुक्त होने लगा जो कि प्रा० भा० आ० में सेट् धातुयें थीं। इस प्रकार (**महा०**) कषामि, पा० करस्सामि <* करस्यामि=करिष्यामि। अशो०–होसामि, पा० हेस्सामि, प्रा०–होस्सामि <* भइष्य, * भोष्य < भविष्य।

(ii) बहुत पुराकाल से ही कुछ बोलियों के रूप थे जिनमें कि ह प्रत्यय लगा रहता था। वही अपभ्रंश काल में प्रभावशाली हो गया। यह संभवतः भारोपीय प्रत्यय है–*सो–प्रा० भा० आ० स-। इसकी उत्पत्ति संभवतः अशोक कालीन पूर्वीय मध्य की बोली में हुई थी। ये दोनों बोलियों से सम्बन्धित हैं और दोनों अन्य पु० ब० व० के हैं:–(देलही तोपरा)–होहंति, (दे० तो० आदि) दाहंति।

(iii) इस प्रत्यय का आधार इस प्रकार माना जा सकता है–(इ) स (स) इ,–इहि, यह संभवतः इससे विकसित हुआ है–>-(इ) ष्य – >* इसिय–(सम्प्रसारण से) >-इसि -> इहि;। विहसिति, भेसिति वि–√हर–; भेसिति < √भू; एसिति < इ।

(iv) जैसा कि पहले लिखा जा चुका है वैयाकरणों के अनुसार आज्ञार्थ भविष्य का रूप भी परवर्ती प्राकृत और अपभ्रंश में बना–होज्जाही, होज्जिही।

(v) भविष्यत्काल के रूप का अन्तिम रूप वर्तमान काल की तरह होता है।

उत्तम पुरुष ए० व०–

मि–प्रा० भा० आ० प्रा० होस्सामि, गच्छिहामि, गच्छिमि; अप०–पेक्खिहिमि, होसमि, कहेहामि, करेसमि, पालेसमि, सहीहिमि < सहिष्ये, होसामि, होहामि।

प्रा० भा० आ० (अ) मः–प्रा० पुच्छिस्सम, दच्छम (< द्रक्ष्याम) अ० मा०, अप० (वसु०)–पाहम; अप०–पाविसु, करेसु > करिसु बोलिस्सम (वसु०)।

उत्तम पु० ब० व०–

होसहुँ, होहिहुँ, होस्सहुँ, होस्सामो, होहामो, होस्सामु, होहामु, होस्साम, होहाम, इन रूपों के अतिरिक्त होहिमु, होहिम भी रूप हो सकता है। करिस्सहुँ,

मध्यम पुरुष ए० व०–

सि=प्रा०–अच्छिहिसि, दाहिसि; **अप०** करिहिसि, करीसि, होहिसि।

हि–करेसहि, होसहि, होहिहि, होस्सहिं इत्यादि।

स्व–अपभ्रंश के आज्ञार्थ भविष्य में यह होता है--भविस्ससु (वसु०)।

मध्यम पु० ब० व०–

होसहु, होहहु, होस्सहु, काहिह, इस्सह

अन्य पुरूष ए० व०–

प्रा०–सुणिस्सइ, करीहिइँ, अप०–होसइ, करेसइ, करिहइ, होहिइ > होइ, होस्सइ, गमिहि (हे०4/330)।

अन्य पु० ब० व०—

शौर०—करइस्सन्ति, अप०—करिहिन्ति, होसहिं, जाणिस्सहिं, होहिहिं तथा होसन्ति।

हिन्दी में भविष्यत् के रूप वर्तमान के साथ ही 'गा, गे, गी' (गतः > गअ > गा, कर्मवाच्य भूत कालिक कृदन्त) को जोड़ कर बनाये जाते हैं। अतः म० भा० आ० के रूप यहाँ विकसित नहीं हुए हैं। राजस्थानी में स वाले रूपों का विकास पाया जाता है।

पुण्यवंत प्रीति पामस्यइ, वली वंसि गढ़ ताहरइ हुस्यइ।

(कान्हड़ दे० 4,197)।

अवधी के भविष्यत् में एक ओर 'ह' वाले रूप, दूसरी ओर °ब (कर्मवाच्य भविष्यत्कालीन कृदंत 'तव्य' से विकसित) रूप मिलते हैं। °ब वाले कृदन्त रूपों का भविष्यत्कालीन प्रयोग पूर्वी[54] हिन्दी की निजी विशेषता है।

भूतकाल

अपभ्रंश में भूतकाल के लिये तिङन्त का प्रयोग समाप्त हो गया। प्रा० भा० आ० में इसकी अभिव्यक्ति वाले तीन लकार (लङ्, लुङ् और लिट्) थे। प्राकृत में ही प्रायः ये सभी लकार समाप्त हो गये थे। **पिशेल**[55] ने कुछ अवशिष्ट भूतकालिक तिङन्त क्रियाओं का निर्देश किया है। किन्तु देखा जाता है कि प्रायः प्राकृत काल से ही निष्ठा कृदन्त के साथ सहायक क्रिया लगाकर भूत काल को स्पष्ट किया जाता था। अपभ्रंश में भी भूतकाल व्यक्त करने के लिये निष्ठा का प्रयोग किया जाने लगा। कभी-कभी सहायक क्रिया √अस् और √भू धातु के माध्यम से भी भूतकाल का अर्थ व्यक्त किया जाता था। अपभ्रंश में जहाँ कहीं 'अहेसि' < अभूत् (सनत्कुमार चरित 447,8), णिसुणिउं < न्यश्रुण्वम् (महापुराण 2,4,12), सहु < असहे, जैसे प्रयोग हैं, ये सब प्राकृत के ही प्रभाव हैं।

विधि प्रकार–

	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पु०	करिज्जउ, किज्जउँ	०
मध्यम पु०	करिज्जहि, करिज्जइ, करेज्ज, करेज्जसु।	करिज्जहु
अन्य पु०	करिज्जउ	करिज्जंतु, करिज्जहुँ

ऊपर के रूपों में ज्ज (सं० याम, याव विध्यर्थ प्रत्यय या की तरह ज्ज है) आज्ञार्थक प्रत्यय से विध्यर्थ प्रत्यय होता है। परिनिष्ठित प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी विध्यर्थक–इज्ज प्रत्यय होता है। अपभ्रंश के कर्मवाच्य में भी यह–इज्ज प्रत्यय होता है। इस कारण कभी-कभी दोनों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है। विध्यर्थक–इज्ज प्रारम्भिक प्राकृत-एय्य का विकसित रूप है। जबकि कर्मवाच्य का इज्जे परिनिष्ठित प्राकृत इय या इय (य) से विकसित हुआ है। इस प्रकार दोनों का विकास क्रम इस प्रकार हुआ :–

विधि प्रकार=य > ऐय्य-ऐज्ज > इय्य-इज्ज

कर्मवाच्य=या > ऐय्य-ऐज्ज > इय्य-इज्ज

विधि प्रकार के रूपों में प्रायः वे ही तिङ् चिह्न प्रत्यय जुटते हैं जो कि आज्ञा में भी पाये जाते हैं। ये रूप प्रायः अपभ्रंश के अन्य तथा मध्यम पु० ए० व० में पाये जाते हैं :–

अन्य पु० ए० व० :– विइज्जइ, संतोसिज्जइ, वंदिज्जइ।

संदेश रासक में °इज्ज के स्थान में इज्जउ रूप मिलता है। (भयाणी, §65-पृ० 36) :–

उत्तम पु० ए० व०–°इज्जउ=लज्जिज्जउ

मध्यम पु० ए० व०–°इज्जसु=पढ़िज्जसु, कहिज्जसु

कुमारपाल प्रतिबोध में—°इज्ज (केवल जीरो) वाले रूप भी प्र० पु०, म० पु० ए० व० में पाये जाते हैं:—दइज्ज, चइज्ज (< त्यज्), भमिज्ज।

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहों में ज्ज, ज्जा प्रत्यय वर्तमान, भविष्य एवं विध्यादि अर्थों में पाया जाता है :— होज्जइ, होज्जाइ, होज्जाहिं, होज्जा, होज्जहु, होज्जउँ इत्यादि। होज्ज, विनडिज्जइ गिलिज्जइ (हेम० 4/370); बलि किज्जउँ सुअणस्सु। यहाँ पर होज्ज का प्रयोग क्रियातिपत्ति के अर्थ में हुआ है। प्रार्थना अर्थ में भी ज्ज का प्रयोग होता है—गोरि सु दिज्जहि कंतु (हेम—4/383); देसिज्जन्तु भमिज्ज—तो देसडा चइज्ज (हेम० 4/418) यहाँ पर भमिज्ज और चइज्ज विधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। रूसिज्जइ, बिलिज्जइ (हेम० 4/418); देज्जहिं (हेम० 4/428)—वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **खज्जइ नव कसरक्कहिं, पिज्जइ नउ घुन्टेहिं**-(हे० 4/423) यह भी वर्तमान अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अपभ्रंश में हेतुहेतुमद्भावादि अर्थों में भी लोट् लकार के न्तु प्रयोग के साथ साथ 'ज्ज' प्रत्यय का प्रयोग होता है—**लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु, जइभग्गा घर एन्तु** (हेम० 4/351); जइ ससि छोलिज्जन्तु (हेम० 4/39),

हिन्दी में आदर सूचक आज्ञा के रूप इसी °इज्ज से संबद्ध हैं :— दीजिये, कीजिये आदि। °इय्य वाले रूपों से हिन्दी में आइये, खाइये, आदि का विकास हुआ है। वस्तुतः न० भा० आ० भाषाओं में आकर विधि के रूप आज्ञा के प्रकार में परिवर्तित हो गये। इसका बीज तो **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में ही मिलता है। किन्तु यह **प्राकृत पैंगलम्** और **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** से स्पष्ट होने लगता है।

अपभ्रंश में पूर्वोक्त रूपों के अतिरिक्त भी कुछ रूप मिलते हैं जो कि संस्कृत, पालि तथा प्राकृत से आये हुए हैं। संस्कृत भाषा में ही प्रायः देखा गया है कि धातु रूपों का प्रयोग स्वतन्त्र

रूप में हुआ है। वे धातु रूप ही लकारों यानी कालों के अर्थों का द्योतन करते थे। किसी पूरक या सहायक क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु जब से क्रियायें भी विशेषण की ओर जाने लगीं तब से सहायक की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। हिन्दी में सहायक क्रिया के विना अर्थ प्रकाशन में अभाव का कारण है–कृदन्तज रूपों का बाहुल्य। अपभ्रंश के युग में ही कृदन्तों की प्रधानता हो चली थी, किन्तु उस समय लकारों के धातु रूपों से वर्तमान, भविष्य एवं विधि आदि के अर्थों का द्योतन होता था। अतः उस समय उन सहायक क्रियाओं की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती थी। आधुनिक हिन्दी में कृदन्तज रूपों की ही प्रधानता होने से भूतकाल के अतिरिक्त अन्य कालों के अर्थ प्रकाशन में भी असुविधा होने के कारण सहायक क्रियायें चल पड़ीं।

संस्कृत में भी एककालिक अर्थ द्योतन के लिये 'अस्' धातु का प्रयोग होता था। वर्तमान और भूत यानी 'है' और 'था' के लिये अस्ति और आसीत् का प्रयोग होता था। भविष्य के लिये इस धातु का विकारी रूप 'भविष्यति' रूप प्रयुक्त होता था। पालि के बाद प्राकृत से ही इस धातु का महत्व बढ़ चला। इसका अर्थ एक अंश का ही प्रकाश करता था। अपभ्रंश में भी यही स्थिति रही। किन्तु जब से हिन्दी में दोहरी क्रिया का प्रयोग होने लगा तब से इस धातु का वैशिष्ट्य बढ़ा। अपभ्रंश दोहा में अस् धातु का रूप दो बार प्रयुक्त हुआ है। **जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु मअच्छ।** (हेम० 4/388) यदि दूसरे अच्छि का अर्थ आस्स्व=आस् (उपवेशने) बैठना (अदादिगण) धातु मानते हैं तब तो केवल पूर्व का अच्छइ ही अवशेष रह जाता है। अतः वर्तमान काल में रूप होगा–अन्य पुरुष ए० व० अच्छइ पक्ष में अत्थि, ब० व० में अच्छहिं, अत्थि। मध्यम पु० ए० व० अच्छहि, अच्छसि, अत्थि; ब० व० अच्छह। उत्तम पु० ए० व०–अच्छउँ, अच्छम्हि, अम्हि। ब० व० में अच्छहुँ, अच्छमो, अच्छम्हो, अच्छम्ह आदि।

कर्मवाच्य रूप

प्रा० भा० आ० में सकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य और अकर्मक धातुओं से भाववाच्य होता था। कर्तृवाच्य दोनों प्रकार की धातुओं से होता था। म० भा० आ० में भी धातुओं की सकर्मकता और अकर्मकता के कारण भाव कर्मणि प्रयोग हुआ। आचार्य **हेमचन्द्र** ने भी स्वतः भाव कर्म का उल्लेख किया है।[56] अपभ्रंश में प्रायः सर्वत्र भूतकाल के लिये कृदन्त=क्त प्रत्यय का प्रयोग होता था। संस्कृत में क्त प्रत्यय का प्रयोग तो प्रायः भाव कर्मणि ही होता था। कर्तृवाच्य के लिये कृदन्त 'क्तवतु' का प्रयोग होता था जिसका कि अभाव प्राकृत काल से ही हो गया था। सामान्यतः भूतकाल में कर्तरि प्रयोग नहीं होता। **कर्मवाच्य** का प्रयोग सकर्मक धातुओं से होता था। क्रिया व्यापार का परिणाम जब कर्म पर पड़े तब धातुयें सकर्मक होती हैं और उनसे कर्मवाच्य होता है :–

1. **ढोला मइं तुहुँ वारिया।** (हेम० 4/330)
2. **विट्टीए मइँ भणिय तुहुँ।**
3. **जे महु दिण्णा दियहडा दइयें पवसन्तेण।** (हेम० 4/333)

क्रिया व्यापार का फल जब कर्म पर न पड़कर कर्त्ता में ही सन्निहित रहे तो भाववाच्य होता है।

हेम० 4/396 = 'असइहिँ हसिउँ निःसंकु = असतीभिः हसितं निःशंकम्। हस धातु का अर्थ हंसना है। हंसना क्रिया व्यापार का फल कर्म पर न पड़कर आनन्द आदि परिणाम कर्ता कुलटाओं पर ही पड़ा। अतः हस धातु को अकर्मक होने के कारण इसे भाववाच्य मानना चाहिये। प्राकृत वैयाकरण **लक्ष्मीधर**[57] ने प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी भाव कर्म मानने का विधान किया है।

पिशेल (§ 535) का कहना है कि कर्मवाच्य प्राकृत में तीन प्रकार से बनाया जाता है।

(1) प्राकृत के ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुसार–य वाला संस्कृत रूप काम में आता है; इस स्थिति में महा०, जै० महा०, जै० शौर०, अ० मा० और अप० में स्वरों के बाद–य का–ज्ज हो जाता है। व्यंजनों के रहने पर यह ईय हो जाता है। अपभ्रंश में इज्ज भी होता है।

(2) धातु में ही इसका चिह्न लगा दिया जाता है अथवा बहुधा।

(3) वर्तमान काल के वर्ग में चिह्न छोड़ दिया जाता है। इस नियम से दा के निम्नलिखित रूप होंगे :–

महा०, जै० महा०, अ० मा० और अप० में दिज्जइ है, जै० शौ० दिज्जदि, शौर० और माग० में दीअदि रूप पाये जाते हैं। **वररुचि** (7, 8); **हेमचन्द्र** (3,160); **क्रमदीश्वर** (4,12) और **मार्कण्डेय** के अनुसार विना किसी प्रकार के भेदभाव के प्राकृत की सभी बोलियों में कर्मवाच्य में ईआ और-इज्ज लगाकर भविष्यत्काल बनाया जाता है। वर्तमान इच्छा वाचक तथा आज्ञा वाचक रूप कर्मवाच्य में आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त कर्मवाच्य वर्ग से पूर्ण भूतकाल, भविष्यत्काल, सामान्य क्रिया, वर्तमान कालिक और भूत कालिक अंश क्रियायें बनायी जाती हैं। **पिशेल** का कहना है कि समाप्ति सूचक चिह्न नियमित रूप से **परस्मैपद** के हैं। **सन्देश रासक**[58] में °इय, °इज्ज तथा °ईय रूपों का अनुपात 33,13 और 3 है। इन सभी के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे अनियमित कर्मवाच्य हैं जो कि संस्कृत रूपों की ध्वन्यात्मक विशेषताओं को बताते हैं: सिज्जइ, पिज्जइ, गिज्जइ, णज्जइ, झिज्जइ, दीसइ, कीरइ, पेसइ, सुम्मइ, पसुप्पइ, घुम्मंति, डज्झंति; प्रेरणार्थक रूप :– चडाइयइ, सुहाइयइ। **तेस्सितोरि**[59] ने अप० इज्ज से पुरानी राजस्थानी में दो प्रकार के रूपों का विकास दिखाया है–(1) ईजइ=पुरानी राजस्थानी कीजइ < अप० कीज्जइ < सं० क्रियते। पु० राज० दिजइ < अप० दिज्जइ < सं० दीयते। (2) ईयइ (ईअइ) वाले :–पु० राज० करीयइ < करीजइ < अप० करिज्जइ < सं० क्रियते। पु० राज०

जोईअइ < जोईजइ < अप० जोइज्जइ < सं० * द्योत्यते। **प्राकृत पैंगलम्** में भी ०इय (इअ), ०इज्ज (ईज) दोनों रूप मिलते हैं। **डा० सुनीति कुमार चटर्जी**[60] ने बताया है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है :—(1) इज्ज—ईज भाषा वर्ग, जैसे राजस्थानी; (2) ईउव—इ भाषा वर्ग जैसे पंजाबी, पुरानी बँगला, पुरानी कोसली। इस प्रकार अपभ्रंश में रूप होंगे हसीअइ, हसिज्जइ,। अपभ्रंश में प्राकृत 'ईअ' भी होता है (हेम० 8/4/330) जाणिअइ। इनके रूप पूर्ववत कालों की भाँति होंगेः—

	एक वचन	बहु वचन
उत्तम पु०	हसिअउँ, हसिज्जउँ	हसिअहुँ, हसिज्जहुँ
मध्यम पु०	हसिअहि, हसिज्जहि	हसिअहु, हसिज्जहु
अन्य पु०	हसिअइ, हसिज्जइ	हसिअहिँ, हसिज्जहिँ

शेष लकारों के रूप पूर्ववत् होंगे। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों में वर्णित कर्मवाच्य के कुछ उद्धरणः—

वण्णिअइ 4/345; **जोइज्जउँ** (दृश्ये) 4/356; **कम्पिज्जइ** (कृत्यते)-4/357; **छिज्जइ** (क्षीयन्ते) 4/360—यहाँ छि में इकार होने के नाते ऐसा प्रतीत होता है कि इज्ज का इ लुप्त हो गया है। **बोल्लिअइ** (देशी) 4/336; **पाविअइ** (प्राप्यते) 4/370; **विणडिज्जइ** (विनाट्यते, देशी), **गिलिज्जइ** (गिल्यते) 4/388; **माणिअइ** (मान्यते) 4/412, **रुसिज्जइ** (रुष्यते), विलिज्जइ (विलीयते), 4/419; **जाइज्जइ** (यायते), **आणिअइ** (आनीयते), लज्जिज्जउँ (दोहा के अर्थ की दृष्टि से लज्जयते, रूप की दृष्टि से लज्ज्ये)—4/328; सुमरिज्जइ (स्मर्यते) 4/434; **मिलिज्जइ** (मिल्यते); **छिज्जइ** (क्षीयते) यहाँ भी छि में इ होने के नाते इज्ज के इ का लोप हो गया। **उव्वारिज्जइ** (उद्वार्यते) अर्थात त्यजते; देज्जइ यहाँ भी इ का लोप है 4/438 किज्जउँ (क्रिये, अर्थ की दृष्टि से क्रियते) यहाँ कृ धातु से कर होकर र का लोप हो गया है।

प्रेरणार्थक क्रिया

प्रा० भा० आ० प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूपों का चिह्न °आय, और ॰अय (भावयति, गमयति) तथा °आपय और °अपय–(स्थापयति, स्नपयति)। म० भा० आ० में अय, ए, आव तथा आवे के रूप में विकसित हुआ। **तेस्सि तोरि** का कहना है (§ 141) कि प्रेरणार्थक धातु रूपों को 'सकर्मक' कहना अधिक अच्छा है। प्राकृत और अपभ्रंश में आपय को सामान्य प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया गया है और इसका प्रयोग किसी धातु के साथ प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिये किया जाता है। इसी आपय का विकसित रूप है आव। इस प्रत्यय के पूर्व प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी का मूल दीर्घस्वर सामान्यतः, परन्तु सदैव नहीं, ह्रस्व हो जाता है; जैसे–

बोलइ से बोलावइ (प० 342) बोलवाना।

कभी कभी आव को ॰अव भी हो जाता है और मूल स्वर को दीर्घ रहने दिया जाता है, जैसे–

पश्चिमी राज० 348–वीनवइ < अप० विण्णावइ < सं० विज्ञापयति। ऐसे रूप प्राकृत और अपभ्रंश में व्यापक रूप से प्रचलित हैं–पट्ठवइ–(हेम० 4/37) < पठवइ, प्रा० विण्णवइ (हेम० 4/38) < विण्णावइ < विज्ञापयति; मेलवइ (हेम० 4/28), सोसवइ (हेम० 3/150) अपभ्रंश में पट्ठाविअ (कर्मवाच्य; हेम० 4/422), प्रयोग भी मिलता है।

पिशेल (§ 551) का कहना है कि प्रेरणार्थक संस्कृत की भाँति ही प्रेरणार्थक वर्धित धातु (=वृद्धि वाला रूप) में–ए=संस्कृत अय के आगमन से बनता है :– कारेइ < कारयति, पाठेइ < पाठयति, उवसामेइ < उपसामयति और हासेइ < ह्रासयति है। आ में समाप्त होने वाले धातुओं में वे=संस्कृत (आ) पय का आगमन होता है :– ठावेइ < स्थापयति, आघावेइ < आख्यापयति महा०–णिव्वावेन्ति < निर्वापयन्ति; शौर० भविष्यत्काल में णिव्वावइस्सं मिलता है। आकारान्त धातुयें प्राकृत में प्ररेणार्थक (आ) व लगाने पर ह्रस्व भी हो जाती हैं :–

स्था :– महा० ठविज्जन्ति, अ० मा० उट्ठवेह, अप० ठवेहु (प्राकृत पैंगलम् 1,87; 125 और 145)

अ, इ और ईकारान्त में समाप्त होने वाली धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं में भी जिनका अन्त स्वर, द्विस्वर और व्यंजन से समाप्त होता है, प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिये प्राकृत बोलियों में–बे–अक्षर (< संस्कृत पय लगाया जाता है)–ए < अय से बनने वाले प्रेरणार्थकों से ये अल्पतर हैं–हसावेइ, हसाविय, महा० में हसाविअ रूप भी पाया जाता है। घडावेइ, घडाविय, करावेइ, कराविअ और कारावेइ रूप भी पाये जाते हैं। कारावियभी हो सकता है।

कुछ प्राकृत बोलियों में ए की जगह–वे भी पाये जाते हैं। विशेषतः अपभ्रंश में जिसमें आ–वा आते हैं। इस प्रकार के रूप नाम धातुओं की भाँति होते हैं अथवा इन धातुओं की रूपावली उन धातुओं की भाँति बनती है जो मूल में ही संक्षिप्त कर दिये गये हों और जिनमें द्विस्वर से पहले नियमित रूप से स्वर ह्रस्व कर दिये गये हों : उदाहरणः– हसावइ (हेम० 3/149), घडावइ (हेम० 4/340), उग्घाडइ (हेम० 4/33); शौरसेनी में घडावेहि पाया जाता है। उद्दालइ < उद्दालयति (हेम० 4/125); पाडइ < पातयति (हेम० 3/153); इस रूप के साथ-साथ महा० में पाडेइ भी देखा जाता है। भ्रम का भमावइ (हेम० 4/151); उत्तारहि (विक्रमोर्वशीय, 69, 2) शौर० में ओदारेदि। मारइ (हेम० 4/33,3) इसके साथ-साथ महा० में मारेसि और मारेहिसि तथा मारेइ रूप भी मिलते हैं। अपभ्रंश में भी मारेइ (हेम० 4/337); हारावइ (हेम० 4/31) अप० वाहइ (पिंगल 1/5अ); निम्मवइ < निर्मापयति (हे० 4/19); पट्ठवइ और पट्ठावइ (हेम० 4/37) इसके अतिरिक्त परिठवहु और संठवहु भी मिलते हैं। ठावेइ और ठवेइ रूप भी चलता है। दा धातु का दावइ और दावेइ रूप बनता है। वज्जेइ, धरेइ (हेम० 4/336); मारेइ, करेइ (हेम० 4/337); घडावइ (हेम० 4/340) सिक्खेइ < शिक्षयति (हेम० 4/334); तिक्खेइ < तीक्ष्णयति (हेम० 4/370); तक्कइ < तर्कयति, थक्केइ (हेम० 4/396), चेअइ < चेतयति। कहीं-कहीं अपभ्रंश दोहों में तुक के आधार पर भी ए का प्रयोग

हुआ है–एइ (हेम० 4/406), इण (गतौ) धातु का वर्तमान काल में एइ < एति रूप होगा। चरण के अन्त में देइ < ददाति रूप भी होता है। देन्ति, एसी, एइ प्रयोग प्रेरणार्थक नहीं है। ये रूप अपवाद स्वरूप हैं। अणुणेइ < अनुनयति प्रेरणार्थक है। भम < भ्रम धातु के प्रेरणार्थक रूपों में भामेइ और भमावइ के साथ-साथ **हेमचन्द्र** (3/151) के अनुसार भामावेइ रूप भी चलता है। **हेम०** (4/30) के अनुसार भमाडइ और भमाडेइ रूप भी मिलते हैं। **हेम०** (4/161)–भम्मडइ, भमडइ और भम्माडइ रूप भी मिलते हैं। आड वाले रूप पुरानी राजस्थानी में भी पाये जाते हैं–ऊडाडइ (दश० 10)=उड़ाता है। जगाडइ (दश०)=जगाता है। पमाडइ (दश०)=दिलाता है।

परवर्ती अपभ्रंश **संदेश रासक** और **प्राकृत पैंगलम्** में प्रेरणार्थक °आव और °अव के रूप अधिक मिलते हैं। अपवाद स्वरूप सारसि (स्मारयसि) जैसे रूप भी मिल जाया करते हैं।

नामधातु

नामधातु संस्कृत की भाँति बनाये जाते हैं। इनमें या तो क्रियाओं के समाप्ति सूचक चिह्न (1) सीधे नामों यानी संज्ञाओं में जोड़ दिये जाते हैं। (2) अन्त में अ=संस्कृत–य वाली संज्ञाओं में इस अन्तिम स्वर का दीर्घीकरण कर दिया जाता है या (3) क्रियाओं के समाप्तिसूचक चिह्न प्राकृत के प्रेरणार्थक के चिह्न ए–वे–और-व-में लगाये जाते हैं। पच्चप्पिणाहि और पच्चप्पिणित्ता रूप; जम्मइ <* जन्मति तथा हम्मइ <* हन्मति; धवलइ (हेम० 4/24); पडिबिम्बि (हेम० 4/439,3); पमाणहु < प्रमाणयत; पहुप्पइ <* प्रभुत्वति; शुष्कसे सुक्कहिं रूप (हेम० 4/427,1) पाया जाता है। संस्कृत में बिना किसी प्रकार का उपसर्ग जोड़कर संज्ञा शब्दों से क्रियायें बना दी जाती हैं जैसे अंकुर से अंकुरति, कृष्ण से कृष्णति, और दर्पण से दर्पणति (कील हौर्न §476; ह्विटनी §1054)। पिशेल (§491) का कहना है महा० और अप० में इस प्रकार के नाम धातु की प्रक्रिया विशेष पाई जाती है। कथा < कहा से

महा०-कहामि, कहसि, कहइ, कहामो, कहइ और कहन्ति रूप मिलते हैं। अप० कहि <* कथेः < कथये है। (हेम० 4/422,14); महा०, अप०–गणइ, गणन्ति और गणन्तीएँ (हेम० 4/353 भी है); महा०, अप०-चिन्तइ और चिन्तन्ताहँ < चिन्तयन्ताम् है (हेम०); उम्मूलइ < उन्मूलयन्ति, पप्फोडइ और पप्फोडत्ती < प्रस्फोटयति; मउलन्ति < मुकुलयन्ति; पाहसि < प्रार्थयसि है।

संस्कृत की भाँति प्राकृत में भी नाम धातु का निर्माण–अ < संस्कृत-य-जोड़ने से होता है। महा०–सुहाअइ, शौर०–सुहाअदि (शाकन्तुल – 49,8) = सुखायति है। **पिशेल** (§ 558) ने उन बहुसंख्यक नाम धातुओं का उल्लेख विशेष रूप से किया है जो किसी ध्वनि का अनुकरण करते हैं अथवा शरीर, मन और आत्मा की किसी सशक्त हलचल आदि को व्यक्त करते हैं। नवीन भारतीय आर्य भाषाओं में भी इनका प्राधान्य है; संस्कृत में इनमें से अनेक पाये जाते हैं, किन्तु इसमें कुछ मूलरूप में है जिनमें इनकी व्युत्पत्ति पाई जाती है। इस जाति का परिचायक एक उदाहरण दमदमाइ अथवा दमदमाअइ (हेम० 3/138) है जिसका अर्थ है 'ठमाठम' करना। यह ढोल या दमामे की अनुकरण का है। प्रेरणार्थक की भाँति भी इनका रूप मिलता है। शौर०-कुरकुरा असि, कुरकुराअदि (मृच्छ० 71); कुरकुराअन्त (कर्पूर० 14,3;70,1); कुरुकुरिअ (=देखने की प्रबल इच्छा; सुध, धुन; देशी० 2,42); जै० महा० में घुरुघुरन्ति (गुर्राना) आया है। टिरिटिल्लइ जिसका अर्थ वेश बदल कर भ्रमण करना (हेम० 4/161) है। महा० में धुक्का धुक्कइ (हाल 584) मराठी धुक धुकणें।

प्रेरणार्थक के ढंग से भी नाम धातु बनते हैं:–अ० मा०–उच्चारेइ < उच्चारयति; उवक्खडेइ <* उपस्कृतयति; बार-बार–उवक्खडावेइ। महा० दुहावइ <* द्विधापयति, मइलेइ, मइले ँन्ति, मइलन्त और मइलिज्जइ पाये जाते हैं जो मइल (=काला) के रूप हैं।

न० भा० आ० में नाम धातुओं का प्रयोग बहुत बढ़ चला है, किन्तु **प्राकृत पैंगलम्** में नाम धातु के प्रयोग कुछ कम पाये जाते हैं :– वरवाणिओ (2,174,2,196 √वखाण <* √व्याख्यानयति *व्याख्यानयते)। जणमउ (1,149 √जणम <* जन्म, जन्मयते)।

संदर्भ

1. पाणिनि–वर्तमाने लट्। 1/3/183
2. पाणिनि परोक्षे लिट्। 3/2/115
3. पाणिनि अनद्यतने लुट्। 3/3/15
4. पाणिनि अनद्यतने लङ्।
5. **प्राकृत व्याकरण**–हृषीकेश कृत–प्रकाशन अहमदाबाद, डायमन्ड जुबली श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, सं० 1961, पृ० 185 'भूतार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने स्वरान्तात् ही, सी, हीअ इत्येते आदेशाः भवन्ति। व्यंजनान्तात् धातोः परस्य भूतार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य स्थाने 'इअ' आदेशो भवति।
6. **भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी**–पृ० 107-राजकमल प्रकाशन-दिल्ली
7. भोला शंकर व्यास–**प्राकृत पैंगलम्**–भाग–2/§103
8. **संन्देश रासक**–पृ० 31
9. **Historical Grammar of Apabhrans**—p.34
10. संस्कृत में 'आगम' (मित्रवद्भवति) एवं आदेश (शत्रुवद्भवति) दो भिन्न व्याकरणिक इकाइयाँ थीं।
11. **जर्नल एशियाटिक सोसाइटी बंगाल**–सन 1924।
12. **हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश**–पृ० 284
13. **लिन्डो आर्यन**–पृ० 207-35, उद्धृत डॉ० तगारे हि० ग्रा० अप० पृ० 282।
14 **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**–§505-8
15 **सिद्ध हेमगत अपभ्रंश व्याकरण**–पृ० 34 श्री फार्गस गुजराती सभा उदय विट्ठल भाई पटेल रास्तो, बम्बई–4
16. धातु पाठ भ्वादिगण।
17. धातु पाठ तुदादि गण पृ० 24, 25 प्रकाशन वैदिक यन्त्रालय अजमेर, सं० 1991।
18. धातु० रुधादिगण।

19. तुदादिगण।
20. क्रयादिगण।
21. भ्वादि गण।
22. तनादिगण।
23. अदादि गण।
24. स्वादि गण।
25. भ्वादि गण।
26. भ्वादि गण।
27. चुरादि गण।
28. भ्वादि गण।
29. चुरादि गण।
30. भ्वादि गण।
31. अदादि गण।
32. भ्वादि गण।
33. चुरादि गण।
34. भ्वादि गण।
35. चुरादि गण।
36. चुरादि गण।
37. 'इषुगमियमां छः' पाणिनि 7/3/77
38. **भविसत्त कहा की भूमिका**–पृ० 60
39. **उक्ति व्यक्ति प्रकरण**–§71–भूमिका पृ० 57
40. **संदेश रासक**–§62–भूमिका प्रो० हरिवल्लभ भयाणी
41. एल० पी० तेस्सितोरि–अनुवादक नामवर सिंह §117 पृ० 145। प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा।
42. **'कम्परेटिव ग्रामर ऑफ गौडियन लैंग्वेजेज**–§497 डा० तगारे द्वारा उद्धत– हि० ग्रा० अप० पृ० 289

43. **प्राकृत पैंगलम् का भाषा शास्त्रीय और छन्दः शास्त्रीय अनुशीलन भाग-2**—पृ० 245।

44. **उक्ति व्यक्ति प्रकरण**—§71 भूमिका पृ० 57।

45. **लिण्डो आर्यन**—पृ० 248-9।

46. 'बी एस ओ एस' viii-ii-iii, पृ० 567 डा० तगारे द्वारा उद्धृत—**हि० प्रा० अप०** पृ० 287।

47. **लिन्डो आर्यन**—पृ० 247।

48. **षड्भाषा चन्द्रिका**—पृ० 284 प्रकाशन—गवर्न्मेन्ट सेन्ट्रल प्रेस बाम्बे, सन 1916.

49. Comparative Grammer of Middle Indo Aryan p.152

50. हिस्वयोरिदुदेत्—8/4/387

51. **सिद्धहेमगतअपभ्रंश व्याकरण**—भूमिका पृ० 38

52. Turner, JRAS 1927, pp. 232-5; BSOS V (1930), 50, VI (1952), 53

53. Comparative Grammar of Middle Indo Aryan p.155

54. **भोजपुरी भाषा और साहित्य**—तिवारी : §536–37, पृ० 273।

55. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**—§515–17।

56. न वा कर्म भावेव्वः क्यस्य च लुक् (8/4/242) चिजिप्रवृत्तीनां भाव कर्मविधिं वक्ष्यामः। 8/3/160

57. **षड्भाषा चन्द्रिका**—3/4/56 ....एवमजन्तानां हलन्तानां च धातुनां भावकर्मणोर्णिचि च रूपसिद्धिः प्राकृतवदेव कल्पनीया।

58. **संदेश रासक**—प्रो० भयाणी §71-भूमिका पृ० 34

59. **पुरानी राजस्थानी**—137, अनु० नामवर सिंह

60. **उक्तिव्यक्तिप्रकरण**—भूमिका §72 पृ० 57

द्वादश अध्याय

धातु साधित संज्ञा

(कृदन्त प्रकरण)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश में भूतकाल के लिये तिङन्त लकारों का प्रयोग समाप्तप्राय सा हो गया था। इसका स्थान निष्ठा कृदन्त ने ग्रहण किया। संस्कृत में निष्ठा 'क्त' एवं 'क्तवतु' दो प्रत्यय होते थे। क्त प्रत्यय का प्रयोग भाव कर्म में होता था और क्तवतु का कर्तृ में। भाषा में सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण अपभ्रंश में 'क्त' प्रत्यय का विकसित रूप ही ग्रहण किया गया। फलतः वाक्य गठन भाव कर्मणि होने लगा। कृदन्त द्रव्य प्रधान होने के कारण विशेषण विशेष्य का अनुसरण करता है। किन्तु अपभ्रंश में लिंगों की अव्यवस्था होने के कारण कभी-कभी रूपों में लिंग भेद करना कठिन सा हो जाया करता है। फलतः कभी-कभी पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग के रूपों में समता सी आ जाया करती है। सच तो यह है कि सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण निष्ठा रूपों से भी लिंग भेद विनष्ट सा हो गया। फिर भी उसका कहीं-कहीं लिंग के अनुसार रूप भी पाया जाता है। 'क्त' का विकसित रूप 'अ' सामान्यतः अपभ्रंश में पाया जाता है। इसी 'अ' का कभी 'आ' भी हो जाता है—**भल्ला हुआ जुमारिआ**—**हेम०**। इन कृदन्त अ, आ, के उच्चारण में य भी श्रुति गोचर होनें लगा। उदाहरण—गय, किय, वारिया आदि। अकार का कभी-कभी 'उ' रूप भी मिलता है=**दूरुड्डाणें पडिउ खलु (हेम०), पिउ दिट्ठउ सहसत्ति** इत्यादि। 'अ' का 'उ' होना अपभ्रंश में 'उकार बहुला' की प्रवृत्ति है। कभी-कभी उकार के पूर्व य भी दृष्टिगोचर होता

है=**तुम्हेहिँ अम्हेहिँ जं कियउँ दिट्ठउ बहुअ जणेण** यहाँ कियउं, दिट्ठउँ में नपुंसक लिंग का अनुस्वार सुरक्षित है। कहीं-कहीं अकर्मक धातुओं में या अन्यत्र भी अ के पूर्व इ स्वर दीख पड़ता है=**जइ ससणेही तो मुइअ, विहंवि पयारेहिं गइअ धण (हेम०)**। संस्कृत में जिन सेट् धातुओं से आर्धधातुक में इडागम होता था उन धातुओं से अपभ्रंश के तद्भव निष्ठा में भी 'श्रुति गोचर' होता है। संस्कृत अनिट् धातुओं के अपभ्रंश अनिट् तद्भव धातुओं के रूपों में भी 'इ' दीख पड़ता है। संस्कृत सेट् धातु का अपभ्रंश तद्भव सेट् धातुओं में उकार भी श्रुतिगत होता है—पडिउ, उव्वरिउ इत्यादि।

निष्कर्ष यह कि निष्ठा 'क्त' का विकसित रूप अपभ्रंश में अ, य एवं उ रूप में पाया जाता है। इन्हीं निष्ठा प्रत्ययों से भूतकालिक क्रिया रूप बनाया जाता है। यह निष्ठा विशेषण विशेष्य का अनुसरण करने के कारण अपना रूप संज्ञा प्रकरण की भाँति चलता था। यद्यपि अपभ्रंश में निष्ठा के प्रथमान्त रूप ही विशेषतया पाये जाते हैं; पर कहीं-कहीं तृतीया एवं सप्तमी आदि विभक्तियों के रूप भी पाये जाते हैं:—**पुत्तें जाएँ कवण गुणु°, सायरि भरिअइ विमल जलि°**। यहाँ पर जाएँ तृतीया का, भरिअइ सप्तमी का रूप है।

भाव कर्म में 'क्त' प्रत्यय रहने पर अ को इ[1] होता है हसिअं, हासिअं, पढिअं, पाढ़िअं, नविअं इत्यादि। भावकर्म में विहित णिच् प्रत्यय का आवि[2] प्रयोग, भूत कालिक निष्ठा 'क्त' के रहने पर होता है। उदाहरण कारिअं, कराविअं, हासिअं, हसाविअं इत्यादि।

अपभ्रंश में निष्ठा का रूप 'दा' धातु से दिण्णी एवं दिण्णा प्रयोग भी बनता है (हेम० 4/330) **कसवट्टइ दिण्णी। जे महु दिण्णा** (हेम० 4/333); परवर्ती अपभ्रंश के समय में भाव कर्म वाच्यार्थक निष्ठा 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग कर्तृवाच्य में भी होने लगा था, जैसे हंसिहि चडिउ का प्रयोग हंस चडयो[3] आदि।

अपूर्ण या वर्तमान कालिक कृदन्त

प्रा० भा० आ० में वर्तमान कालिक कृदन्त परस्मैपदी अन्त (शतृ) तथा आत्मनेपदी धातुओं में मान-आन (शानच्) है। म० भा० आ० में आत्मनेपदी धातुओं का प्रायः लोप हो जाने के कारण माण (मान) वाले रूप कम पाये जाते हैं। प्राकृत °अन् (अन्त) का अन्तो रूप पाया जाता है। न्त (=अनुस्वार+त) व्यंजनान्त धातु के बाद संयोजक 'अ' लगता है। बहुत बार स्वार्थिक अ का विस्तृत न्तय (संकुचित न्ता) रूप होता है। स्त्रीलिंग में 'न्ती' 'न्ति' का विकसित रूप 'न्तिअ' भी पाया जाता है। छन्द वश कहीं अनुस्वार का अनुनासिक भी होता है। न० भा० आ० के कृदन्तों में अनुनासिकत्व समाप्त हो गया है (करत्, करतो, करता, करती)—

उदाहरणः—**जइ पवसन्ते न गयु,** गणन्तिए, जोअन्त, जोअन्ती (हेम० 4/409), जोअन्ताहं, जुज्झंत, दारंत, निवसंत, पवसंत, मेल्लंत, लहंत, वलंत, अेंत देंत, छोल्लिज्जंत, दंसिज्जंत, फुक्किज्जंत। कभी कभी न्त के बाद य भी लग जाता है—नासंतय, रडंतय, जंतय, होंतय, कभी-कभी ता भी जुट जाया करता है—चिंतता, नवंता आदि। कहीं-कहीं 'न्त' की जगह 'त' भी मिलता है—**होसइ करतु म अच्छ**।

स्त्रीलिंगः—गणन्ति, दिंति, मेल्लंति, जेअंति, उड्डावन्तिअ, लहंन्तिअ। अपावन्ती < अप्राप्नुवन्ती, हुवन्ती, पेक्खन्ती आदि।

प्राकृत में °माण (पु०), °माणा-माणी (स्त्री०) वाले रूप भी मिलते हैं। **पिशेल** (§561,62) ने अपने प्राकृत व्याकरण में माण और माणी प्रत्यय का उदाहरण अर्धमागधी और जैन महाराष्ट्री का ही दिया है। इसका अधिक उदाहरण न मिलने का एक कारण तो यह है कि प्राकृत में आत्मनेपद का अभाव है। दूसरा यह कि ये किन्हीं विभाषाओं में ही पाये जाते थे जो कि जैन प्राकृतों के आर्ष प्रयोगों का संकेत करते हैं। पासमाणे, पासइ, सुणमाणे,

सुणइ, मुच्छ माणे, मुच्छइ रूप पाये जाते हैं (आयार० 1,1,5,2 और 3)। अपभ्रंश में प्रायः अन्त, अन्ती, वाले रूप ही मिलते हैं। यत्र तत्र माण का प्रयोग भी अपभ्रंश में मिल जाया करता है–पविस्समाण, वट्टमाण, आसीण आदि।

संदेश रासक (§64 = भूमिका भयाणी) में अन्त (स्वार्थे °अन्तय रूप) स्त्री० अन्ती रूप तथा **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** (§81–भूमिका–डा० सु० चटर्जी) में °अंत तथा °अत दोनों प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। **प्रा० पैंगलम्** में भी अंत और अंती रूप मिलते हैं। उदाहरणः– मोह वसिण बोलंत (सं० रा० 950), **सुहय तइय राओ उग्गिलंतो सिणे हो** (सं० रा०–100 ब०); करत, पढ़त, पयंत < पचन्त या पचता (उ० व्य० प्र० 20/11) बोलत, जेवंत (उ० व्य० प्र०–39/13); उल्हसंत, बलंत (प्रा० पैं० 1,7,) भाव कर्म या यों ही प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय वाली धातुओं से अन्त या माण के पूर्व ज्ज का विधान होता है–**फुक्किज्जन्त भमन्त** (हेम० 4/422,3)।

पुरानी राजस्थानी में °अंत, °अंती वाले रूप मिलते हैं, साथ ही साथ अत और अती वाले रूप भी पाये जाते हैं। खड़ी बोली, ब्रज आदि में यही अत वाले रूप प्रचलित हैं।

कर्मवाच्य-भूतकालिक कृदन्त

अपभ्रंश के भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त में निम्नलिखित प्रत्यय उपलब्ध होते हैं–इअ,–इउ,–इय,–इयउ, इअअ,–इअउ। इन सभी की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ०–इ–त से हुई है। पालि और प्राकृत से विकसित होते हुए ये प्रत्यय अपभ्रंश में आये हैं। न० भा० आ० भाषाओं में भी ये पाये जाते हैं। यह–इत 'क' के साथ या उसके विना भी प्रयुक्त होता है।

अपभ्रंश की धातुओं का विकास दो तरीके से हुआ है। (1) संस्कृत धातुओं का प्राकृतिक रूप और (2) देशी धातुयें। उदाहरण स्वरूप (1) विण्णविय, विसरिअउ दोनों सीधे प्रा० भा० आ० वि–√ज्ञा, वि–√स्मृ धातु से न आ कर प्राकृत धातु √विण्णव और √विसर–प्रत्यय–इय, इउ < प्रा० भा० आ० इत से युक्त अपभ्रंश में आयी हैं। (2) छड्डिअ < √छड्ड,–फुल्लिअ < √फुल्ल, कोक्किय < √कोक्क आदि; परवर्ती अपभ्रंश के ये उदारहण हैं। इस तरह प्रथम प्रकार की धातुओं को प्रत्यय साधित प्रकार तथा दूसरे प्रकार की धातुओं को सिद्ध प्रकार कहेंगे। इसमें देशी धातुओं के अलावा निष्पन्न प्राकृत धातुयें भी हैं।

(i) प्रत्यय साधित धातुओं के उदाहरण :– गालिअ, उल्लाल, चिंत, डोह, तोस्, निज्जि, पड्, पी, भण, मिल्, मुण, लिह्, संपड्, संपेस आदि के साथ इअ प्रत्यय लगता है। घडिअय के प्रकार का उदाहरण–उट्ठ, चड्, निवड्, पसर, बोल्ल, वाह आदि के साथ इअय प्रत्यय लगता है। वारिआ के ढ़ंग पर, विन्नासिआ, मारिआ आदि। इद प्रत्यय का उदाहरण–कधिद, विणिम्मविद, विहिद आदि।

(ii) सिद्ध प्रकारः—गय, खय, निग्गय, मुअ, सुअ, फुट्ट, निवट्ट, इट्ठ, दिट्ठ, पइट्ठ, पब्भट्ठ, दड्ढ, उव्वाण, छिण्ण, विइण्ण, पत्त, समत्त, तिंत; किअय, मुअय, दिट्ठय, पइट्ठय, पणट्ठय, जुत्तय, विढत्तय, वुत्तय; वुन्नय; मुआ, हुआ, हूआ, भग्गा, तुट्ठा, पलुट्ठा, दड्ढा, दिण्णा, उव्वत्ता; आगद, गद, किद; स्त्रीलिंग–पइट्ठि, दिट्ठि, रुट्ठि, दिण्णी, रुद्धी; गइअ, मुइअ; रत्तिअ।

(i) भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के इत रूप में अपभ्रंश में दो प्रकार की धातुयें होती हैं :—(1) सेट् (2) अनिट्।

कअअ, कय, किय, कइय (कृत), चत्त (त्यक्त) कहिअ, कहिय (कथित)।

(ii) धातुओं का प्रत्यक्ष संबंध (देशी धातुओं में भी) भूतकालिक कर्मवाच्य कृदन्त के प्रत्ययों में है। इस प्रकार की रचना न० भा० आ० भाषाओं में भी पायी जाती है।

(अ) **संस्कृत की धातुओं में भी** :–दिण्ण (*दिद्र); रुण्ण (*रुद्न) मुक्क (*मुक्–न); नत्त (*नृत्त) आदि इन सभी का रूप–दत्त, रुदित, मुक्त, नर्तित–परिनिष्ठित संस्कृत में होगा।

(ब) **देशी धातुओं के विषय में**–घित्त < √धिव या घिप्प, अभित्त < √अभिद, अभिदिय भी होता है। विचित्त < वि–√चिव (हेम० 4/257–8); छिद्द < √छुह=क्षिप,–धुक्क < √धउक आदि। देशी धातुओं की रचना में ये अनिट् की तरह हैं।

अपभ्रंश में प्रमुख कर्म वाच्य भूतकालिक कृदन्त चिह्न °इय (°इअ), °इउ ही हैं,–यद्यपि प्राकृत के उक्त अन्य रूप भी पाये जाते हैं। **डॉ० तगारे** ने (§148) पूर्वी अपभ्रंश के कतिपय 'ल' वाले **निष्ठा** प्रत्यय का उदाहरण दिया है–रून्धेला, आइला, गेला। **उद्योतन** की **कुवलयमाला कहा** में भी कुछ °ल रूप पाये जाते हैं:–दिण्णले (√दा) गहिल्ले (√ग्रह) आदि।

(iii) * (इ) त–क–जायओ (=जातः); मुक्कउ (मुक्तकः)।

(iv) * (इ) तल (ल) अ :– मुक्कलओ (< मुक्तलकः)।

(v) * न + इल्ल + क[4] :– दिण्णेल्लयम् ('था' दिया); हेइल्लियाणम् (हत–इल्ल–क,–सम्बन्धु, पुं०); आणिएल्लियम् (< आनित–इल्लक कर्म, ए० व०) वसु०।

प्रारम्भिक प्राकृत और अपभ्रंश में भूतकालिक कृदन्त के रूप हैं--अप०–पडिल < √पत्, फुलिल्ल–< √स्फुर, पुच्छिल्ला, हसिर–, प्रा०–कल=कृत्, मुस=मुषित, खज्ज=खादित; रोइरी (स्त्री०)=रुदित।

संन्देश रासक[5] में °इय, °इयउ वाले रूपों के अतिरिक्त °ई (°इय का समाहृत रूप) वाले स्त्रीलिंग रूप भी मिलते हैं :– चडी, विबुद्धी, तुट्टी आदि। इन रूपों का आधुनिक आर्यभाषा हिन्दी और गुजराती की ओर झुकाव है। कतिपय उदाहरण संस्कृत निष्ठा रूपों के ध्वनि नियमों के अनुसार परिवर्तित रूपों के भी मिलते हैं।

विध्यर्थ कृदन्त

संस्कृत के विधि अर्थ में तव्य प्रत्यय का प्रयोग होता था। अपभ्रंश में उसी के स्थान पर इएव्वउं, एव्वउं, एवा, एव्व प्रत्यय धातुओं के साथ लगाकर रूप होते थे। **हेम०** 4/438-करिएव्वउं, मरिएव्वउं, सहेव्वउं, सोएवा, देक्खेव्व इत्यादि। **हेमचन्द्र** ने देवं को हेत्वर्थ कृदन्त का रूप माना है। किन्तु इसे विध्यर्थ कृदन्त के अन्तर्गत ही मानना चाहिये।

असमापिका या पूर्वकालिक क्रिया

प्रा० भा० आ० में इसके त्वा (=क्त्वा अनुपसर्ग क्रियाओं के साथ) तथा य (=ल्यप सोपसर्ग क्रियाओं के साथ) प्रत्यय होते थे=पठित्वा, प्रपठ्य। म० भा० आ० °त्वा का विकास °ता में हुआ–वंदित्ता (अ० मा०), चइत्ता <* त्यजित्वा <* त्यक्त्वा, गन्ता < पा० गन्त्वा (पिशेल §582) के रूप पाये जाते हैं। अ० मा० आ० में कृदन्त का एक प्रत्यय और होता है–त्ताणं, यह वैदिक *त्वानं से निकला है=भवित्ताणं, वसित्ताणं आदि (पिशेल §583) त्ताणं की व्युत्पत्ति, तुआणं *< तुवाणं <* त्वानम् से दी गई है। अनुनासिक लुप्त होने पर इसका रूप तुआण हो जाता है (पिशेल §584)। घेत्तु आणं, भेतु आणं। इसी त्वानं का विकसित रूप तूणं,–ऊणं और विशेषकर तूण और ऊण है जो शौरसेनी में–दूण भी वर्तमान है पैशाची में तूण है। भोदूण, पठिदूण आदि। साथ ही साथ प्राकृत में °इअ प्रत्यय भी पाये जाते हैं। (पिशेल 594)

अपभ्रंश के पूर्वकालिक क्रिया में वैयाकरणों ने कई प्रत्यय माने हैं :–

एप्पि, एपि–एप्पिणु,–एपिणु, एविणु,–इवि,–अवि,–प्पि,–पि,–वि,–पिणु (पिशेल §588) आदि का संबंध वैदिक कृदन्त के समाप्ति सूचक चिह्न–त्वी और त्वीनम् (इष्ट्वीनम् और पित्वीनम्) से जोड़ा

जाता है। (पाणिनि 7,1,48 और इस पर काशिका का नोट)–त्वी का ध्वनि परिवर्तन–प्पि में अनुनासिक के बाद आने पर अनुनासिक–पि में हो गया। दीर्घ स्वर का ह्रस्व करने के बाद, प को व करके-वि बना। इस नियम के अनुसार–त्वीनम् से–प्पिणु,–पिणु तथा–विणु होगा (हेम० 4/439 और 440, क्रम० 5,53) :–

°प्पि–जिणेप्पि (हेम० 4/442,2); जेप्पि (हेम० 4/440) गप्पि <* गन्त्वी < वैदिक गर्त्वी है। गमेप्पि (हेम० 4/442) गेण्हेप्पि, लहेप्पि, वुजेप्पि (हेम० 4/392); रमेप्पि (क्रम० 5,53); करेॅप्पि, कृप्पि (क्रम० 5,59); ब्रोप्पि, (हेम० 4/391); लहेप्पि (क्रम० 5,55);। °प्पिणु–दय–से देप्पिणु <* देत्वीनम् (हेम० 4/440), गप्पिणु और गमेप्पिणु (हेम० 4/442); मेॅल्लेॅप्पिणु (हेम० 4/341) यह मेल्लइ से बना है (=छोड़ना हेम० 4/91;43;3); लेॅप्पिणु (हेम० 4/370;3;404);–ब्रोॅप्पिणु औ वुजेप्पिणु (हेम० 4/391,2) करेॅप्पिणु (हेम० 4/396,3); रमेप्पिणु (क्रम० 5,53); गृण्हेॅप्पिणु (हेम० 4/394;438,1); गेॅण्हेप्पिणु (क्रम० 5,62); चएॅप्पिणु <* त्यजित्वीनम् (हेम० 4/441,2); लहेप्पिणु (क्रम० 5/55)।

°वि–ध्यै का झाइवि (हेम० 4/331); पेॅक्खेवि (हेम० 4/440); पेॅक्खवि (हेम० 4/430,3); देॅक्खवि (हेम० 4/354); मेॅल्लवि (हेम० 4/354); मिल् का मेलवि (हेम० 4/429,1); चुम्बिबि, विछोडवि (हेम० 4/439, 3 और 4); भणिवी (हेम० 4/383,1); पिअवि <* पिबत्वी=वैदिक पीत्वी है (हेम० 4/403); लग्गिवि (हेम० 4/339); बुड्डवि (हेम० 4/415); लाइवि=*लागयित्वी (हेम० 4/331;376,2); लेवि (हेम० 4/395,1;440); करेवि (हेम० 4/340,2); रम् धातु का रूप रमेवि (क्रम० 5, 53); जैन महाराष्ट्री में भी–°वि का रूप पाया जाता है लंघेवि, पेॅच्छवि, निसुणेवि, वज्जेवि, और जालेवि[6] (पिशेल §588); संवरेवि (हेम० 4/422,6); पालेवि (हेम० 4/441,2); लहेवि (क्रम० 5,55);

°विणु :—पेॅक्खेविणु (हेम० 4/444,4); छर्द का रूप छड्डेविणु (हेम० 4/422,3); लेविणु (हेम० 4/441,2) ला का रूप है। रुन्धेविणु (विक्रम० 67,20); करेविणु, मारेविणु, झाएविणु। सामान्य क्रिया भज्जिउ कृदन्त के स्थान में बैठी है।

°इ—करि, जेइ, मारि, छड्डि, कप्पि

°इय—थिय, आरक्खिय।

°ई—वइसी।

°ऊण—पुज्जिऊण, गिण्हिऊण, नमिऊण

°उं—आ प्रत्यय हेत्वर्थ कृदन्त के लिये होता है। यह संबंध भूत कृदन्त के अर्थ बताने में आता है—सोउं, तोडिउं।

इस प्रकार °इअ (°इय), °इउ, °इ—इनका संबंध 'य' (ल्यप्) से है। **संदेशरासक** (§68—भूमिका) में इंवि, 'अवि', °एवि, °एविणु, °इ, °इय, °इउ, °अप्पि रूप पूर्व कालिक क्रियाओं में पाये जाते हैं। **उक्ति व्यक्तिप्रकरण** (§80 भूमिका) में **डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने** °इ वाले रूपों का निर्देश किया है :— धरि, देइ, छारि, न्हाइ, पूजि, पढ़ि (11/13)। कुछ स्थानों में यह °इ, °अ में परिवर्तित, हो जाता है :—जिण (34/9) < जिल्वा[7]।

°इ का विकास क्रम इस प्रकार माना जा सकता है :—

प्रा० भा० आ० °य > म० भा० आ० °ईअ > °ई °इ > °अ:—*कार्य (=कृत्वा) > म० भा० आ० करिअ > करी > करि > हि० कर, गुज० करि।

हेत्वर्थ कृदन्त

अपभ्रंश के हेत्वर्थ कृदन्त में **हेमचन्द्र** के अनुसार (4/441) °अण,—अणहँ,—अणहि ँ और—एवँ प्रत्यय होता है। **हेमचन्द्र** तथा **क्रमदीश्वर** (5/55) के अनुसार—एप्पि—एप्पिणु, अणं,—अउं और एव्वउं प्रत्यय भी होता है जो कि पूर्वकालिक क्रिया के भी प्रत्यय हैं।

ये प्रत्यय संस्कृत तुम् (उन्) हिन्दी (करने जाने के लिये) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। अन्त में 'अन' वाली संज्ञा के साथ अणहँ लगने से उसका रूप संबंध ब० व० का बन जाता है। अणहिँ लगने से अधिकरण ए० व० हो जाता है या करण ब० व० बनता है। इस प्रकार ऍच्छण < एष्टुम् है जो इष् से बना है (=चाहना, हेम० 4/353); करण < कर्तुम् (हेम० 4/441,1); यह 'क' प्रत्यय के साथ भी आया है जो अक्खाणउँ < आख्यातुम् में पाया जाता है यह वास्तव में आख्यानम् (हेम० 4/350,1); भुज्जाणहँ और भुञ्जणहिं (हेम० 4/441,1); तथा लुहणं भी पाया जाता है (क्रम० 5/55); देवं < दातुम् में समाप्तिसूचक चिह्न एवं देखा जाता है (हेम० 4/441,1); अप० का देवं वैदिक दावने का समरूपी हो सकता है। तु वाली एक सामान्य क्रिया भज्जिउ है (हेम० 4/395,5); जो भञ्ज् के कर्मवाच्य के वर्ग से कर्तृवाच्य के अर्थ में बनाया जाता है। भंजिउ=भज्जिउ (हेम० 4/439) सामान्य क्रिया का रूप कृदन्त के अर्थ में काम में लाया जाता है। क्रम० 5/55 लहउं < लब्धुं संस्कृत तुम प्रत्यय के अर्थ में 'अणअ' प्रत्यय भी होता है। अ को उ होकर (हेम० 4/443) मारणउ=मारने वाला, बोलणउ=बोलने के लिये, वज्जणउ, सुणउ इत्यादि। न० भा० आ० भाषाओं में ण प्रत्यय का विकास हम देख सकते हैं जैसे–हिन्दी–करना, मारवाड़ी–'करणो' **मराठी**–'करणें' आदि में सामान्य कृदन्त का रूप देखा जा सकता है।

शब्द सिद्धि

कृत्-प्रत्यय

क्रिया में कृदन्त प्रत्यय लगने से नाम (संज्ञा) विशेषण हो जाता है। कृदन्त प्रत्यय धातु के अन्त में लगता है। अतः उसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं–

अः—अ प्रत्यय क्रिया वाचक संज्ञा में लगता है। स्त्रीलिंग में 'अ' की जगह 'ई' होता है। उदाहरण :— (पुल्लिंग-नपुंसक०) घुंट, चूर, वंच, सिक्ख।

(स्त्री०)—उद्व° धत्त, धर, °बईस, मब्भीस-डी, सुहच्छ-डी, (सुहच्छिय)।

इन उदाहरणों में स्वार्थिक 'ड' की जगह 'अ' प्रत्यय होता है।

इरः—ताच्छिल्य वाच्यकः जंपिर, भमिर।

उअः—कर्तृवाचक—पवासुअ।

णः—इसका संयोजक स्वर 'अ' होता है।

क्रिया वाचकः—°अब्भत्थण, अत्थमण, असण, अंखण, आलवण, एच्छण, करण, गिलण, निवडण, परिहण सुमरण, अक्षण,

कर्तृवाचकः—°अब्भुद्धरण, मग्गण;

ताच्छिल्यवाचकः—(स्वार्थिक 'अ' के साथ) कुट्टणय, बोल्लणय, भसणय, मारणय, रूसणय।

धात्वादेश

हेमचन्द्र ने जहाँ अपभ्रंश व्याकरण में सुबन्त (शब्द रूप) के लिये अत्यधिक सूत्रों का विधान किया है वहाँ धात्वादेश के लिये बहुत ही कम सूत्रों का प्रयोग किया है। दोहों में प्रयुक्त धातु रूपों को देखते हुए धात्वादेश नगण्य सा प्रतीत होता है। इसी पर **डॉ० गुणे**[8] एवं **दलाल** का कहना है कि **हेमचन्द्र** का प्राकृत धात्वादेश वस्तुतः अपभ्रंश के धात्वादेश हैं। कारण अपभ्रंश दोहों में प्राप्त धातु रूपों का निर्माण एवं विकार उन्हीं प्राकृत सूत्रों से होता है। इस कारण उन सूत्रों को यदि अपभ्रंश का भी सूत्र मान लिया जाये तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। न मानने

पर प्राप्त दोहों में धातु रूपों की रचना पद्धति में क्रमबद्धता विश्रृंखलित हो जायेगी। निष्कर्ष यह कि **हेमचन्द्र** के प्राकृत धात्वादेश अपभ्रंश के भी धात्वादेश हैं। अपभ्रंश धात्वादेश में वे ही धातु कथित हैं जिनका प्रयोग अपभंश में बदल गया था।

(क) संस्कृत क्रिये को कीसु होता है–(हेम० 4/389) कन्तहो बलिकीसु < कान्तस्य बलिं क्रिये। कृ धातु उ० पु० ए० व० लट् लकार का रूप है। साधारणतः प्राकृत और अप० में किज्जउँ रूप होता है :– बलि किज्जउँ सुअणस्सु।

(ख) प्र+भू धातु का अर्थ यदि पर्याप्त हो तो उसे हुच्च होता है। **हेम०** 4/390 अहरि पहुच्चइ नाह < अधरे प्रभवति नाथः।

सामान्यतः प्रा० एवं अप० में भू धातु को 'हो' या 'हव' आदेश होकर होइ, होदि आदि रूप होते हैं।

(ग) संस्कृत ब्रू धातु की जगह अप० में ब्रुव विकल्प करके होता है (हेम० 4/391)-ब्रुवह सुहासिउ किंपि < ब्रूत सुभाषितं किंचित्। सामान्यतः अपभ्रंश में ब्रू धातु का ही प्रयोग होता है–जइ–महु अग्गइ ब्रोप्पि।

(घ) अपभ्रंश के संस्कृत व्रज (=गतौ–जाना) धातु के स्थान पर वुञ का प्रयोग होता है–वुञइ, वुञेप्पि, वुञेप्पिणु इत्यादि।

(ङ) संस्कृत दृश् धातु को प्रस्स आदेश होता है (हेम० 4/393) प्रस्सइ, प्रस्सदि, आदि। प्रेक्ष्यति का पेक्खइ आदि रूप भी मिलता है।

(च) सं० ग्रह धातु को गृण्ह होता है (हेम० 4/394)–गृण्हेप्पिणु, गृण्हइ आदि।

(छ) तक्ष (छीलना) धातु के स्थान पर छोल्ल आदेश होता है। **हेम० 4/395 जइ ससि छोल्लिज्जन्तु।**[9]

(1) कुछ ऐसी धातुयें हैं जो कि संस्कृत धातुओं के अर्थों का प्रतिनिधित्व करती हैं और वे धातुयें भी अपभ्रंश में प्रयुक्त होती हैं—**हेम० 4/395 - सासानल जाल झलक्किअउ < श्वासानलाज्वाला संतप्तं।** यहाँ पर झलक्क का प्रयोग संस्कृत तापय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[10]

(2) अब्भड वंचिउ वे पयइं < अनुगम्य द्वे पदे। वंचिउ सं० गम् धातु के अर्थ का वाचक है और अब्भड शब्द संस्कृत सम या अनु उपसर्ग का बोधक है।[11]

(3) **हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेह** यहाँ देशी खुडुक्कइ क्रिया संस्कृत शल्यायते के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और घुडुक्कइ संस्कृत के गर्जति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[12]

(4) निच्चुजें सम्मुह थन्ति < नित्यं यौ सं मुखे तिष्ठतः।

(5) आवप्पी की भुहंडी चंपिज्जइ अवरेण < यत् पैतृकी भूमिः आक्रम्यतेऽपरेण।[13]

(6) पर धुट्ढुअइ असारु < परं शब्दायते असारः। धुट्ढुअइ देशी क्रिया का अर्थ ध्वनि करोति है।[14]

निम्नलिखित धातुयें **हेमचन्द्र** के प्राकृत व्याकरण के आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद में उद्धृत अपभ्रंश दोहों की हैं जो कि अपभ्रंश की अपनी हैं। कहीं-कहीं एक ही धातु का विकसित रूप कई प्रकार से पाया जाता है। इस कारण उनका उल्लेख करना हमने आवश्यक समझा है। किन्तु इस धातु पाठ में उन धातु रूपों का उल्लेख नहीं किया गया है जिनका कि पूर्व के काल विभाजन में उल्लेख कर दिया गया है। इतनी धातुयें अवश्य ही परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा में प्रयुक्त रही होंगी। यदि अन्यत्र भी अन्वेषण किया जाये तो अवश्य ही धातु पाठ का सुन्दर संकलन हो सकता है। यहाँ दोहों में आई हुई धातुओं का भी संकलन किया जा रहा है:—

सूत्र	रूप	नाम	धातु	अर्थ	लकार
8/4/330	कुरू	तत्सम	कृ	करना	लोट्
"	गमिहि	तत्सम	गम्	जाना	लृट्
"	वालइ	तद्भव	वाल	लौटाना	लट्
4/332	जाउ	तद्भव	जा	जाना	लोट्/विधि
"	मिलइ	तत्सम	मिल	मिलना	लट्
4/334	धरइ	तद्भव	धर	धरना	लट्
"	घल्लइ	देशी	छल्ल	फेंकना	"
"	परिहरइ	तत्सम	परि+हृ	हरण करना	"
4/335	भुञ्जन्ति	तत्सम	भुजि	खाना	"
"	घेप्पन्ति	देशी	घेप्प	खरीदना	"
"	लहइ	तद्भव	लह	पाना	"
4/338	गोवइ	"	गोप-गोव	छिपाना	"
"	करइ	"	कृ/कर	करना	"
4/339	वसन्ति	तत्सम	वस	वसना	"
"	उत्तरइ	तद्भव	उत+तृ/ उत्+तर	उतरना	"
"	मज्जन्ति	तत्सम	मज्ज	डूबना	"
4/340	विसूरइ	तद्भव	विसूर	खिन्न होना	"
"	जुत्तउ	"	जुत	जोतना	"
4/341	घेप्पइ	देशी	घेप्प	पाना	"
"	रुच्चइ	तद्भव	रुच्च	रोचना	"
"	गृहन्ति	तत्सम	ग्रह	ग्रहण करना	"
4/343	होइ	तद्भव	भू/हो	होना	लट्

4/343	आणहि	"	आण	लाना	लोट्
4/345	वण्णिअइ	तद्भव	वण्ण	वर्णन करना	लट्
"	देक्खु	"	देक्ख	देखना	लोट्
"	दारन्तु	"	दार	फाड़ना	"
4/347	पयट्टइ	"	पयट	घसना	लट्
4/349	पडिपेक्खइ	"	पडि+पेक्ख	देखना	"
"	देक्खइ	"	देक्ख	देखना	"
4/350	जाइ	"	जा	जाना	"
"	माइ	तत्सम	मा	समा जाना	"
"	फोडेन्ति	तद्भव	फोड़	फोड़ना	"
"	रक्खेज्हु (जइ)	तद्भव	रक्ष/रक्ख	रक्षा करना	लोट्
4/351	एन्तु	तत्सम	इण-गतौ	जाना	"
4/353	महन्ति	तत्सम	मह	चाहना	लट्
"	गणन्ति	"	गण	गिनना	लोट्
4/354	उम्मिलइ	तद्भव	उम्मील	खोलना	लट्
4/357	पयासइ	"	पयास	प्रकाश करना	"
"	फुट्टि	"	फुट्ट	फूटना	"
"	देक्खउँ	"	देक्ख	देखना	"
"	ठवइ	"	स्थाप/ठाव	रखना	"
4/358	रूसइ	तत्सम	रुस-रूसना	रूठना	"
"	गणइ	तत्सम	गण	गिनना	"
4/360	चिट्ठदि	तद्भव	तिष्ठ/चिट्ठ	बैठना	"
4/360	निव्वहइ	"	निर्+वह		लट्

4/361	देक्खु	"	देक्ख	देखना	लोट्
4/362	होइ	तद्भव	हो	होना	लट्
4/364	पुच्छह	"	पुच्छ	पूछना	"
"	जोइ	देशी	जो	देखना	"
4/365	सरइं	तद्भव	सर	स्मरण करना	"
"	मउलिअहिं	"	मउल	मुकुलित वंद होना	"
"	विहसन्ति	तद्भव	वि+हस	हंसना	"
"	सोसउ	"	सोस	सूखना	लोट्
"	जलइ	"	जल	जलना	लट्
"	उट्ठब्भइ	देशी	उत्+टब्भ	ढ़ाकना	"
"	कुहइ	[15]—तद्भव	कुह	दुर्गन्ध करना	"
"	डज्झइ	[16]—तद्भव	डज्झ	जलाना	"
4/366	तडप्फडइ	देशी	तडप्फड या प्रयत्न	हिलना करना	"
"	पाविअइ	तद्भव	पाव	पाना	"
4/367	आवइ	"	आव	आना	"
"	खण्डइ	"	खण्ड	तोड़ना	"
"	अणुहरहिं	"	अणु+हर	अनुसरण करना	"
"	नवहिं	"	नव	झुकना	"
"	जीवइ	तत्सम	जीव	जीना	"
"	गज्जहि	तद्भव	गज्ज	गरजना	"
4/368	रोइ	"	रुद	रोना	लट्

4/368	मरहि	"	मृ/मर	मरना	"
4/370	फिट्टइ	देशी	फिट्ट	नष्ट होना	लट्
"	होज्ज	तद्भव	हो	जाना	विधि
"	तक्केइ	[17]—तद्भव	तक्क	ताकना	वर्तमान
"	भण	[18]-तत्सम	भण	बोलना	वर्तमान
"	थक्केइ	तद्भव	थक्क	बैठना, थकना	"
4/372	सिक्खन्ति	"	सिक्ख	सीखना	"
4/376	[19]—निहालहि	"	नि+हाल	देखना	"
"	[20]—सुअहिं	"	सुअ	सोना	"
4/377	तवइ	"	तव	तप्त होना	"
"	झंखहि	"	झंख	कहना	"
4/382	धरहि ँ	"	धर	धरना	"
"	सहहि ँ	"	सह	सहना	"
"	खेल्लन्ति	"	खेल	खेलना	"
4/383	पिउ	"	पि	पीना	
"	रुअहि	"	रुअ	रोना	"
"	अब्भिडइ	देशी	अब्+भिड्	भिड़ना	"
4/384	इच्छहु	तद्भव	इच्छ	देखना	"
'	देहु	"	दे	देना	"
"	मग्गहु	"	मग्ग	मांगना	"
4/385	विणडउ	"	विणड	विनष्ट होना	"
"	पीडन्तु	"	पीड	पीड़ा देना	"
"	कड्ढउँ	"	कड्ढ	काढ़ना	"

4/385	अग्घइ	"	अग्घ	पाना	"
.4/386	लहहुं	तद्भव	लह	पाना	वर्त० काल
"	जाहुं	"	जा	जाना	"
"	वलाहुं	"	वल	पाना	"
4/387	सुमरि	"	सुमर	सुमरना	"
"	मेल्लि	"	मेल्ल	छोड़ना	"
"	चरि	तत्सम	चर	खाना-चरना	"
"	छड्डहि	तद्भव	छड्ड	छोड़ना	"
"	लेहि ँ	"	ले	लेना	
4/388	जन्ति	"	ज, या-जा	जाना	"
"	पडहिं	"	पड	गिरना	"
"	अच्छइ	"	अच्छ	बैठना	"
4/389	परिहरइ	"	परि+हर	हरना	वर्तमान
4/395	थन्ति	"	स्था-था	ठहरना	"
"	जन्ति	"	या-जा	जाना	"
4/396	गिलि	तत्सम	गिल-निगरणे	निगलना	आज्ञा
"	चेअइ	तद्भव	चित+चेअ	चेतना	वर्तमान
"	[21]—पावीसु	"	पाव	पाना	लृट्
"	पइसीसु	"	प्रविश-पइस	प्रवेश करना	"
4/396	उअ	"	उअ	देखना	आज्ञा
"	सेवइ	तत्सम	सेव	सेवा करना	वर्तमान
4/400	आवइ	तद्भव	आव	आना	"

4/401	समप्पउ	"	सम+आप	समाप्त-करना	"
4/401	वहइ	तत्सम	वह	ढोना या पाना	वर्त० काल
4/401	जाणिउ	तद्भव	जाण	जानना	"
4/404	घडदि	"	घड	बनाना	"
4/406	निवडइ	"	निवड	गिरना	"
"	वज्जइ	"	वज्ज	वजना	"
"	गलन्ति	तत्सम	गल	गलना	"
"	होन्ति	तद्भव	हो	जाना	"
"	एइ	"	इण=ए	जाना	"
"	देइ	"	दे	देना	"
4/416	उल्हवइ	"	उल्हव	उलहना देना	"
4/418	उवमिअइ	"	उवमिअ	उपमा देना	"
"	हणइ	"	हण	मारना	"
"	गज्जु	"	गज्ज	चिल्लाना	"
"	तिम्मइ	"	तिम्म	भींगना	"
"	अणुहरइ	"	अणु+हर	अनुसरण करना	"
4/419	खाइ	"	खा	खाना	"
"	पीअइ	"	पीअ	पीना	"
"	विद्दवइ	"	वि+द्धव	द्रवित होना	"

4/419	वेच्चइ	"	वेच्च	बेचना	"
"	लब्भइ	"	लब्भ	पाना	"
"	आवइ	"	आव	आना	"
"	आणिअइ	"	आ+णि	लाना	"
"	पिअन्ति	"	पिअ+पीना		"
"	आवट्टइ	"	आ+वट्ट	होना	"
"	पेक्खु	"	(प्रेक्ष्य) पेक्ख	देखना	आज्ञा
"	ओहट्टइ	"	ओहट्ट	भ्रष्ट होना	वर्तमान
4/420	पल्लवह	"	पल्लव	पालना	"
"	देक्खउँ	"	देक्ख	देखना	"
"	भावइ	तद्भव	भाव	इच्छा होना	"
"	लग्गइ	"	लग	लगना	"
4/421	चडइ	"	चड	चढ़ना	"
4/422	विसूरहि	"	विसूर	विसरना	आज्ञा
"	घल्लन्ति	देशी	घल्ल	फेंकना	वर्तमान
"	भमन्ति	तद्भव	भम्	घूमना	"
"	खाहि	"	खा	खाना	आज्ञा
"	संचि	तत्सम	संच	संचित करना	
"	समप्पइ	तद्भव	समप्प	समाप्त होना	"
"	जोएदि	"	जोए	देखना	"
"	सक्कइ	तद्भव	सक	समर्थ होना	वर्तमान
"	पुच्छह	"	पुच्छ	पूछना	आज्ञा
"	पयम्पह	"	पयम्प	कहना	"
"	चय	"	त्यज	चय-छोड़ना	"

4/422	फुट्टिसु	"	फुट्ट	फूटना	भविष्यत्
"	नन्दउ	"	नन्द	प्रसन्न होना	आज्ञा
"	चिन्तइ	तत्सम	चिन्त	चिन्तन करना	वर्तमान
"	गुणइ	तद्भव	गुण	गुनना	वर्तमान
"	पिअहु	"	पिअ	पीना	आज्ञा
"	रच्चसि	"	रक्त-रच्च	अनुरक्त होना	वर्तमान
"	सहेसइ	तत्सम	सह-मर्षणे	सहना	भविष्य
4/423	वुड्डीसु	देशी	वुड्ड	बूड़ना	"
"	खज्जइ	तद्भव	खज्ज	खाना	वर्तमान
"	वन्देइ	तत्सम करना	बन्द	नमस्कार करना	"
4/426	वीसरइ	तद्भव	वी+सर	विसरना	"
4/427	सुक्कइं	"	सुक्क	सूखना	"
4/430	मेल्लइ	"	मेल्ल	छोड़ना	"
4/436	धाइ	"	धा	दौड़ना	"
"	ठाइ	"	ठा	ठहरना	"
4/439	चडाहुं	"	चड	चढ़ाना	"
"	मराहुं	"	मर	मारना	"
"	रक्खइ	"	रक्ख	रखना	"
4/441	सक्कइ	"	सक्क	समर्थ होना	"
4/442	मुअइ	"	मृ-मुअ	मारना	"
4/444	गवेसइ	"	गवेस	खोजना	"
"	पवीसइ	"	पवीस	प्रवेश करना	"
4/445	मोडन्ति	"	मोड	मोटा करना	"

संदर्भ

1. **प्रा० व्या०** हेम०–8/3/156 क्ते'
2. **प्रा० व्या०** हेम०–लुगावी क्त भाव कर्मसु–8/3/152।
3. **संदेश रासक की भूमिका**, पृ० 45, डॉ० भयाणी।
4. **कम्परेटिव ग्रामर आफ मिडिल इन्डो आर्यन**–डॉ० एस० के० सेन–§166, पृ० 174
5. **सन्देश रासक**–प्रो० भयाणी §67 पृ० 37।
6. **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण**–पृ० 833 प्रकाशन–राष्ट्र भाषा परिषद् पटना।
7. **उक्तिव्यक्तिप्रकरण**–§80 भूमिका पृ० 63।
8. **भविसत्त कहा की भूमिका**–पृ० 63
9. Here छोल्ल is regarded as having the meaning of the root तक्ष;
10. For झलक्किय the root–झलक्क is used in the sense of तापय।
11. अब्भडवंचिउ is an of obsolutive from गम् with अब्भड i.e. सम or अनु which is a देशी form.
12. खुडुक्कइ and घुडुक्कइ are देशी forms which approximately rendered into Sanskrit by शल्यायते and गर्जति।
13. Here वप्पीकी and चम्पिज्जइ are of देशी origin; compare बाप and चापणें, चोपणें in marathi.
14. धुड्ढुअइ or धुड्डुअइ is ध्वनिं करोति।
15. **धातु पाठ**–वैदिक यन्त्रालय अजमेर। कुथ-पूती भावे/दुर्गन्ध-दिवादि गण का विकसित रूप है।

16. दग्ध–सेवना है।

17. तक्क सं० कृत धातु का कर्त से व्यत्यय होकर तर्क–**महाभाष्य** पस्पशाह्निक का विकसित रूप है।

18. भण शब्दार्थ-भ्वादि गण।

19. निहालना से आजकल हिन्दी में निहारना बना है जो कि निभाल धातु का है।

20. सं० स्वप् से प्रा० सुप् का सुअ बना है।

21. यह लृट् लकार के उ० पु० ए० व० का रूप ९। तीनों रूपों में 'ईसु' लगाकर भविष्यत्काल का प्रयोग बनाया गया है जो कि संभवतः हेम० 4/389 कीसु में 'ईसु' के अनुकरण पर अन्य प्रकार के धातु रूप बने हैं। यद्यपि कीसु एवं करीसु की मूल धातु एक ही है।

त्रयोदश-अध्याय

वाक्य-रचना

पीछे हमने वाक्य रचना के एक एक अवयव (पद और पदमात्र) पर विचार किया है। वस्तुतः किसी भाषा का व्याकरण दो भागों में विभक्त किया जाता है—एक है रूप-रचना और दूसरा है वाक्य-रचना। वाक्य-रचना में शब्दों तथा सविभक्तिक पदों की वाक्यगत संयोजना होती है। प्रा० भा० आ० की वाक्य-रचना विशेष जटिल नहीं होती। इसमें पदों का पारस्परिक सम्बन्ध विभक्तियों द्वारा व्यक्त किया जाता है। हिन्दी आदि आधुनिक न० भा० आ० भाषाओं के वाक्यों में पदों का स्थान निश्चित है। संस्कृत में ऐसा नहीं है। इसमें वाक्यगत पदों को विविध तरीके से प्रयुक्त कर सकते हैं—

सः धावन्तं घोटकम् अश्यत्,
सोऽपश्यत् धावन्तं घोटकं,
सः घोटकं धावन्तम् अश्यत्,
अपश्यत् धावन्तं घोटकं सः।

भाषा में इतनी लचक होने पर भी संस्कृत में रूप-रचना की पद्धति बड़ी जटिल है। इसका निश्चित क्रिया-विधान तथा उसके लिये कारकों का निश्चित विभक्ति-प्रयोग भाषा को जटिलता की ओर ले जाता है। पालि और प्राकृत में संस्कृत की वाक्य-रचना की परम्परा बहुत कुछ सुरक्षित रही। अपभ्रंश काल में सुबन्त आदि के लुप्त हो जाने से निर्विभक्तिक पदों का प्रयोग बढ़ चला, कारक चिह्नों का द्योतन परसर्ग करने लगे। भाषा की प्रवृत्ति संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर बढ़ने लगी और न० भा० आ० के काल आते आते संस्कृत वाक्य-रचना का पूरा गुणात्मक परिवर्तन हो गया। परसर्गों का प्रयोग, सर्वनामों के अत्यन्त विकसित और परिवर्तित

रूप, क्रिया पदों में संयुक्त काल और कृदन्तज रूपों के बाहुल्य ने इस भाषा को एकदम नवीन रूपाकार में प्रस्तुत किया। इससे यह भाषा संस्कृत एवं बहुत कुछ माने में प्राकृत से भिन्न होकर हिन्दी के बहुत समीप आ गयी है।

अप्रभंश काल में दो प्रकार की प्रवृत्ति देखी जाती है, एक ओर तो निर्विभक्तिक प्रयोगों की ओर झुकाव है, तो दूसरी ओर कारक विभक्तियों के प्रयोगों की स्वच्छन्दता भी देखी जाती है। अपभ्रंश के परवर्ती काल में तो निर्विभक्तिक प्रयोगों का बाहुल्य पाया जाता है। प्रत्येक जीवित भाषा में कारक-विभक्तियों का व्यत्यय भी पाया जाता है। संस्कृत में भी कारक विभक्तियों का व्यत्यय होता था और आधुनिक जीवित हिन्दी आदि भाषाओं में कारक-विभक्ति का व्यत्यय पाया जाता है। **हेमचन्द्र** ने प्राकृत-अपभ्रंश वाक्य-रचना में इस व्यत्यय को लक्षित किया है। सम्बन्ध कारक की षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर्म, करण, सम्प्रदान और अधिकरण के लिये भी होता है[1]। इसके अलावा अधिकरण कारक की सप्तमी विभक्ति का प्रयोग कर्म और करण के लिये भी होता है[2]। अपादान कारक के अर्थ में करण कारक (तृतीया) एवं अधिकरण (सप्तमी) कारक विभक्ति का प्रयोग होता था और इसी तरह सप्तमी विभक्ति के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग भी प्रचलित था[3]। भाषा सम्बन्धी ये प्रवृत्तियाँ प्राकृत में प्रचलित थीं। अपभ्रंश के लिये यद्यपि **हेमचन्द्र** ने कोई विधान नहीं किया है फिर भी अपभ्रंश दोहों में विभक्ति-व्यत्यय के पूर्वोक्त उदाहरण पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। इसके निम्नलिखित उदाहरण देखे जा सकते हैं :

(क) संबन्ध कारक के विशिष्ट प्रयोग

(i) कर्म कारक के अर्थ में—

तो वि महद्दुम **सउणाहं** अवराहिउ न करन्ति (हेम० 8/4/445)=शकुनियों को।

वेस विसिट्ठह वारियइ (कुमार० प्रतिबोध)=वेष–विशिष्ट लोगों

तुअहियय्यट्ठियह छड्डिवि (सं० रास० 75)=तुम हृदय स्थित को

पिउ आणि **मज्झ** संतोसिहइ (सं० रास० 197)=मुझको

(ii) करण कारक के अर्थ में–

कन्त जु **सीहहो** ँ उवमिअइ (हेम० 8/4/418)=सिंह से

सत्थावत्थहँ आलवणु साहु वि लोउ करेइ (हेम० 8/4/422) स्वस्थावस्था वालों से।

(iii) सम्प्रदान के अर्थ में–

दइवु घडावइ वणि तरुहुँ **सउणिहँ** पक्क फलाइ (हेम० 8/4/340)=शकुनियों के लिये

जीविउ **कासु** न वल्लहउँ (हेम० 8/4/358)–किसके लिये

(iv) अपादान के अर्थ में–

तेहिं नीहारिय **घरस्स** (कुमार० प्रतिबोध)=घर से

(v) अधिकरण के अर्थ में–

पिउ–संगमि कउ **निद्दडी** पिअहो ँ **परोक्खहो** ँ केम्व (हेम० 8/4/418)=अन्य तरुवरों पर।

सिरु ल्हसिउं **खन्धस्सु** (हेम० 8/4/445)=कंधे पर

(vi) संबंध, स्वतन्त्र कारक के अर्थ में–

महु कन्तहो ँ **गुट्ठ-ट्ठिअहो** कउ झुम्पडा वलन्ति (हेम० 8/4/416)=मेरे कंत के घर रहते या रहने पर।

तुअ हिअयट्ठियह, विरह विडम्बइ काउ (सं० रासक, 76)=तुम्हारे हृदयस्थित रहने पर

(ख) करण कारक के विशिष्ट प्रयोग

अधिकरण के अर्थ में–

निद्दए गमिही रत्तडी (हेम० 8/4/330)=निद्रा में।

बरिस-सएण वि जो मिलइ (हेम० 8/4/332)=वर्ष शत में

(ग) अधिकरण कारक के विशिष्ट प्रयोग

करण के अर्थ में—

तुह **जलि महु** पुणु **बल्लहइ** बिहुँ वि न पूरिअ आस (हेम० 8/4/383) जल से वल्लभ से।

अङ्गहि अङ्ग न मिलिउ (हेम० 8/4/332)—अंग से अंग

(घ) निर्विभक्तिक प्रयोग

अपभ्रंश की सबसे बड़ी भारी विशेषता है निर्विभक्तिक प्रयोग। इस दृष्टि से प्रथमा और द्वितीया के रूप एक ही तरह के दीख पड़ते हैं। वाक्यों के प्रयोग से ही अर्थ में प्रथमा और द्वितीया का भेद किया जाता है:

प्रथमा- **1. कायर एम्व भणन्ति** (हेम० 8/4/376)

2. धण मेल्लइ नीसासु (हेम० 8/4/430)

द्वितीया- **1. सन्ता भोग जु परिहरइ** (हेम० 8/4/389)

2. जइ पुच्छह घर वड्डाइं (हेम० 8/4/364)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान कारकों के प्रयोग निर्विभक्तिक नहीं होते। अवश्य संबंध (षष्ठी) के कुछ निर्विभक्तिक प्रयोग मिलते हैं, अधिकरण में तो इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। सम्प्रदान का अपना कोई पृथक् चिह्न नहीं मिलता। इस तरह अपभ्रंश की कारक विभक्तियाँ तीन समूहों में एकरूपता रखती है—1. प्रथमा और द्वितीया 2. करण, अधिकरण और अपादान और 3. सम्बन्ध और सम्प्रदान। पहले जिस परसर्ग का उल्लेख किया गया है वह अपभ्रंश में विभक्तियों के बाद भी युक्त होता था।

(क) क्रियार्थक प्रयोग

अपभ्रंश के क्रिया प्रयोगों में कर्मणि भावे प्रयोग विशेष रूप से परिलक्षित होता है। **हेमचन्द्र** के अपभ्रंश दोहों के एक चरण में कर्मणि तथा कर्तरि दोनों प्रयोग दीख पड़ता है—

विट्टीए ! मइ भणिय तुहुं मा कुरु वङ्की दिट्ठि (हेम० 8/4/330)।

1. **विट्टीए मइं भणिय तुहुं**=मैंने तुमसे कहा–कर्मणि प्रयोग।

2. **मा कुरु वंङ्की दिट्ठि**–वक्र दृष्टि मत करो–कर्तरि प्रयोग।

पहले हम बता चुके हैं कि अपभ्रंश में भाववाच्य एवं कर्मवाच्य का प्रयोग वर्तमान काल में 'इज्ज' लगाकर होता था। यह इज्ज प्रत्यय विध्यर्थक भी होता था–

जाइज्जइ तहिं देसडइ (हेम० 8/4/419)–उस देश को जाइए (जाया जाय) + आज्ञार्थे भविष्य। 'ज्ज' प्रत्यय कर्मणि वर्तमान में भी प्रयुक्त होता था।

छिज्जइ खग्गेण-खग्गु (हेम० 8/4/357)–तलवार से तलवार काटा जाता है। **हेमचन्द्र** ने प्राकृत व्याकरण के प्रसंग में ज्ज का प्रयोग वर्तमान काल, भविष्यत्काल एवं आज्ञार्थे बतलाने के बाद भाववाच्य एवं कर्मवाच्य में भी इसके प्रयोग का विधान किया है[4]। हिन्दी कर्मवाच्य के अनेक रूपों में इसका भी विकसित रूप पाया जाता है–

हउँ बलि किज्जउँ (हेम० 8/4/338)–मैं बलि जाउँ।

जइ आवइ तो आणिअइ (हेम० 8/4/419)–यदि आवे तो आना जाया।

जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ (हेम० 8/4/438)–यदि प्रिय उवारा जाय।

करुए मुखन को चहियत यही सजाय (रहीम)–चाही जाती है।

(ख) कर्मवाच्य का भूत कालिक कृदन्तज प्रयोग

करण कारक की विभक्ति से युक्त धातुओं से भूतकालिक कृदन्तज क्रिया बनाकर कर्मवाच्य का प्रयोग किया जाता था :–

(1) **ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिया** (हेम० 8/4/330)=मैंने वारया, वारा (मना किया)

(2) **बिट्टीए मइँ भणिय तुहुँ** (हेम० 8/4/330)=मैंने भन्या (कहा)

(3) **जेन्ने जाचक जन रञ्जिअ** (कीर्ति०)।

हिन्दी में भी इसी का विकसित रूप कर्मवाच्य का है—मैंने कहा, तुमने पढ़ा। अपभ्रंश में प्रायः कृदन्तज रूपों से ही भूतकाल की क्रिया बनायी गयी है; जैसे—

मैं जाणिउँ प्रिय (हेम० 4/377) मैं जाना,

तो हउँ जाणउँ एह हरि (हेम० 4/397) मैं जाना कि यह हरि है। न० भा० आ० में वर्तमान कृदन्तों तथा निष्ठा कृदन्तों का समापिका क्रिया में प्रयोग अपनी खास विशेषता है। अपभ्रंश में भूतकालिक तिङन्त का प्रयोग देखने को नहीं मिलता।

(ग) निषेधात्मक प्रयोग

निषेधात्मक वाक्य प्रयोगों में जाइ क्रिया का प्रयोग प्रायः भाववाच्य में देखा जाता है जैसे—

1. **पर भुंजणहं न जाइ** (हेम० 4/441)=भोगा नहीं जाता।
2. **हिअउ न धरणउ जाइ** (सं० रासक 71 क)
3. **तं अक्खणह न जाइ** (4/350 हेम०)

(घ) वाक्य गठन सम्बन्धी अन्य विचार

अपभ्रंश की यह बड़ी भारी विशेषता है कि उसके वाक्य बहुत छोटे-छोटे होते हैं। इसमें वाक्यों या उपवाक्यों का संश्लिष्टात्मक प्रयोग कम पाया जाता है। मिश्रित वाक्य क्रियातिपत्यर्थ में प्रयुक्त होता है—

जइ आवइ तो आणिअइ (हेम०)

जइ ससणेही तो मुइअ (हेम० 8/4/367)

जइ पुच्छह घर वड्डाइँ तो वड्डा घर ओइ (हेम० 8/4/364)

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु, करीसु (हेम० 8/4/396)

वर्तमान कृदन्त के प्रथमा एक वचन का रूप क्रियातिपत्यर्थ में भी प्रयुक्त होता है—

जइ भग्गा घरू एन्तु (हेम० 8/4/351)—यदि भागकर घर आवे

जइ ससि छोल्लिज्जन्तु तो जइ गोरिहेँ मुह-कमलि सरिसिम का वि लहन्तु (हेम० 8/4/395,1)—अगर चन्द्रमा को छीलकर बनाया जाय तो किसी तरह गोरी के मुख-कमल की तुलना कर सके।

क्रियाति-पत्यर्थ में वर्तमान कृदन्त का प्रयोग प्राकृत काल से ही चलता आ रहा है। (हेम० 8/3/180), हेत्वर्थ कृदन्त का क्रिया साधित प्रत्यय 'ण' है (हेम० 8/4/353)—एच्छण, (हेम० 8/4/441,1)—करण। विध्यर्थ कृदन्त का प्रत्यय वं हेत्वर्थ कृदन्त की तरह होता है (हेम० 8/4/441,1)—देवं। कृदन्त का प्रयोग विभक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे तृतीया का निरपेक्ष प्रयोग—

पुत्तें जाएं कवणु गुणु (हेम० 8/4/395,6)—पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ ?

पुत्तें मुएण कवणु अवगुणु (हेम० 8/4/395,6)—पुत्र के मरने से क्या हानी।

पिएं दिट्ठें सुहच्छडी होइ (हेम० 8/4/423,2)—प्रिय के देखने से सुख होता है।

1. चतुर्थी/षष्ठी का निरपेक्ष रचनात्मक प्रयोग—

पिअहो परोक्खहो ँ निद्दडी केवँ (हेम०8/4/417,1)—प्रिय के परोक्ष होने पर निद्रा कैसी।

2. वर्तमान कृदन्त का निरपेक्ष रचनात्मक प्रयोग—

पिअ जोअंतिहे ँ मुह-कमलु (हेम० 8/4/332,2)—प्रिय की प्रतीक्षा करता हुआ मुख-कमल।

एहउँ चिन्तन्ताहँ (हेम० 8/4/362)—इस प्रकार चिन्ता करता हुआ।

जाहँ अवरोप्परु जोअताहँ (हेम० 8/4/409)—जहाँ एक दूसरे को देखते हुए—

देन्तहो ँ हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो ँ करवालु (हेम० 8/4/379,2) देता हुआ मैं बचा ली गयी और जूझती हुई तलवार।

वर्तमान कृदन्त का षष्ठी विभक्ति में प्रयोग 'तरफ' के अर्थ में होता है।

(1) **कुञ्जरू अन्नहँ तरु-अरहँ कोड्डेँण घल्लइ हत्थु** (हेम० 8/4/422,9)।

(2) **सिरु ल्हसिउं खन्धस्सु** (हेम० 8/4/445,3)।

(3) **सत्थावत्थहँ आलवणु साहु विलो करेइ** (हेम० 8/4/422,16) हेत्वर्थ कृदन्त का ण प्रत्यय षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त होता है—

अक्खणहं (हेम० 8/4/350,1)

भुञ्जणहँ (हेम० 8/4/441,1) आदि।

इस तरह अपभ्रंश के वाक्य गठन की प्रक्रिया पुरानी संस्कृत से दूर हटकर बहुत कुछ माने में हिन्दी के बहुत समीप है।

संदर्भ

1. चतुर्थ्याः षष्ठी (प्रा० व्या० 3/131); क्वचिद् द्वितीयादेः (प्रा० व्या० 3/134)—अत्र द्वितीयायाः षष्ठी ..... अत्र तृतीयायाः .....अत्र पञ्चम्याः ..... अत्र सप्तम्याः।
2. द्वितीया तृतीययोः सप्तमी (प्रा० व्या० 3/135)।
3. पचम्यास्तृतीया च (प्रा० व्या० 3/136) सप्तम्या द्वितीया (प्रा० व्या० 3/137)
4. 'ईअ–इज्जौ क्यस्य'—चिजि प्रभृतीनां भावकर्मविधिं वक्ष्यामः। येषां तु न वक्ष्यते–तेषां संस्कृतादि देशात्प्राप्तस्य क्यस्य स्थाने ईअ इज्ज इत्येतावादेशौ भवतः। हसीअइ, हसिज्जइ, हसीअन्तो, हसिज्जन्तो, हसीअमाणो, हसिज्जमाणो। पठीअइ, पढ़िज्जइ, होईअइ, होइज्जइ, बहुलाधिकारात क्वचित् क्योपि विकल्पेन भवति। मए नवेज्ज, मए नविज्जेज्ज, तेण लहेज्ज, तेण लहिज्जेज्ज, तेण अच्छेज्ज, तेण अच्छिज्जेज्ज, तेण अच्छीअई (प्रा० व्या० 3/160)।

– – – – – –

चतुर्दश अध्याय

उपसंहार

भारतीय आर्य भाषाओं का वाङ्मय बड़ा विशाल है। नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ पुरानी भाषाओं के ही विकसित एवं परिवर्धित रूप हैं। परिष्कार और विकास पाने में कई सीढ़ियाँ पार करनी पड़ी हैं। वैदिक और लौकिक संस्कृत के बाद पालि और प्राकृत का काल आता है। प्राकृत की बहुत सी बोलियाँ रहीं होंगी। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्रधान 4 या 6 ही प्राकृत भाषाऐं हैं। **वररूचि** के अनुसार महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची ये चार प्राकृत हैं। **हेमचन्द्र** और अन्य प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार इन चारों के अतिरिक्त अर्धमागधी और अपभ्रंश भी हैं। अशोक के शिलालेखों, बौद्ध जातकों एवं पिटकों में पालिभाषा का विशाल रूप जिस तरह दृष्टिगत होता है ठीक उसी तरह से प्राकृत साहित्य एवं संस्कृत नाटकों में वर्णित प्राकृत से विदित होता है कि प्राकृत भाषा कई प्रान्तीय भाषाओं में विभक्त होती हुई भी मूलतः परिनिष्ठित प्राकृत एक ही थी। काल की गति से जब प्राकृत भी संस्कृत की तरह परिनिष्ठित हो गयी, सुसंस्कृतों की भाषा हो गयी तब उसकी बोली ने अपभ्रंश भाषा का रूप धारण किया। अपभ्रंश भाषा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्‌गम स्रोत है। अपभ्रंश भाषा लगभग 5, 6 सौ वर्षों तक जनता की भाषा रही। सन् 500 ई० से लेकर 1000 ई० तक अविकल रूप से यह जनभाषा रही। यह काल भारत का संक्रान्ति काल है। अपभ्रंश संघर्षों में ही पनपी और बढी। इसको सांस्कृतिक महत्त्व मिला। यह मुख्यतया निम्न वर्गों

एवं मध्यम वर्गों की भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम रही है। अपभ्रंश भाषा में बौद्ध सम्प्रदाय के सिद्धों ने तथा जैनियों ने तो रचनाएँ की ही हैं, शैवों ने भी इसे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। आन और शान पर मरने वाले राजपूतों को तो यह ललकारती ही थी, प्रेमाभिव्यक्ति भी इस भाषा में बहुत हुई।

सन् 1000 ई० के बाद यह भाषा परिनिष्ठित रूप में परिणत होने लगती है। इस समय तक यह भाषा दो रूपों में विभक्त हो गयी—1—परिष्कृत अपभ्रंश तथा 2—ग्राम्य अपभ्रंश के रूप में। **हेमचन्द्र** ने **काव्यानुशासन** में दोनों प्रकार की अपभ्रंशों का उल्लेख किया है। **हेमचन्द्र** ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है वह परिष्कृत अपभ्रंश है। यह काल सन् 1100 से 1200 ई० तक का है। **हेमचन्द्र** की अपभ्रंश, शौरसेनी अप्रभंश है। आधुनिक हिन्दी की तरह यह अपने समय में सर्वत्र मान्य थी। अपभ्रंश ही एक ऐसी विभाजक रेखा है जो भाषा की दृष्टि से पुरानी एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की कड़ी जोड़ती है। इसी से न० भा० आ० के शब्दों का विकास क्रम पता चलता है। हिन्दी भाषा के व्याकरण का पूरा ढ़ाँचा अपभ्रंश के अनुकूल है। अपभ्रंश के शब्दों की ध्वनि प्रक्रिया बहुत कुछ प्राकृत से मिलती है किन्तु उसका झुकाव आधुनिक भारतीय भाषाओं की ओर अधिक है। अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी के समान है। इस कारण अपभ्रंश और हिन्दी ध्वनियों में बहुत कुछ साम्य है। हिन्दी का ह्रस्व स्वर ऍ और ओ ॅ अपभ्रंश की देन है। अपभ्रंश की य श्रुति हिन्दी में प्रचलित है। अपभ्रंश के स्वर विकार एवं व्यंजन विकार के शब्द हिन्दी के तद्भव शब्दों में परिलक्षित होते हैं; जैसे—संस्कृत—कर्ण—अप० कण्ण—हि० कण्ण—कान, सं०—हस्त—अप०—हत्थ—हि०—हत्थ—हाथ, सं०—गृह—अप०—घर—हि० घर आदि।

अप्रभंश की मौलिकता परसर्ग के प्रयोगों में दीख पड़ती है। इन परसर्गों का उदय विभक्तियों के अभाव से हुआ। हिन्दी में भी विभक्तियों के अभाव से परसर्ग ने कारक चिह्नों का स्थान लिया। परसर्ग प्रकरण में इस पर सम्यक्तया विचार किया जा चुका है, जैसे—अधिकरण परसर्ग--मज्झे, मज्झि, महँ, माहिं, मि, में–

अप०— **जामहि ँ विसमी-कज्जगइ, जीवहँ मज्झे एइ,**

(हेम० 8/4/406.3),

युवराजहिन माझ पवित्र (कीर्ति० पृ० 12),

चितमज्झे (प्रा० पैं० 2, 164),

अणहल पुरमझारि (पु० राज०–कान्ह० 67),

अवधी, व्रज–**कूदि पड़ा तब सिंधु मझारी** (मानस),

सरग आइ धरैती महँ छावा (पद्मावत),

रामप्रताप प्रगट एहि माँही (मानस), हमको सपनेहू में सोच (सूर) आदि।

अपभ्रंश की संज्ञा और सर्वनाम का विकास अपनी स्वतन्त्र सत्ता बताता है। यह भाषा बहुत कुछ अयोगात्मक हो चली थी। प्राकृत के विविध रूपों की प्रणाली से यह अपना पिंड छुड़ा कर सरलता की ओर झुकी। प्रथमा और द्वितीया, तृतीया और सप्तमी, पंचमी और षष्ठी के रूपों में समानता दिखती है। अपभ्रंश के बहुत से रचनात्मक प्रत्यय हिन्दी में ज्यों के त्यों प्रचलित हैं, जैसे—स्वार्थे डा या ड़ा और आर या रा प्रत्यय आदि—दोषड़ा, वछड़ा, संदेसड़ा, हियरा, जियरा आदि। अपभ्रंश की क्रिया पद्धति संस्कृत से भिन्न हो चली है। कृदन्तज क्रिया का बाहुल्य हो गया। इससे भूतकालिक क्रियायें कर्मवाच्य एवं भाववाच्य की ओर झुकी हुई हैं। इसका प्रभाव हिन्दी के वाच्यों पर पड़ा। सामान्यतया वर्तमान और भविष्य की वाक्य रचना कर्तरि प्रधान होती है।

इस प्रकार अपभ्रंश भाषा न० भा० आ० और पुरानी भारतीय आर्य भाषा की कड़ी-जोड़ने वाली है। यह पुरानी योगात्मकता से पिंड छुड़ाकर अयोगात्मकता की ओर बढ़ती है। इसकी भाषायिक विकास प्रक्रिया अत्यधिक हिन्दी से मेल खाती है। यह पुरानी हिन्दी सी जान पड़ती है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य का अध्ययन ज्यों-ज्यों दिनों-दिन बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और भी स्पष्ट होती जायेगी। इससे हिन्दी के आदि काल का स्वरूप स्पष्ट होगा और मध्य भारतीय भाषाओं की स्पष्ट रूपरेखा सामने आयेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में अब तक हमने जो विवेचन किया उसका निष्कर्ष यही है कि अपभ्रंश पुरानी भारतीय भाषाओं एवं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को जोड़ने वाली कड़ी है। अपभ्रंश से दोनों भाषाओं के अध्ययन में सहायता मिलती है। यह 5, 6 सौ वर्षों तक जीवित भाषा के रूप में भारतीय जनता को अनुप्राणित करती रही। अपभ्रंश और अवहट्ठ दोनों एक ही हैं। अपभ्रंश में भाषा के पुराने बन्धन शिथिल हो जाते हैं। सरलीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। वाक्य-रचना का ढाँचा बदल जाता है, वाक्य बड़े न होकर छोटे होते हैं। मिश्रित पदावलियाँ कम दीखती हैं। भूत काल में कर्मणि एवं भावे प्रयोग अधिक होते हैं। विभक्तियों का अभाव भाषा की अयोगात्मकता बताता है। इसका स्पष्ट प्रभाव हिन्दी पर दीखता है। अपभ्रंश में विभक्तियों का स्थान परसर्ग ले लेते हैं। कारक चिह्न सिमट कर तीन वर्गों में बँट जाते हैं—प्रथमा और द्वितीया, तृतीया और सप्तमी तथा पंचमी और षष्ठी। सम्प्रदान का अपना कोई पृथक चिह्न नहीं है। अपभ्रंश के रचनात्मक प्रत्यय अपने हैं। उनका प्रचलन हिन्दी में भी है जैसे स्वार्थिक डा या ड़ा तथा रा प्रत्यय आदि—दोषड़ा, संदेसड़ा हियरा, जियरा आदि। अपभ्रंश के सर्वनाम पुरानी भाषाओं के आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप

में विकास के कारण प्रतीत होते हैं। अपभ्रंश में कृदन्तज क्रियाओं के बाहुल्य के कारण शब्द एवं धातुएँ तद्भव अधिक प्रयुक्त होती हैं। इसका प्रभाव हिन्दी आदि भाषाओं पर स्पष्टतया देखा जा सकता है। हिन्दी में दुहरी क्रिया के प्रयोग का कारण बहुत कुछ अपभ्रंश का कृदन्तज प्रयोग ही है।

इस तरह अपभ्रंश ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को अत्यधिक जीवनी शक्ति दी है। यह **भरत** के काल से ही सर्व साधारण जनता द्वारा पोषण पाती हुई सन् 500 ई० के समय भाषा के रूप में विकसित होती है और अपनी साहित्यिक महत्ता स्थापित करती है। पुरानी पालि और प्राकृत भाषा की विशिष्टताओं को धरोहर रूप में सजोकर अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त करती है। पुरानी भाषाओं को आत्मसात कर आधुनिक भारतीय भाषाओं को जन्म देती है। इस प्रकार अपभ्रंश का अध्ययन भारतीय भाषाओं के अतीत और वर्तमान को सम्यक् समझने के लिये अत्यंत उपयोगी और आवश्यक है। उस दिशा में प्रस्तुत पुस्तक का योगदान महत्त्व का माना जाएगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

– – – – – –

परिशिष्ट

1. शब्द कोश
2. प्रमुख सन्दर्भ ग्रंथ

शब्द कोश

हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण में आठवें अध्याय के चतुर्थ पाद के अपभ्रंश दोहों में जितने शब्द आये हैं उन शब्दों का कोश अकारादि क्रम से सूत्रों की संख्या के साथ दिया जाता है। साथ ही साथ अपभ्रंश शब्दों का हिन्दी अर्थ भी दिया जाता है।

अपभ्रंश	हिन्दी
अ	
अइ—425.1	अति
अइ-तुंगत्तण—390	अत्यधिक ऊँचा
अइ-मत्त—345	अतिमत्त
अइ-रत्त—438.2	अतिरक्त
अइस—403	ऐसा
अङ्ग—332.2, 357.2	अंग
अङ्गुलि—333	अंगुली
अंतरु—350, 406.3, 407.1, 408.1, 434.1	अन्तर
अंत्रडी—445.3	आँत
अंधारय—349.1	अंधकार
अंबण—376.2	अपना
अंसु-जल—414.3	आंसु जल
अंसू सास—431.1	आंसु का श्वास
अ-किअ—396.4	नहीं किया हुआ
√अक्ख्—350.1	कहना
अक्खि—357.2	आँख
अखइ—414.2	अक्षय
आगलिअ-नेह-निव्वुट्ट—332.1	अगलित स्नेह से निवृत
अग्ग—326, 391.2, 422.12	आगे
अग्गल—341.2, 444.2	अगला
अग्गी—343.1, 2	अग्नि
अग्गिट्ठउ—429.1	अंगीठी
√अग्घ्—385.1	हो (अर्थ)
अ-चिंतिय—423.1	अचिंतित
√अच्छ्—388, 406.3	होना
अज्ज-वि—423.3	आज भी
अज्जु—343, 418.2	आज
अ-डोहिअ—439.3	अकलुषित
√अणुणे—414.4	मनाना (अनुनय करना)
अणुत्तर—372.2	उत्तरहीन (अनुत्तर)

अणुदिअह—428 रोज (अनुदिवस)
अणुरत्त—422.10 अनुरक्त
√**अणुहर्**—367.4, 418.8 अनुसरण करना
अण्ण का अन्न—372 अन्य
अत्थ—358.1 अस्त्र
°**अत्थमण**—444.2 अस्तमन
अद्ध—352 आधा
अद्धिन्न—427.1 अधीन
अनउ—400.1 अनीति
अनु—415.1 अन्यथा
अन्न (अण्ण)—337, 350.1, 357.2, 370.2, 372.2, 383.3, 401.2, 414.1, 418.8, 422.1, 9, 425.1, 427.1 अन्य (दूसरा)
अन्नह—415.2 अन्यथा (नहीं तो)
अन्नाइस—413 दूसरे जैसा
अपूरय—422.18 अपूर्ण
अप्प—346,422.3 अपना (आत्मा)
अप्पण—337, 338, 350.2, 416.1 अपना
अप्पण-छंद—422.14 (मरजी) अपना स्वभाव
अप्पाण—396.2 अपना
अ-प्पिअ—365.1 अप्रिय
अब्भ—439.1, 445.2 बादल
अब्भडवंचिअ—395.3 पीछे-पीछे जाकर
°**अब्भत्थण**—384.1 अभ्यर्थना
√**अब्भिड्**—383.3 आ भिड़ना
°**अब्भुद्धरण**—364 उद्धारक
अ-भग्ग—387.3 अभग्न
अभय—440 अभय
***अब्भि**—395.5, 396.2, 424 सखि
अम्ह—371, 376, 379.3, 380, 381, 442.10, 439.1 हम
अम्हार—345 हमारा
अरि—418.7 शत्रु
अ-लहंत—350.1 अलभ्यमान
अलि-उल—353 अलि कुल
अवगुण—395.6 अवगुण
अवड यड—339 अवट तट
अवर—395.6 अपर (दूसरा)
अवराइस—413 दूसरे के समान
अवराहिय—445.4 अपराध
अवरोप्पर—409 परस्पर
अवस—376.2, 427.1 अवश्य
अवसर—358.2 अवसर
असड्ढल—422.8 असाधारण
असई—396.1 कुलटा
असण—341.2 भोजन
अ-सार—395.7 असार
अ-सुलह—353 असुलभ

अ-सेस—440 अशेष
अह—339, 341.3, 365.3, 365.5, 379.3, 416.1, 422.1 अथ
अहर—332.2, 390 अधर
अहवइ—419.2 अथवा
अहवा—419.3 अथवा
अहो—367.1 अहो
आइस—432 आया (क्रिया)
आगद—355, 372.1, 373.1, 380.1 आया (क्रिया)
√**आण्**—419.3 लाना (क्रिया)
°**आणंद**—401.3 आनन्द
आदन्न—422.22 आर्त
आय—365, 383.3 यह
आयर—341.2 आदर
आल—379.2 अनर्थक
आलवण—422.22 बातचीत (आलाप)
√**आव्**—367.1, 400.1, 422.1 आता है (क्रिया)
आवइ—400.1 आपद
√**आवट्ट**—419.6 विनाश करता है (क्रिया)
°**आवडिअ**—401.4 आपतित
°**आवलि**°—444.3 समूह
°**आवास**°—442.2 आवास
आवासिय—457.2 आवास किया (क्रिया)
आस—383.1 आशा

इ

°**इ**—383.2, 384.1, 390, 396.4, 401.1, 439.4 भी
इंदणील—444.5 इन्द्रनील
√**इच्छ्**—384.1 चाहना
इट्ठ—358.2 इष्ट
इत्तय—391.2 इतना
इम—361 यह
इयर—406.3 इतर
इह—419.1 यहाँ

उ

उअ—396.5 देखो (क्रिया)
उअही—365.2 उदधि (समुद्र)
°**उच्चाडण**—438.2 उच्चाटन
उच्छंग—336.1 पास
उज्जाण-वण—422.11 उद्यान-वन
उज्जुअ—412.2 ऋजु (सीधा)
उज्जेणि—442.1 उज्जयिनी
उट्ठ-बईस—423.4 ऊठ-बैठ
√**उट्ठब्भ्**—365.3 सहारा देना (क्रिया)
उट्ठिअ—415 उठा (क्रिया)
°**उड्डाण**—337 उड़ना (क्रिया)
√**उड्डाव्**—352 उड़ाना (क्रिया)

उण्ह–343.1	उष्ण
√उत्तर्–339	उतरना (क्रिया)
उद्ध-ष्भुअ–444.3	उर्ध्व भुजा
उप्पत्ति–372.2	उत्पत्ति
उप्परि–334.1	ऊपर
√उम्मिल्ल्–354.2	खोलना (क्रिया)
√उल्हव्–416.1	ठंढा करना (क्रिया)
√उवम–418.3	उपमा
उव्वत्त–414.2	निकलना (क्रिया)
उव्वरिअ–379.2	अवशिष्ट
°उव्वाण–431.1	सुखाना (क्रिया)
√उव्वार्–438.1	उवारना
°ऊसास–431.1	उच्छवास

ए

√ए–351, 4063,4144	आना
एअ–330.4, 362, 363, 391.2, 395.4, 399.1, 402, 414.4, 419.2, 422.12, 425.1, 438.1, 445.2	ये
एक्क–331, 357.2, 419.6, 422.1,4,9,14	एक
एक्क-इ–383.2	एक भी
एक्क-खण–371	एक-क्षण
एक-मेक्क–422.6	एक एक
एक्कसि–428	एक बार
एच्छण–353	चाहना
एत्तहे–419.6, 436	यहाँ से
एत्तिअ–341.2	इतना
एत्तुल–408.2, 435	इतना
एत्थु–330.4, 389.2, 404.1	यहाँ
एवड–408.1	इतना
एवँ–376.1, 418.1	एवं
एवँइ–332.2, 431.1, 423.2, 441.1	ऐसे ही
एवँहिँ–387.3, 420.4	इस समय

ओ

ओ–401.2	ओ (सम्बोधन)
ओइ–364	ये
√ओहट्ट–419.6	क्षय होना (क्रिया)

क

क–355.3,358.2,359.3 370.3, 379.2, 377.1, 384.1, 387.2, 395.1, 396.2, 412.2, 415.1, 420.5, 422.4, 9, 7, 438.3, 439.4, 431.2	कौन
कइ–379.1, 420.3	कितना
कइअहँ–422.1	कभी
कइँ–426.1	क्या

कइस—403 कैसा

कउ—416.1, 418.1 कहाँ से

कंगु—367.4 विशिष्ट धान

कंचण-कंति-पयास—396.5 सुवर्ण-कान्ति-प्रकाश

कंचुअ—431.1 कंचुक

कंठ—420.5, 444.2, 446 कंठ

कंत—345, 351, 357.1, 358.1, 364, 379.2, 383.3, 389.1, 395.5, 416.1, 418.3, 445.3 स्वामी

°कंति—349.2, 396.5 कान्ति

कच्च—329 कोई

कच्चु—329 कोई

कज्ज—343.2, 367.4 कार्य

कज्ज-गइ—406.3 कार्य-गति

कटरि—350.1 आश्चर्य

कटार—445.3 कटार (छूरी)

कडु—336.1 कटु

कड्ढ—385.1 काढ़ना

°कटण—438.2 उबाला जाना

कणिअ—419.6 कण

कणिआर—396.5 (कर्णिकार) कनैल

कधिद—396.3 कहा

कन्न (का कण्ण)—330.3, 340.1, 432 कान

√कप्प्—357.1 काटना (क्रिया)

°कबरिबंध—382 कबरी बंध

°कमल—332.2, 353, 395.1, 397, 414.1 कमल

कय—422.10 किया

कयम्ब—387.2 कदम्ब

√कर्—330.3, 337, 338, 340.2, 346, 357.3, 360.1, 370.2, 376.1, 382, 385.1, 387.3, 388, 396.3,4, 400, 414.4, 420.3, 422.22, 431.1, 438.1, 441.1, 445.4 करना (क्रिया)

°कर—349.1, 354.2, 387.3, 395.1,3, 418.6, 439.3 हाथ

करग्गुल्लालिअ—422.15 कराग्रोल्लालित

करवाल—354.2, 379.2, 387.3 करवाल (तलवार)

°करालिअ—415.1, 429.1 पीडित

√कराव्—423.4 कराया (प्रेरणा क्रिया)

करि-गंड—353 हाथी का गंडस्थल

°कलं किअ—428 कलंकित

कलहिअ—424 कलह

°कलाव—414.1 कलाप

कलि—341.3 कलि

कलि-जुग—338 कलियुग

°कलेवर—365.3 कलेवर

कवण—350.2, 367.4, 395.6, 425.1 कौन

कवल—387.1 कौर

कवँल—397 कमल

कवाल—387.3 कपाल

कवोल—395.2 कपोल

कसवट्ट—330.1 कसौटी

कसर—421.1 खराब बैल

कसरक्क—423.2 कचर कचर कर

कसाय-बल—440 कषाय-बल

√**कह्**—422.14 कहो

कह—440.1 कहो

कहंतिहु—415.1 कहाँ से

कहिं—357.3, 422.6, 8, 436 कहीं

काइँ—349.1, 357.3, 367.1, 370.2, 383.2, 418.4, 421.1, 422.2, 428, 434.1 कौन

काम—446 काम

°काय—350.1 शरीर

कायर—376.1 कायर

काल—415.1, 422.18, 424 काल

काल-क्खेव—357.3 काल-क्षेप

कावालिय—387.3 कापालिक

किअ—371.1, 429.1 किया (क्रिया)

किं—365.2, 391.1, 418.8, 422.10, 434.1, 438.1, 439.1, 445.2 क्या

किं—340.2 क्या

कित्ति—335 कितना

कित्तिय—383.1 कितना

किद—446 किया (क्रिया)

किध—401.1 कैसे

किन्नय—329 भींगा

किर—349.1, 419.1 (किल) निश्चय

किलिन्नय—329 भींगा

किवण—419.1 कृपण

किवँ—401.2, 422.14 क्या

किह—401.3 कैसे

किहेँ—356 कहाँ से

√**कील्**—448.2 क्रीड़ा

°कुट्टण—438.2 कूटना

कुंजर—387.1, 422.9 हाथी
कुंभ—345 घड़ा
कुंभ-यड—406.1 कुंभ-तट
कुडुंब—422.14 कुटुंब
कुडी—422.14 कुटी
कुडीर—364 कुटीर
कुड्ड—396.4 कौतुक
कुमार—362 कुमार
कुरल—382 कुरल
कुल—361 कुल
°कुसुम—444.5 कुसुम
कुसुम-दाम (कोदंड)—446 कुसुम-दाम-कोदंड
कृदन्त—370.4 कृतान्त (यमराज)
केत्तुल—408.2, 435 कितना
केत्थु—404.1 कहाँ
केम—401.1 कैसे
केर—359, 373.2, 422.20 सम्बन्धी
केवड—408.1 कितना
केवँ—343.1, 390, 396.4, 418.1 कैसे
केस—370.3 केश
केस-कलाव—414.1 केश-कलाप
केसरि—335, 422.20 केशरी
केहय—402 कैसा
केहिँ—425.1 के लिये
कोतं—422.15 कुन्त
कोट्टर—422.2 कोटर
कोड्ड—422.9 कौतुक
°कोदंउ—446 कोदंड
°क्खेव—357.3 क्षेप

ख

√खंड्—367.1, 428 खंड
खंड—340.2, 423.4, 444.2 खंडित
खंडिअ—418.3 खंडित
खंति—372.2 क्षमा
खंध—445.3 स्कधं (कंधा)
°खंभ—399.2 स्तंभ
खग्ग—330.4, 357.1 खड्ग
खग्ग-विसाहिय—386.1 खड्ग-विसाधित
°खण—371,419.1,446 क्षण
खय-गाल—377.1 क्षय-काल
खर-पत्थर—344.2 तीक्ष्ण-पत्थर
खल—334.1, 337, 365.5, 406.2, 418.7, 422.1 खल
खल-वयण—340.1 खल-वचन
खल्लिहड—389.1 खल्वाट

खसप्फ सिहूअ—422.15 व्याकुलीभूत

√खा—419.1, 422.4, 423.2, 445.4 खाना (क्रिया)

खुडुक्क—395.4 पीड़ा देना (क्रिया)

खेड्ड—422.10 क्रीड़ा

√खेल्ल्—382 खेल

खोडि—419.2 दोष

ग

°गइ—406.3 गति

गउरी—329 गौरी

गंग—442.2 गंगा

गंगा-ण्हाण—399.1 गंगा-स्नान

गंजिअ—409 पराजित

°गंठि—420.5 ग्रन्थि

°गंड—353 गंडस्थल

गंड-त्थल—357.2 गंडस्थल

√गज्ज्—367.5, 418.6 गर्जना (क्रिया)

√गण—333, 353, 358.2, 414.2 गिनना (क्रिया)

गद—379.1 गया (क्रिया)

√गम्—330.2, 442.1, 2 जाना (क्रिया)

गय—345, 352, 367.5, 370.3, 379.2, 419.5, 422.20, 429.1, 442.2 गया (क्रिया)

गय—335, 418.3 गज

गय-घड—395.5 गज-घटा

गयण—395.4 गगन

गयण-यल—376.1 गगन-तल

गय-मत्त—383.3 गज-मत्त

°गर—396.1 करना

√गल्—406.2, 418.7 गलना (क्रिया)

गल—423.4 गला

°गलिअ°—332.1 गलित

गवक्ख—423.3 गवाक्ष

√गवेस्—444.3 ढूढ़ना (क्रिया)

गह—385.1 ग्रह

गरुअ—340.2 गुरु (भार)

गहीर—419.6 गंभीर

°गाम—407.1 ग्राम

°गाल—377.1 काल

गिम्ह—412.1 ग्रीष्म

गिम्ह्—357.2 ग्रीष्म

गिरि—341.1 गिरि (पर्वत)

गिरि-गिलण-मण—445.2 गिरि-गिलन-मन

गिरि-सिंग—337 गिरि-श्रृंग

√गिल्—370.2, 396.1 गिलना (क्रिया)

गुट्ठ-ट्ठिअ—416.1 गोष्ठ-स्थित

√गुण—422.15 गुण

गुण—335, 338, 347.1, 395.6 गुण

गुण-लायण्ण-णिहि—414.1 गुण-लावण्य-निधि

गुण-सम्पइ—372.2 गुण-सम्पत्ति

गुरु-मच्छर-भरिअ—444.4 गुरु-मत्सर-भृत

गृण्ह—336.1,2, 394, 438.1 ग्रहण करना (क्रिया)

√**गृह्**—341.2, ग्रहण करना (क्रिया)

गोट्ठ—423.4 गोष्ठ

गोर—329, 383.2, 395.1, 395.4, 414.3, 418.7, 420.5, 431.1, 436 गोरी

गोरी-मुह-निज्जिअ—401.2 गोरी-मुख-निर्जित

गोरी-वयण-विणिज्जिअ—396.5 गोरी-वचन-विनिर्जित

√**गोव्**—338 छिपाना (क्रिया)

°**ग्गहण**—396.1 ग्रहण

घ

घइँ—424 निश्चय

घंघल—422.2 कलह

√**घड्**—331, 404.1, 414.1, घटना (क्रिया)

°**घड्**—357.1, 395.5 घटा

√**घडाव्**—340.1 रचना (क्रिया)

घण—422.23, 439.1 बहुत

घण—350.2 घृणा

घण-कुट्टण—438.2 घन-कुट्टन

घण-थण-हार—414.1 घन-स्तन-भार

घण-पत्तल—387.2 घना-पत्तल

घत्त—414.3 घात

घर—341.1, 343.2, 351, 364, 367.1, 422.14, 15, 423.3, 436 घर

°**घरिणि**—370.3 गृहिणी

घल्ल—334.1, 2, 422.3.9, फेंकना (क्रिया)

घाय—346 घात

घुंट—423.2 घुंट

°**घुग्घि**—423.3, घुड़की

√**घुडुक्क**—395.4 गरजना (क्रिया)

√**घेप्प**—335, 341.1 ग्रहण करना (क्रिया)

घोडय—330.4,344.1 घोटक (घोड़ा)

च

चउमुह—331 चतुर्मुख

चंचल—418.4 चंचल

°**चंदिम**—349.1 चंद्रिका

√**चंप्**—395.6 आक्रमण करना (क्रिया)

चंपय-कुसुम—444.5 चम्पक-कुसुम

चंपा-वण्ण—330.1 चम्पक-वर्ण

चक्क—444.2 चक्रवाक

√चड्—331, 421.1, 439.1, 445.4 आरूढ़

°चडक्क—406.1 प्रहार

चत्तं कुस—383.3, 345 त्यक्तांकुश

√चय्—418.6, 422.10, 441.2 त्यज (छोड़ना-क्रिया)

√चर्—383.1 [illegible] (क्रिया)

चल—422.18 चलना (क्रिया)

चलग—399.1 चरण

°चवेड—406.1 चांटा (थप्पड़)

चाय—396.3 त्याग

चारहडि—396.3 शौर्यवृत्ति

√चिंत्—362, 396.2, 422.15, 423.1 चिंता करना (क्रिया)

√चिट्ठ—360.1 बैठना (क्रिया)

√चुंब्—439.3 चुंबा लेना (क्रिया)

√चुण्णीहो—395.2 चूर्णीभूत

चूडुल्लय—395.2 कंगन

चूर—337 चूर्ण

√चेअ—396.2 चेतना (क्रिया)

च्चिअ—365.2 ही

छ

°छइल्ल—412.2 छैला (विदग्ध)

°छंद—422.14 छन्दक

√छड्ड—387.3, 422.3 छोड़ना

छम्मुह—331 छेमुख

छाया—370.1 छाया

छाया बहुल—387.2 छाय-बहुल

छार—365.3 क्षार

√छिज्ज्—357.1,434.1 काटना (क्रिया)

छिण्ण—444.2 छिन्न

छुडु—385.2, 401.1 शीघ्र

छेअ—390 छेद

ज

ज—330.4, 332.1, 333, 338, 343.1, 345, 350.1,2, 359.1, 360.2, 365.2,3, 367.1, 368, 370.4, 371, 379.2, 383.3, 388, 389.1, 390, 395.5, 6, 396.1, 3, 401.2, 409, 412.2, 414.1, 418.3, 420.4, 5, 422, 3, 4, 7, 18, 22, 426.1, 427.1, 428, 429.1, 438.2,439.3, 442.2, 455.2, 446 जो

जइ—343.2, 351, 356, 364, 365.3, 367.1, 5, 372.2, यदि

379.3, 384.1, 390,
391.2, 395.1, 396.4,
399.1, 401.4, 404.1,
418.6, 419.1, 3,
422.6, 9, 15, 23,
438.1, 3, 439.1, 4

जइरु—403 जैसा

जउ—419.5 जो

जंप्—442.1 कहना

•जंपिर—350.1 बोलना (क्रिया)

जग—343.1, 404.1 जगत

√जग्ग्—438.3 जागर्तव्य

जज्जरिय—333 जर्जरित

जण—336.1, 337, जन
339, 364, 371, 372.2,
376.1, 406.3, 419.5

जण-सामन्न—418.8 जन-सामान्य

जणि—444.5 सदृश

जणु—401.3 सदृश

जत्तु—404.2 जहाँ

जम—419.1 यम

जम-घरिणि—370.3 यम-गृहणी

जम-लोअ—442.2 यम-लोक

जम्म—383.3, 396.3, जन्म
422.4

जय—440 जय

जय-सिरि—370.3 जय-श्री

जर-खंड—423.4 जरा-खंडित

√जल्—365.2 जलना (क्रिया)

जल—365.2, 383.1,2, जल
395.7, 419.6, 414.3,
415.1, 422.20, 439.3,

जलण—365,2, 444.4 जलन

जहिँ—349.2, 357.1, जहाँ
386.1, 422.6, 426.1

√जा—332.1, 350.1, जाना (क्रिया)
386.1, 388, 419.3,
420.3, 439.4, 441.1
444.3, 445.2

जाइड्डिअ—422.23 जो जो देखा
उस से

जाई-सर—365.1 जाति-स्मर

√जाण—330.4, 369, जानना (क्रिया)
377.1, 391.2, 401.4,
419.1, 423.1, 439.4

जाम—387.2, 406.1, जब तक

जामहिँ—406.3 जिसमें

जाय—350.2, 395.6, पैदा होना
426.1 (क्रिया)

जाल—395.3, 415.1, ज्वाला
429.1

जावँ—395.3 जब तक

जि—341.3, 387.1, जो
414.1, 419.3, 420.3,
422.15, 423.3, 429.1

√जिण्—442.2 जीतकर
जिणवर—444.4 जिनवर
जिब्भिंदिअ—427.1 जिह्वेन्द्रिय
जिवँ—330.3, 336.1, 344.2, 347.2, 354.2, 367.4, 376.2, 385.1, 395.1, 396.4, 397, 422.2,23 जैसे
जिह—337, 377.1 जैसा
√जीव—406.3, 439.3 जीव
जीवग्गल—444.2 जीवार्गल
जीविय—358.2, 418.4 जीवित
°जुअल—414.1 युगल
जुअंजुअ—422.14 पृथक-पृथक
°जुग—338 युग
√जुज्झ्—379.2 युद्ध (जूझना)
जुज्झ—382, 386.1 युद्ध
जुत्त—340.2 युक्त
√जे—440, 441.2 जो
जेत्तुल—407.2,435 जितना
जेत्थु—404.1, 422.14 जहाँ
जेवड—407.1 जब तक
जेवँ—397, 401.4 जैसे
जेह—402 जैसा
जेहय—422.1 जैसा
√जोअ—332.2, 356, 364, 409, 422.6 जो
√जोअण-लक्ख—332.1 योजन-लक्ष
जोण्ह—376.1 ज्योत्स्ना
जोव्वण—422.7 यौवन
ज्जि—406.2, 423.3 ही

झ

√झंख्—379.2 बोलना (क्रिया)
झडत्ति—423.1 शीघ्र
झडप्पड—388 झटपट
झलक्किअ—395.2 संतप्त
√झा—331, 340 ध्यान करना (क्रिया)
√झिज्ज्—425.1 (दुबला होना) छीजना (क्रिया)
झुणि—432 ध्वनि
झुंपड—416.1, 418.7 झोपड़ा

ट

°ट्ठिअ—416.1, 439.4 स्थित

ठ

√ठव्—457.3 स्थापित करना (क्रिया)
√ठा—436 बैठना (क्रिया)
°ठाण—362 स्थान
ठावँ—332.1, 358.1 स्थान
ठिअ—374, 381, 391.2, 401.3, 415.1, 422.8 स्थित

ठिद—404.2 स्थित

ड

डंबर—420.3 आडंबर

√डज्झ्—365.3 दग्ध

डाल—445.4 शाखा

°डिंभ—382 समूह

डुंगर—422.2, 445.2 पर्वत

डोहिअ—439.3 कलुषित

ढ

ढ़क्क—406.1 ढक्का

ढक्करि-सार—422.12 अद्‌भुत

ढोल्ल—330.1,2,425.1 प्रियतम

ण

°ण्हाण—399.1 स्नान

त

त—330.4, 333, 336.1, 338, 339, 340.1, 343.1, 2, 350.1.2, 353, 355.2, 356, 357.2, 358.1, 359.2, 360.2, 365.2, 3, 367.1, 368, 370.1, 2, 371, 376.2, 379.3, 382, 383.3, 384.1, 387.1, 388, 389.1, 390, 395.7, 397.3, 401.1, 2, 4, 404.1, 406.2, 409, 412.2, 414.1, 2, 3, 418.3, 7, 419.3, 5, 420.4, 5, 422.3, 4, 7, 14, 15, 20, 22, 426.1, 428, 429.1, 422, 438.3, 439.3, 442.2, 445.2, 446 वह

तइज्ज—339 तृतीय

तइस—403 वैसा

√तक्क—370.3 तर्कणा करना (क्रिया)

तड—422.3 तट

तड्डंति—352, 357.3 तड़ तड़कर

√तडप्फड्—366.1 तड़फड़ाना

तण—329, 334.1, 339, 361.1, 366.1, 379.3 सम्बन्धि

तणु—401.2, 418.6 तनु

तणु—401.3 तनु

तत्त—440 तत्त्व

तत्तु—404.2 तत्र

तस—340.1, 341.1,2 370.1 उसका

तरुअर—422.9 तरुवर

तरुण—346 तरुण

तल—334.1, 2 तल (नीचे)

√तव्—377.1 तप

तव—441.1,2 तप

तहिँ—357.1, 387.1, 422.18 वहाँ

ता—370.1 तब तक

ताउँ—406.2, 423.3 तब तक

°तार—356 तारा

ताम—406.1 तब तक

तामहिँ—406.3 तब तक

ताव—422.23 ताप

तावँ—395.3 तब तक

ति—347.2 त्रि

तिंतुव्वाण—431.1 भिंगाता हुआ

तिक्ख्—344.2 तीखा करना (क्रिया)

√तिक्खाल्—395.1 तीक्ष्ण

तिण—329 तृण

तिण-सम—358.2 तृण-सम

°तित्थ—442.2 तीर्थ

तित्थेसर—441.2 तीर्थेश्वर

तिद सावास-गय—442.2 त्रिदशावास-गया

तिमिर-डिंभ—382 अन्धकार-समूह

तिरिच्छ—414.3,420.3 तिरछा

तिल—357.2, 406.2 तिल

तिल-तार—356 तिल-तारा

तिवँ—344.2, 367.4, 376.2, 395.1, 397, 422.2 वैसे

तिम—395.7 वैसे

तिह—377.1 उस प्रकार

तु—351 तो

°तुंग—390 ऊँचा

तुंबिणि—427.1 तुम्बिनी

तृण—422.20 तृण

तुच्छ—350.1 तुच्छ

तुच्छ-काय-वम्महनिवास—350.1 तुच्छ-काय—मन्मथ-निवास

तुच्छच्छ-रोमावलि—350.1 सूक्ष्म-रोमावली

तुच्छ-जंपिर—350.1 तुच्छ-बोलना

तुच्छ-मज्झ—350.1 तुच्छ-मध्य

तुच्छयर-हास—350.1 तुच्छतर-हास

तुच्छ-राय—350.1 तुच्छ-राग

तुट्ट—356 टूटना

तुडि-वसे—390 त्रुटि-वश

तुधे—372.1, 2 तुम्हारा

तुम्ह—369, 371, 373, 374 तुम

°तुलिअ—382 तुलित (तुलना)

तुहार--434.1 तोहार

तुहुँ—330.2, 3, 357.3, 361.1, 367.1, 368, 370, 372, 383.1, 387.3, 402, 421.1, 422.12,18, 425.1, 339.4 तु

तृण—329 तृण
तेत्तहे—436 वहाँ
तेत्तिअ—395.7 तब तक
तेत्तुल—407.2, 435, उतना
तेत्थु—404.1 वहाँ
तेवड—395.7, 407.1 तब तक
तेवड—371 उतना मात्र
तेवँ—343.1, 397, वैसा
401.4, 418.1, 439.4
तेह—402 वैसा
तेहय—357.1 उस प्रकार
तो—336.1, 341.1, तो
343.2, 364, 365.3,
5, 379.3, 395.1,
404.1, 418.6, 419.3,
422.6, 423.4, 439.1
445.3, 4,
तोसिअ संकर—331 तोषित-शंकर
त्ति—423.1 करके
°त्थल—357.2 स्थल

त्र

त्रं—360.1 वह

थ

थक्क—370.3 ठहरना (क्रिया)
थण—350.2, 390 स्तन
थणंतर—350.1 स्तनान्तर
°थणहार—414.1 स्तन भार
थलि—330.4 स्थली
√था—395.5 ठहरना
थाह—444.3 था
थिरत्तण—422.7 स्थिरता
थोव—376.1 थोड़ा (कम)

द

दइअ—333, 342, दयित (प्रेम,
414.4 पति)
दइव—331.3, 340.1, दैव
389.1
√दंस्—418.6 दर्शयमान
दंसण°—401.1 दर्शन
दडवड्ड—330.2 झटपट
°दडवडय—422.18 अवस्कन्द, शीघ्र
दड्ढ—343.2 दग्ध
दड्ढ-कलेवर—365.3 दग्ध-कलेवर
दड्ढ-नयण—422.6 दग्ध-नयन
°दम्म—422.15 दाम
°दह—444.3 ह्रद (तालाब)
दहमुह—331 दशमुख
°दाम°—446 माला
दार—345 विदारण करना
(क्रिया)
√दि—383.3, 419.5, देना (क्रिया)
428, 438.1
दिअह—333, 387.2, दिवस
388, 418.4

दिट्ठ—352, 365.1, 371, 396.1, 2, 401.4, 422.18, 423.2, 429.1, 431.1, 432 दृष्ट

दिट्ठि—330.3 दृष्टि

दिण—401.1 दिन

दिणयर—377.1 दिनकर

दिण—330.1, 333, 401.3, 444.2 दिया (क्रिया)

दिव—399.1, 422.4 दिवस

दिव्व—418.4 दिव्य

दिव्वंतर—442.1 दिव्यतर

दिसि—340.2 दिशा

दीह—330.2 दीर्घ

दीहर—414.1 दीर्घ

दीहर-नयण-सलोण—444.4 दीर्घ-नयन सलाण्य

दु—340.2 दो

दुक्कर—414.4, 441.1 दुष्कर

दुक्ख-सय—357.3 सौदुख (दुख-शत)

दुज्जण-कर-पल्लव—418.6 दुर्जन-कर पल्लव

दुट्ठ—401.1 दुष्ट

°दुब्भिक्ख—386.1 दुर्भिक्ष

दुम—336.1, 445.4 द्रुम (पेड़)

दुल्लह—338 दुर्लभ

दूअ—367.1, 419.1 दूत

दूर—449.1, 353 दूर

दूर-ठिअ—422.8 दूर-स्थित

दूरुड्डाण—337 दूर उड़ान

दूसासण—391.2 दुःशासन

√दे—379.2, 384.1, 406.3, 414.3, 420.3, 422.15, 22, 42.33, 440, 441.1 देना (क्रिया)

देक्ख्—345, 349.1, 354.2, 357.3, 361.2, 379.3, 420.3 देखना

देस—386.1, 418.6, 419.3, 422.11, 425.1 देश

देसंतरि अ—368 देशांतरित

देसुच्चाडण—438.2 देशोच्चाटन

दो—340.2, 358.2 दो

दोस—379.2, 401.4, 439.4 दोष

द्रम्म—422.4 दाम (पैसा)

द्रवक्क—422.4 भय

द्रह—423.1 ह्रद

द्रेहि—422.6 दृष्टि

ध

धण—330.1, 350.1, 367.5, 430.3, 444.3, 445.2 धन्या (प्रिया)

धण—358.2, 373.2, 441.1 धन

√धणा—445.2 रक्षा करना (क्रिया)

धणि—385.1 प्रिये (संबोधन)

धणु—373.2 धन, (धनुष)

धम्म—341.3, 396.3, 419.1, धर्म

√धर—334.1, 336.1, 382, 421.1, 438.3 धारण करना (क्रिया)

धर—377.1 धृति

धर—441.2 धरा

धवल—340.2, 421.1 धवल (बैल)

√धा—436 दौड़ना (क्रिया)

धार—383.2 धारा

√धुद्धुअ—395.7 शब्द करना (क्रिया)

धुर—421.1 धुरा

धूम—415.1 धूआँ

धूलि—432 धूलि

धुँ—360.1, 438.1 जो

ध्रुव—418.4 ध्रुव (निश्चय)

न

न—330.4, 332.2, 335, 339, 340.1, 2, 341.1, 349.1, 350.1, 356, 358.2, 360.1, 365, 367.1, 370, 379.2, 383.1, 2, 386.1, 390, 395.7, 396.3, 401.4, 402, 406.1, 2, 414.2, 416.1, 418.6, 8, 419.1, 2, 5, 420.5, 421.1, 422.1, 4, 11, 15, 423.4, 432, 436, 438, 441.1, 444.2, 445.4 नही

नइ—422.2 नदी

नउ—423.2, 444.2 नहीं

नूँ—382, 396.5 निश्चय

√नंद—422.14, सुखी होना (क्रिया)

√नच्चाव्—420.4 नचवाना (क्रिया)

√नम्—446 झुकना (क्रिया)

नयण—422.6, 423.2, 444.4 नयन

नयण-सर—414.3 नयन-शर

नर—362, 412.2, 442.1 नर

√नव्—367.4, 399.1 झुकना (क्रिया)

नव—396.4 तुम्हारा

नवरवी—420.5 नवीन

नवर—377.1 परन्तु

नवरि—423.1 प्रत्युत

नववहु-दंसण-	नववधू-दर्शन	**निच्चु**—395.5	नित्य
लालस—401.1	की लालसा	**निच्छय**—358.1,	निश्चय
नह—333	नख	422.10	
नाइ—330.1, 444.3	जैसे	**निज्जिअ**—371,401.2	निर्जित
नायग—427.1	नायक	**निण्णेह**—367.5	स्नेह हीन
नारायण—402	नारायण	**निद्द**—330.2, 418.1	निद्रा
नालिअ—422.15	मूर्ख	**निरक्खय**—418.3	रक्षक विना
°नाव—423.1	नौका	**निरामय**—414.2	निरामय
नावइ—331, 444.4	सदृश	**निरु**—344.2	निरंतर
नावँ—426.1	नाम	**निरुवम-रस**—401.3	निरुपम-रस
√नास्—432	नाश	**°निवट्ट**—332.1	निवृत्त
नाह—360.1, 390,	नाथ	**√निवड्**—358.2,	निपतिति
423.3		406.1	
नाहिँ—419.6, 422.1	नहिं	**°निवडण°**—444.3	गिरने का भय
√नि—431.1	देखना (क्रिया)	**√निवस्**—422.11	निवास करना
निअंविणि—414.1	नितम्बिनी		(क्रिया)
√निअत्त—395.3	मुक्त होना	**°निवह**—357.1	समूह
	(क्रिया)	**निवाण**—419.3	निर्वाण
निअ-मुह-कर—349.2	निज-मुख-कर	**निवारण**--395.7	निवारण
निअय-धण—441.1	निज-धन	**°निवास**—350.1	निवास
निअय-बल—354.2	निज-बल	**√निव्वह्**—360.2	निर्वाह
निअय-सर—344.2	अपना बाण	**निसंक**—396.1,401.2	निःशंक
निग्गय—331	निकला (क्रिया)	**निसिअ**—330.4	तीक्ष्ण
निग्घिण—383.2	निर्घृण	**√निहाल्**—376.1	देखना (क्रिया)
निच्चट्ट--422.7	गाढ़	**°निहि**—414.1	निधि
निच्चल—436	निश्चल	**निहित्त**—395.2	रखना
निच्चिंत—422.20	निश्चिंत	**निहुअ**—401.4	निभृत

नीसर्—439.4 निकलना (क्रिया)
नीसावँण्णु—341.1 निःसामान्य
नीसास—430.3 निश्वास
नेह—332.1, 356, 406.2, 422.6, 8, 426.1, स्नेह

प

पइट्ठ—330.3, 343.1, 432, 444.5 प्रविष्ट
√पइस्—396.4 प्रवेश
पओहर—395.5,420.4 पयोधर
°पंकय—357.2 पंकज
पंगण—420.4 प्रांगण
पंच—422.14 पाँच
पंथ—429.1 पंथ
पंथिअ—429.1 पथिक
पक्क-फल—340.1 पक्व-फल
पक्खावडिअ—401.4 पक्षापतित
पग्गिम्व—414.4 प्रायः
पच्चल्लिउ—420.5 प्रत्युत
पच्छइ—362 पश्चात
पच्छायाव—424 पश्चाताप
पच्छि—388 पीछे (पश्चात)
पच्छित्त—428 प्रायश्चित
पज्जत—365.2 पर्याप्त
पट्टण-गाम—407.1 पट्टण-ग्राम
पट्ठि—329 पृष्ठ
√पठाव्—422.7 प्रस्थापित करना (क्रिया)
√पड्—337, 388, 422.4, 18, 20, गिरना (पत) (क्रिया)
पडह—443 पटह
√पडिपेक्ख—349.1 प्रतिप्रेक्ष्य
पडिविंबिअ-मुंजाल—439.3 प्रतिबिम्बित-मुंजवत
√पडिहा—441.1 प्रतिभा
√पठ्—394 पढ़ना (क्रिया)
पणट्ठ—418.8 प्रनष्ट
पणय—446 प्रणय
पत्त—370.1 पत्र
°पत्तल—387.2 पत्तल
°पत्थर—344.2 पत्थर
पन्न—427.1 पर्ण
पफुल्लिअ—396.5 प्रफुल्लित
पभट्ठ—436 प्रभ्रष्ट
पमाण—399.1, 438.3 प्रमाण
पम्हुट्ठ—396.3 विलुप्त
पय—395.3, 406.1, 414.2, 420.3, 422.1 पद
√पयंप्—422.10 कहना (क्रिया)
√पयट्ट—347.2 प्रवर्तित होना (क्रिया)
पयड—338 प्रकट
पय-रक्ख-समाण—418.3 पदाति-रक्षक के समान
पयार—365.5 प्रकार

√**पयास्**—357.1	प्रकाश करना (क्रिया)	**पवासुअ**—395.4	प्रवासी
		पवाँण—419.3	प्रमाण
°**पयास**—396.5	प्रकाश	√**पवीस्**—444..4	प्रवेश करना (क्रिया)
°**पर**—335, 338, 354.2, 366.1, 379.2, 395.7, 396.3, 406.2, 414.3, 420.3, 422.3, 438.1,3,441.1	परन्तु	**पसरिअ**—354.2	प्रसृत (फैला हुआ)
		°**पसाय**—430.3	प्रसाद
		°**पहाव**—341.3	प्रभाव
परमत्थ—422.9	परमार्थ	**पहिअ**—376.2, 415.1, 429.1, 431.1, 445.2	पथिक
परम-पय—414.1,422.1	परम-पद		
पराय—350.2, 376.2	परकीया	√**पहुच्च**—390, 419.1	प्रभूत (होना-क्रिया)
√**पराव्**—442.1	प्राप्त करना (क्रिया)	**पाडिअ**—420.4	पातित (गिराया)
परिअत्त—395.3	परिवृत्त	**पाणिअ**—396.4, 418.7, 434.1	पानी
परिविट्ठ—409	परिविष्ट		
परिहविय-तणु—401.2	परिभूत-तनु	**पाय**—445.3	पाद
परिहण—341.2	परिधान	**पारक्क**—379.3	परकीय, दूसरा
√**परिहर्**—334.1, 389.1	परिहार करना (क्रिया)	√**पाल्**—441.2	पालन करना (क्रिया)
परिहास—425.1	परिहास	√**पाव्**—366.1, 387.1, 396.4	प्राप्त करना (क्रिया)
परोक्ख—418.1	परोक्ष	°**पि**—391.1	भी
पल—395.7	पल	√**पिअ**—383.1, 401.3, 419.1, 6, 422.20, 423.2	प्रिय
पलुट्ट—422.6	व्याकुल		
√**पल्लव्**—420.3	रोकना (क्रिया)		
पल्लव—336.1, 418.6	पल्लव		
√**पवस्**—333, 342, 419.5, 422.12	प्रवास करना (क्रिया)	**पिअ**—332.2, 343.2, 352, 354.2, 365.1,	प्रिय

367.1, 370.2,
383.1, 396.2, 4,
401.3, 4, 414.4,
418.3, 4, 8, 419.3,
422.12, 423.2, 424,
425.1, 432, 434.1

पिअ-पब्भट्ट—436 प्रिय प्रभ्रष्ट
पिअ-माणुस-विच्छोह-गर—396.1 प्रिय-मानुस-विक्षोभ कर
पिअ-वयण—350.1 वचन
पिआस—434.1 पिपासा
पिट्ठि—329 पृष्ठ
पीअ—439.3 पीया (क्रिया)
√पीड़—385.1 पीड़ा
√पुच्छ्—364, 422.9, पूछना
पुट्ठि—329 पृष्ठ
पुणु—343.1, 349.1, पुनः
358.2, 370.1, 383.1,
391.2, 422.9, 15,
425.1, 426.1 428,
438.3, 439.1, 445.4
पुत्त—395.6 पुत्र
पुत्ति—330.3 पुत्री
पुप्फवई—438.3 पुष्पवती
पुरिस—400.1, 422.2 पुरुष
°**पूरय**—422.18 पूर्ण करना (क्रिया)
°**पूरिअ**—383.1 पूरित. भरना (क्रिया)
√पेक्ख—340.2, 419.6, 430.3, 444.4 प्रेक्ष्य (देखना)
√पेच्छ्—348.2, 363, 369 देखना (क्रिया)
पेम्म—395.3 प्रेम
पेम्म-द्दह—423.1 प्रेम-हृद
प्फल—445.4 फल
प्रंगण—360.1 प्रांगण
प्रमाणिअ—422.1 प्रमाणित
प्रयावदी—404.1 प्रजापति
√प्रस्स्—393. देखना (क्रिया)
प्राइव—414.2 प्रायः
प्राइँम्व—414.3 प्रायः
प्राउ—414.1 प्रायः
प्रिअ—379.3, 387.3, प्रिय
418.1, 420.3, 438.1
प्रिअ-विरहिअ—377.1 प्रिय-विरहित

फ

फल—335, 336.1, फल
340.1, 341.1.2
√फिट्ट—370.1, 406.2 नष्ट कर
√फुक्क—422.3 फूंकना (क्रिया)
√फुट्ट—357.2, 422.12 फूटना
फुट्ट—352 फूटना
फुट्टण—422.23 फटा हुआ

√**फुल्ल**—387.2 फूलना
√**फेड्**—358.1 बर्बाद करना
√**फोड्**—350.2 तोड़ना

ब

बइट्ठ—444.5 बैठना
बइल्ल—412.2 मूर्ख
°**बईस**—423.4 बैठना
°**बंध**—382 बंधन
बद्ध—399.2 बंधा
बप्पीक—395.6 बाप का
बप्पीह—383.1.2 पपीहा
बप्पुड—387.3 बराक, बदमाश
बम्भ—412.2 ब्राह्मण
बरिहिण—422.8 मोर
√**बल्**—416.1 जलना (क्रिया)
बल—354.2, 430.3, 440 शक्ति
बलि-अब्भत्थण—384.1 बलि की अभ्यर्थना
बलिका—338, 389.1, 445.3 निवछावर
बलिराय—402, बलि-राज
बहिणि—351 बहिन
बहिणु—422.14 भगिनी
बहु—376.1 बहुत
बहुअ-जण—371 बहुत जन
°**बहुल**—387.2 बहुल
बार—436 बार
बाल—350.2, 422.1 बाला
बालिअ—418.7 दग्ध
बाह—329, 439.4 बाहु
बाहा—329 बाहु
बाह-सलिल-संसित—395.2 बाष्प-सलिल-संसिक्त
बाहु—329 बाहु
बाहु-बल—430.3 बाहु-बल
बि—365.5, 383.1, 418.1 भी
बिंबाहर—401.3 बिम्बाधर
बिट्टीअ—330.3 बेटी
√**बुड्ड**—415,423.1 बूड़ना (क्रिया)
बुद्धी—422.14, 424 बुद्धि
बे—370.3, 379.2, 395.3, 439.1, 3 दो
बोड्डिअ—335 कौड़ी
√**बोल्ल्**—360.2, 383.2, 422.12 बोलना
बोल्लणय—443 वक्ता
°**ब्भुअ**—444.3 भुजा
√**ब्रुव्**—391.1 बोलना (क्रिया)
ब्रों—391.2 बोलना (क्रिया)

भ

भंगि—339 भग्न
भंड—422.12 निर्लज्ज

भंति—365.1,416.1 भ्रान्ति

भग्ग—351, 354.2, 379.3, 386.1 भागना (क्रिया)

√भज्ज्—395.5 भग्न

भड—420.5 भट (सैनिक)

भड्ड-गड-निवह—357.1 भट-घटा-समूह

√भण्—330.3, 367.4, 370.3, 367.1, 383.1, 399.1, 404.1.4, 402, 425.1 कहना (क्रिया)

भत्त—422.10 भक्त

भद्दवय—357.2 भाद्रपद

भम्—418.6, 422.3 घूमना (क्रिया)

भमर—368, 387.2, 397, भ्रमर

भमर-डल-तुलिअ—382 भ्रमर-कुल-तुलित

°भमिर—422.15 भ्रमणशील

°भय—440, 444.3 भय

°भयंकर—331 भयंकर

भर—340.2, 371, 421.1 भार

भरिअ—383.2, 444.4 भरित (भरा हुआ)

भलि—353 निर्बंध

भल्ल—351 भला

भल्लि—330.3 बर्छी

√भव्वँ—401.2 भ्रम, घूमना (क्रिया)

भवँर—397 भ्रमर

भसणय—443 बोलना

भसल—444.5 भ्रमर

भाई-रहि—347.2 भागीरथी

भारह-खंभ—399.2 भारत-स्तम्भ

भारहि—347.2 भारती

√भाव्°—420.4 अच्छा लगना (क्रिया)

भिच्च—334.1, 341.2 भृत्य

भुअ-जुअल—414.1 भुज-युगल

√भुंज्—335, 441.1 खाना

भुँडही—395.6 भूमि

भंवण—441.2 घूमना (क्रिया)

भुवण-भंयकर—331 भुवन-भंयकर

भोग—389.1 भोग

भ्रंती—414.2 भ्रान्ति

भ्रंत्रि—360.1 भ्रान्ति, भ्रमण

म

म—346,355.2,368.3, 384.1, 387.1, 388, 418.7, 420.3, 422.1 नहीं

√मडलिअ—365.1 मुकुलित

मं—385.1 निषेध

मंजिट्ठ—438.2 मंजिष्ठा (रंग)

°मंडल°—349.1,372.1 मंडल

मक्कड-घुग्घि—423.3	बनर-घुड़की
√मग्ग—384.1	मांगना (क्रिया)
मग्ग—347.2, 357.1, 431.1	मार्ग
मग्गण—402	मांगने वाला
मग्गसि—357.2	मार्ग शीर्ष
मच्छ—370.2	मत्स्य
°मच्छर°—444.4	मत्सर
√मज्ज्—339	डूबना
°मज्झ्—350.1, 406.3, 444.5	मध्य
मण—350.1, 401.4, 422.9, 15, 441.1	मन
मणाउ—418.8, 426.1	थोड़ा
मणि—414.2, 423.4	मणी
मणोरह—388, 401.1, 414.4	मनोरथ
मणोरह-ठाण—362	मनोरथ-स्थान
°मत्त—345, 383.3	मत्त
मदि—372.2	मति
मब्भीस—422.16	मत डर
मयगल—406.1	हाथी
मयण—397	मदन
मयरद्धय-दडवड—422.18	मकरध्वजाव-स्कन्द
मयरहर—422.8	मकर गृह (सागर)
√मर्—368, 420.5, 438.1, 439.1	मरना (क्रिया)
मरगय-कंति—349.2	मरकर-कान्ति
मरट्ठ—422.7	गर्व
मरण—418.4	मरण
मल्ल-जुज्झ—382	मल्ल-युद्ध
√मह्—353	चाहना (क्रिया)
महदुम—336.1, 445.4	महाद्रुम
महव्वय—440	महाव्रत
°महा°—444.3	महान
महार—351, 358.1	मेरा
महा-रिसि—399.1	महान-ऋषि
महि—352	मही
महिअल-सत्थर—357.2	महीतल-स्रस्तर
महिमंडल—372.2	मही-मंडल
महुमहण—384.1	मधु-मथन
मा—330.2, 3, 418.3, 350.1, 422.10	नहीं
√माण्—388	मानना (क्रिया)
माण—330.2, 387.1, 396.2, 418.3	मान
माणुस—341.1, 396.1	मानुष
माय—399.1	माता
मार—330.3,337,439.1	कामदेव
मारणय—443	मारने वाला
मारिअ—351, 379.3	मारित (मारा)

मालइ—368 मालती
माह—357.2 माघ
मिअंक—377.1,396.1, 401.2 मृगांक
मित्त—422.1 मित्र
√मिल्—332.1.2,382, 434.1 मिलना (क्रिया)
मुअ—395.6, 419.5, 442.1, 2 मृत
मुंज—439.4 मुंज (नाम)
°मुंजाल—439.3 मुंजवत्
मुंड-माल—446 मुड़ माल
मुंडिय—389.1 मुंडित
मुक्क—370.1 मुक्त
मुग्ग—409 मुद्ग (मूंग)
मुणालिय—444.2 मृणाली
मुणि—341.2, 414.2 मुनि
मुणिअ—346 जाना
मुणीसिम—330.4 मनुष्यत्व
मुद्द—401.3 मुद्रा
मुद्ध—349.1, 350.1, 357.2, 376.1, 395.2, 423.4 मुग्धा
मुद्ध-सहाव—422.23 मुग्ध-स्वभाव
°मुह°—349.1, 367.1, 401.2, 422.20, 444.4 मुख
°मुह०-कबरिबंध—382 मुख-कबरी बंध
मुह-कमल—332.2 395.1, 414.1 मुख कमल
मुह-पंकय—357.2 मुख पंकज
मूल—427.1 मूल
√मेल्—429.1 मिलाना (क्रिया)
√मेल्ल्—341.1 353, 370.4, 387.1, 430.3 छोड़ना (क्रिया)
मेह—365.5, 395.4, 418.7, 419.6, 422.8 मेघ
मोक्कल—366.1 मुक्त
√मोड्—445.4 तोड़ना (क्रिया)

य

य—396.3 और (च)

र

रइवस-भमिर—422.15 रतिवश-भ्रमण-शील
√रक्ख्—350.2, 439.3, रखना (क्रिया)
°रक्ख्°—418.3 रक्षक
√रच्च्—422.23 खुश होना, रंगना, (क्रिया)
रड्—445.2 रटना (क्रिया)
रण—360.1 रण
रण-गय—370.3 रण-गया
रण-दुब्भिक्ख—386.1 रण-दुर्भिक्ष
रण्ण—341.1, 368 अरण्य
रत्त—438.2 रक्त
रत्ती—330.2 रात्रि

रदि—446 रति
रयण—334.1 रत्न
रयणनिहि—422.3 रत्न-निधि
रयण-वण—401.3 रदन-व्रण
रयणी—401.1 रजनी
रवण्ण—422.11 रम्य
रवि-अत्थमण—444.2 रवि-अस्तमन
°रस—401.3 रस
रहवर—331 रथवर
°राम—407.1 राम
°राय—350.1, 402 राज
रावण-राम—407.1 रावण-राम
राह-पओहर—420.4 राधा-पयोधर
राही—422.6 राधिका
°राहु—382, 396.1 राहु
रिउ—376.1, 395.3 रिपु
रिउ-रुहिर—416.1 रिपु-रुधिर
रिद्धि—418.8 ऋद्धि
°रिसि—399.1 ऋषि
√रुअ—383.1, 4 रोना
√रुच्च्—341.1 रोचना (क्रिया)
रुट्ट—414.4 रुष्ट
√रुण झुण्—368 रुण झुण (ध्वनि)
रुद्ध—422.14 रुद्ध (रूका)
°रुहिर—416.1 रुधिर
रुअ—419.1, 422.15 रूपक
√रुस्—358.1, 414.4, 418.4 रूसना (क्रिया)
रुसण—418.4 रूसना (क्रिया)
रेसि—425.1 के लिये
रेसि—425.4 के लिए
°रेह—330.1, 354.2 रेखा
°रोमावलि—350.1 रोमावली
°रोस—439.4 क्रोध

ल

लक्ख—332.1, 335 लक्ष
√लग्ग्—339, 420.5, 422.7 लगना (क्रिया)
लग्ग—445.2 लगा
लच्छि—436 लक्ष्मी
√लज्ज्—351, 419.5 लजाना (क्रिया)
°लज्ज—430.3 लज्जा
√लब्भ्—419.3 पाना (क्रिया)
लय—414.2 लय
√लह्—335, 341.2, 367.4, 383.2, 386.1, 395.1, 414.2 पाना (क्रिया)
लहुई हूअ—384.1 लध्वी भूत
√लाय्—331, 376.2 लगाना (क्रिया)
°लायण्ण—414.1 लावण्य
°लालस—401.1 लालसा
लाह—390 लाभ
लिम्बड—387.2 नीम

लिह–329	लेखा	**वक्कल**–341.2	वल्कल
लिहिअ–335	लिखित	**वग्ग**–330.4	लगाम
लीह–329	लेखा	**वच्छ**–336.1,2	वृक्ष
लुक्क–401.2,	लुकना, छिपना (क्रिया)	√**वज्ज्**–336.1, 406.1	वर्जन (रोकना)
		वज्जणय–443	बोलना (क्रिया)
√**ले**–370.3, 387.3, 395.1, 440, 441.2	ग्रहण करना (क्रिया)	**वज्जम**–395.5	वज्रमय
		वडवानल–365.2, 419.6	बड़वानल
लेख–422.7	लेख	**वड्ड**–364, 366.1, 367.3, 384.1	महत्व
लेह–329	लेखा		
लोअ–350.2, 365.1, 366.1, 420.4, 422.22, 438.2, 442.2, 443	लोक	**वढ़**–362, 402, 422.4, 11,	मूर्ख
		√**वण्ण्**–345	वर्णन करना (क्रिया)
लोअडी–423.4	लोमपटी		
लोअण–344.2, 356, 365.1, 414.1	लोचन	**वण**–340.1, 357.2, 422.11	वन
लोण–418.7, 444.4	लवण	**°वण**–401.3	व्रण
लोह–422.23	लोभ	**वण-वास**–396.5	वन-वास
ल्हसिअ–445.3	गिरना	**°वण्ण**–330.1	वर्ण
व		**वत्त**–432	वार्ता
व–436	ऐसे	**वद्दल**–401.2	बादल
वंक–330.3, 356, 412.2	वक्र	**वम्मह**–344.2, 350.1,	मन्मथ
वंकिम–344.2	टेढ़ा	**वयंसिअ**–351	वयस्या
वंकुड–418.8	वक्र (वांकुरा)	**°वयण**–340.1, 350.1, 367.1, 396.5	वचन
वंचयर–412.2	वंचतर		
√**वंद**–423.3	वंदना करना (क्रिया)	**वर-तरु**–370.1	वर-तरु
		वरि–340.1	वर (श्रेष्ठ)
°वंस–419.2	वंश		

वरिस-सय—332.1, 418.4 वर्ष-शत (सौ)

√वल्—386.1, 422.18 शक्ति होना (क्रिया)

वलण—422.2 बलन

वलय—352 वलय

वलया वलि-निवडण-भय—443.3 वलयावलि-निपतन-भय

वल्लह—358.2, 383.1, 426.1 वल्लभ

वल्लह-विरह-महादह—444.3 बल्लभ-विरह-महाह्रद

ववसाय—385.1 व्यवसाय

√वस्—339 वास करना (क्रिया)

°वस—390 वश

√वसिकर्—427.1 वश में करना

√वह्—401.1 बहना (क्रिया)

वहिल्ल—422.1 शीघ्र

°वहु—401.1 बहुत

वाणारसि—442.1 बनारस

वाय—343.1 वात (हवा)

वायस—352 कौआ

°वार—356, 383.2 422.12 न्यौछावर करना (क्रिया)

वार-इ-वार—383.2 बार-बार

वारिअ—330.2, 438.3 रोका

√वाल्—330.4 खींचना, धारण करना

वास—399.2 व्यास

वासारत्त—395.4 वर्षा-रात्रि

वाहिअ—365.3 प्राप्त किया

वि—330.4,332.1, 334.1, 335, 336.1, 337, 339, 340.1, 341.1, 2, 343.2, 349.1, 353, 356, 358.1, 2, 365.2, 366, 367.5, 370, 379.2, 377.1, 383.1, 3, 387.2, 389.1, 395.1, 7, 401.2, 402, 404.1, 406.3, 412.2, 414.2, 415.1, 418.1, 419.6, 420.5, 422.1, 4, 6, 8, 14, 22, 423.4, 432, 436, 438, 441,.2, 445.3,4 अपि (भी)

विआल—377.1, 424 संध्याकाल

विइण्ण—444.2 वितीर्ण

विओअ—368, 419.5 वियोग

विगुत्त—421.1 हतोत्साह

विच्च—350.1 मध्य

°विच्छोह°—396.1 विक्षोभ

√विछोड्—439.4 छुड़ाना (क्रिया)

विहट्टाल—422.3 अस्पृश्य संसर्ग
विढत्त—422.4 अर्जित
विणट्ठ—427.1 विनष्ट
√विणड्—370.2, 385.1 व्याकुल करना (क्रिया)
विणास—424 विनाश
विणिज्जिअ—396.5 विनिर्जित
विणिम्मविद—446 विशिष्ट निर्माण
विणु—357.3, 386.1, 421.1, 441.2 विना
वित्थार—395.7 विस्तार
√विद्दव्—419.1 देना (क्रिया)
विन्नासिअ—418.1 विनाशित
विण्णिअ-नाव—423.1 अपराधरूपी नौका
विण्णि अयारय—343.2 विप्रिय-कारक
विमल-जल—383.2 विमल-जल
विम्हय—420.4 विस्मय
विरल—412.2 विरल (बहुत कम)
विरल-पहाव—341.3 विरल-प्रभाव
विरह—423.3, 432, 444.3 विरह
विरहाणल-जाल-करालिअ—415.1, 429.1 विरहानल-ज्वाल पीडित
°विरहिअ—377.1 विरहित
√विलंब्—387.2 विलंब
विलग्ग—445.3 विलग्न (लगा)
विन्नासिणी—348.2 विनाशिनी
√विलि—418.7 विलीन होना (क्रिया)
विवइ—400.2 विपद
विवरेर—424 विपरीत
विसंठुल—436 विह्वल
विस-गंठि—420.5 विष-गांठ
विसम—350.2, 395.4, 406.3 विषम
विस-हारिणि—439.3 पनीहारी
विसाय—385.1 विषाद
°विसाहिअ—386.1 सिद्ध किया गया
विसिट्ठ—358.2 विशिष्ट
√विसूर्—340.2,422.2 विसूरना भूलना (क्रिया)
विहलिअ-जण-अब्भुद्धरण—364 विह्वल-जन-उद्धारक
विहव—418.8, 422.7 विभव
√विहस्—365.1 विकसित होना (क्रिया)
विहाण—330.2, 362 विहान
विहि—357.3, 385.1, 414.1 विधि

विहिद–446 विहित
विहि-वस–387.1 विधि-वश
वीण–329 वीणा
वीस–423.4 बीस
√वीसर्–426.1 विस्मरण करना (क्रिया)
√वुज्–392 जाना (क्रिया)
वुत्त–421.1 कहा
वेअ–438.3 वेद
वेग्गल–370.4 दूरस्थ
√वेच्च्–419.1 व्यय करना (क्रिया)
वेण–329 वीणा
वेरिअ–439.1 वैरी गण
वेस–385.1 वेश्या
व्रत–394 व्रत
व्रास–399.1 व्यास
√व्वय–440 व्रत

स

स–332.1 वह
सइँ–339, 402 स्वयं
सउण–445.4 शकुन, पक्षी
सउणि–340.1, 391.2 शकुनि
संकड–395.4 संकट
°संकर–331 शंकर
संख–422.3 शंख
संग–434.1 संग
°संगम–418.1 संगम
संगर-सय–345 संग्राम-शत
√संचि–422.4 संचय
संत–389.1 संत
संति–441.2 शान्ति
संदेस–419.5, 434.1 संदेश
°संधि–430.3 संधि
सम्पइ–372.2, 385.1, 400.2 सम्पत्ति
संपडिअ–423.1 संपतित (गिरा)
संपय–335 सम्पत्
संपेसिअ–414.3 संप्रेषित
°संभव–395.3 संभव
°संमुह–395.5, 414.3 संमुख
√संवर्–422.6 रोकना (क्रिया)
संवलिअ–349.2 संवलित (युक्त)
°संसित्त–395.2 संसिक्त, भींग,
स-कण्ण–330.3 सकर्ण (तिरछा)
√सक्क–422.6,441.2 समर्थ होना (क्रिया)
सज्जण–422.8, 22, सज्जन
सज्झ–370.4 साध्य
सत्थ–358.1 स्वस्थ
°सत्थ–399.1 शास्त्र

°सत्थर—357.2 अस्तर

सत्थावत्थ—396.2, 422.22 स्वस्थावस्था

स-दोस—401.4 स-दोष

सबध—396.3 शपथ

सभल—396.3 सफल

°सम—358.2 समान

समत्त—332.2, 406.1 समाप्त

√समप्प्—401.1,422.4 समाप्त करना (क्रिया)

समरंगण—395.5 समरांगण

समर-भर—371 समर-भर, संग्राम भर

समाउल—444.2 समाकुल

समाण—418.3,438.3 समान

√संमाण्—334.1 सम्मान करना (क्रिया)

°सय—332.1, 357.3, 418.4 शत

सयल—441.2 सकल

सय-वार—356,422.12 शत-वार

सर—344.2, 357.1, 414.3 शर, बाण

सर—422.11 रमणीय

सरय—357.2 शरत

सरल—387.1 सरल

सरवर—422.11 सरोवर

सरिसिम—394.1 सदृश

स-रोस—439.4 स-रोष

स-लज्ज—430.3 लज्जा सहित

°सलिल°—395.2 सलिल

सलोण—444.4 सलावण्य

सल्लइ—387.1,422.9 सल्लकी

सव्व—366.2, 429.1, 438.2 सब

°सव्वंग—348.2,396.4 सर्वाङ्ग

सव्वंग-छइल्ल—412.1 सर्वांग—छैल

सव्वायर—422.6 सर्वादर

सव्वासण-रिउ- सर्वासन-रिपु-

संभव—394.3 संभव

ससहर—422.8 शशधर

ससि—395.1, 418.8 शशि

ससि-मंडल-चंदिम—349.1 शशि-मंडल-चन्द्रिका

ससि-राहु—382 शशि-राहु

ससि-रेह—354.2 शशि-रेखा

√सह्—382, 422.23, 438.2 शोभना (क्रिया)

सह—339 साथ

सहस-त्ति—352 सहसा-इति

°सहाव—422.23	स्वभाव
सहि—332.1, 358.1, 367.1, 379.3, 390, 401.4, 414.3 444.5	सखि
सहुँ—356, 419.5	साथ
°सामन्न—418.8	सामान्य
सामल—330.1	श्यामल
सामि—334.1, 340.2, 341.2, 409, 422.10	स्वामि
सामि-पसाय—430.3	स्वामि-प्रसाद
सायर—334.1, 383.2, 395.7, 419.6	सागर
सार—365.3, 195.7, 422.12	सार
सारस—370.4	सारस
°सारिक्ख—404.1	सादृश्य
सावण—357.2	श्रावण
साव-सलोण—420.5	सर्व-सलावण्य
सावँलि—344.2	श्यामला
सास—387.1	श्वास
सासानल-जाल-झलक्किअ—195.2	श्वासानल-ज्वाल-झलक्कित
साह—366.1, 422.22	साध, सभी
°सिंग—337	श्रृंग
√सिक्ख्—344.2, 372.2	शिक्षा देना (क्रिया)
सिक्ख—404.1	शिक्षा
सिद्धत्थ—423.3	सिद्धार्थ
सिम्भ—412.1	श्लेष्म
सिर—367.4, 423.4, 445.3, 4,	शिर
सिरि-आणंद—401.3	श्री-आनन्द
सिल—337	शिला
सिलायल—341.1	शिलातल
सिव—440	शिव
सिव-तित्थ—442.2	शिव-तीर्थ
सिसिर-काल—415.1	शिशिर-काल
सिसिर—357.2	शिशिर
सिह-कटण—438.2	शिखि-क्वथन
सीअल—343.1	शीतल
सीअल-जल—415.1	शीतल-जल
सीमा-संधि—430.3	सीमा-संधि
सील-कलंकिअ—428	शील-कलंकित
सीस—389.1, 446	शीस
सीह—418.3	सिंह
सीह-चवेड-चडक्क—406.1	सिंह-चपेट-प्रहार
√सुअ—376.2	सोना (क्रिया)
√सुअ—432	श्रुत

सुअण—336.1, 338, 406.3, 422.11 सुजन

सुइणंतर—434.1 स्वप्नान्तर

सुइ-सत्थ—399.1 श्रुति-शास्त्र

सुंदर-सव्वंग—148.2 सुंदर-सर्वांग

सुकिअ—329 सुकृत

सुकिद—329 सुकृत

सुकृद—329 सुकृत

√सुक्क्—427.1 शुष्क

सुक्ख—340.1 सुख

सुघ—396.2 सुख

सुट्ठु—422.6 सुष्ठु

सुणह—443 श्वा, कुत्ता

सुपुरिस—367.4,422.2 सुपुरूष

सु-भिच्च—334.1 सुभृत्य

√सुमर्—387.1, 426.1 स्मरण करना (क्रिया)

सुमरण—426.1 स्मरण

सुरथ—332.2 सुरत

सु-वंस—419.2 सु-वंश

सुवण्ण-रेह—330.1 सुवर्ण-रेखा

सुह—370.3, 441.1 सुख

सुहच्छि (च्छी)—376.2, 423.2 सुखासिका

सुहच्छी-तिलवण—357.2 सुखासिका-तिलवन

सुहय-जण—419.5 सुभगजन

सुहासिय—391.1 सुभाषित

√सेव्—396.5 सेवा करना (क्रिया)

सेस—401.3, 440 शेष

सेहर—446 शेखर

√सो—438.3 वह

सोक्ख—332.1 सौख्य

सोम-ग्गहण—396.1 सोम-ग्रहण

√सोह्—444.5 शोभना (क्रिया)

√सोस्—365.2 सोखना (क्रिया)

[redacted]

हउँ—330.2, 333, 338, 340.2, 346, 356, 367.1, 370.2, 3, 4, 377, 379, 383.1, 389, 391.2, 395.5, 396.3, 401.4, 402, 414.4, 416.1, 418, 1, 3, 8, 420.3, 421.1, 422.1, 12, 423.1, 3, 425.1, 438, 439.4, मैं

√हण्—418.3 मारना (क्रिया)

हत्थ—358.1, 366.1, 422.9, 439.1, 445.3 हाथ

हत्थि—443 हाथी

हय-विहि—357.3 हत-विधि

हयास—383.1 हताश

√हराव्—409 हराना (क्रिया)

हरि—391.2, 420.4, 422.6 हरि

हरिण—422.20 हरिण

हलि—332.2, 358.1 सखी

हल्लोहल—396.2 व्याकुल

√हस्—383.3, 396.1 हसना (क्रिया)

°हारिणि—439.3 ढोना

हास—350.1 हास्य

हिअ—330.3, 350.2, 357.3, 370.2, 395.4, 420.3, 422.2, 12, 23, 439.1 हृदय

हिअय-ट्ठिअ—439.4 हृदय-स्थित

°हु—390 होना (क्रिया)

हुअ—351 हुआ

हुंकार—422.20 हुंकार

हुहुरु—423.1 हुहुरु शब्द ध्वनि

हेल्लि—379.2 हे सखी!

√हो—330.2, 343.1, 362, 367.1, 370.1, 377.1, 388, 401.1, 402, 406.2, 418.4, 420.4, 422.8, 11, 423.2, 424, 438.2 होना (क्रिया)

होन्तउ—355, 372, 373.1, 379.1, 380.1 आप

प्रमुख सन्दर्भ-ग्रन्थ

ग्रंथों के विस्तृत विवरण पाद-टिप्पणियों में यथास्थान दिये गये हैं। यहाँ केवल सूची दी जा रही है।

संस्कृत

अपभ्रंश काव्यत्रयी	—	एल॰ बी॰ गाँधी	—	बड़ौदा, 1920 ई॰
अष्टाध्यायी	—	पाणिनि		
अशोक की धर्मलिपियाँ	—	—	—	ना॰ प्र॰ स॰ काशी, 1980
काव्य मीमांसा	—	राजशेखर	—	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
काव्यादर्श	—	दण्डी	—	—
काव्यानुशासन	—	हेमचन्द्र	—	—
काव्यालंकार	—	रूद्रट	—	—
काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	—	वामन	—	वाणी विलास सिरीज, श्री रंगम् 1909
काशिका	—	जयादित्य वामन	—	वाराणसी,
जैन शिलालेख संग्रह	—	हीरालाल जैन	—	—
दशरूपक	—	धनञ्जय	—	निर्णय सागर प्रेस बंबई 1941
धातु-पाठ	—	—	—	स्वामी दयानन्द प्रकाशन, अजमेर
नाट्य-दर्पण	—	गुण चन्द्र	—	बड़ौदा

नाट्य-शास्त्र	—	भरत मुनि	—	—
निरुक्त	—	यास्क	—	पुष्करणी टीका,
पुरातन प्रबंध संग्रह	—	संपा॰ जिनविजय	—	सिंधी, जैन-ग्रंथमाला।
प्रबंध चिंतामणि	——	संपा॰ मुनि जिनविजय	—	शांति निकेतन 1981 वि॰
महाभाष्य	—	पतञ्जलि	—	—
वाक्यपदीय	—	भर्तृहरि	—	—
सरस्वती कण्ठाभरण	—	संपादक मुनि जिनविजय	—	—
साहित्यदर्पण	—	कविराज विश्वनाथ	—	—

प्राकृत

अभिनव प्राकृत-व्याकरण	—	डॉ॰ नेमिचन्द्र शास्त्री	—	वाराणसी, 1963 ई॰
आगड दत्तो	—	संपा॰ पी॰ एल॰ वैद्य	—	—
उवास गदसाओ	—	संपा॰ ए॰ एन॰ गोरे	—	—
कर्पूरमंजरी	—	संपा॰ मनमोहन घोष	—	कलकत्ता, 1948 ई॰
कुवलय माला (प्रथम भाग)	—	डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये	—	बम्बई, वि॰ सं॰ 2015
कंसवहो	—	राम पणिवाद	—	संपा॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये
णय कुमार चरिउ	—	संपा॰ मोदी और भयाणी	—	बंबई 1948 ई॰
तिलोय पण्णत्ती- (त्रिलोक प्रशप्ति–भाग-2)	—	वृषभाचार्य– संपा॰ हीरालाल जैन तथा ए॰ एन॰ उपाध्ये	—	—
देशी नाममाला	—	हेमचन्द्र-संपा॰ पिशेल अनु॰ परवस्तु वेंकट रामानुज स्वामी	—	पूना 1938

दोहाकोश	—	संपा॰ पं॰ राहुल सांकृत्यायन	—	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
पउम चरिउ	—	स्वंयभू संपा॰ हरि॰ भयाणी	—	बम्बई 1961 ई॰
पउम सिरि चरिउ	—	संपा॰ मोदी और भयाणी	—	बम्बई 1961 ई॰
परमात्म प्रकाश और योगसार	—	संपा॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये	—	बम्बई 1937
पाइय लच्छी नाममाला	—	धनपाल, संपा॰ विक्रमविजय	—	—
पाली प्राकृत व्याकरण	—	पं॰ मथुरा प्रसाद दीक्षित		
पाहुड़ दोहा	—	संपा॰ डॉ॰ हीरालाल जैन	—	कारंजा 1933 ई॰
प्राकृत कल्पतरू	—	राम शर्मा तर्कवागीश	—	ई॰ ए॰ जिल्द 51
प्राकृत प्रकाश	—	वररुचि, संपा॰ पी॰ एल॰ वैद्य	—	पूना 1931 ई॰
प्राकृत प्रकाश (रामपाणिवाद की वृत्ति सहित)	—	संपा॰ कुंजन राजा	—	मद्रास 1946 ई॰
प्राकृत मणिदीपः	—	अप्पय दीक्षित सं॰ पं॰ टी॰टी॰ श्री निवास गोपालाचार्य	—	—
प्राकृत रूपावतार	—	ई॰ हुल्टज	—	रायल एशियाटिक सोसाइटी, 1909 ई॰
प्राकृत लक्षण	—	चण्ड–संपा॰ हार्नले	—	कलकत्ता 1880 ई॰
प्राकृत लक्षणम्	—	संपा॰ रेवती कान्त भट्टाचार्य	—	कलकत्ता 1923 ई॰

प्राकृत व्याकरण	—	हेमचन्द्र— संपा॰ पी॰ एल वैद्य	—	पूना 1958 ई॰
प्राकृत सर्वस्य	—	मार्कण्डेय	—	—
प्राकृतानुशासन	—	पुरूषोत्तम देव	—	पेरिस 1938 ई॰
प्रचीन गुर्जर काव्य	—	—	—	गायकवाड ओरियन्टल सिरीज नं॰ 13 सं॰ चिम्मनलाल डीदलाल 1936 ई॰
महापुराण (उत्तर पुराण-तृतीय खण्ड)	—	पुष्पदन्त— संपा॰ पी॰ एल॰ वैद्य	—	—
महापुराणम् (आदि पुराण-प्रथम खण्ड)	—	पुष्पदन्त— संपा॰ पी॰ एल वैद्य	—	—
मृच्छकटिक	—	संपा॰ जी॰ के॰ भट्ट		
वसुदेव हिंडि	—	प्र॰ सं॰ व परिशिष्ट संघदास गणिवाचक, संपा॰ चतुरविजय पुण्य विजय		
विवागसुयं	—	वी॰ जे॰ चोकशी, एम॰ सी॰ मोदी		
षड्भाषा चन्द्रिका	—	लक्ष्मीधर, बम्बई	—	सन ई॰ 1916
सावयवधम्म दोहा	—	संपा॰ हीरा लाल जैन	—	सन् 1932

अपभ्रंश

अवहट्ठ और कीर्तिलता	—	डॉ॰ शिव प्रसाद सिंह	—	वाराणसी 1957 ई॰
उक्ति व्यक्ति प्रकरण	—	संपा॰ मुनिजिनविजय परिचय—डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी	—	बम्बई 1953

कथा कोष प्रकरण	—	संपा॰ मुनिजिन विजय	— बम्बई 1949 ई॰
करकंड चरिउ	—	संपा॰ हीरालाल जैन	— कारंजा, बरार 1934 ई॰
कीर्तिलता	—	संपा॰ बाबूराम सक्सेना	— ना॰ प्र॰ सभा काशी वि॰ 2010
जसहर चरिउ	—	संपा॰ डा॰ पी॰ एल॰ वैद्य	— कारंजा, बरार 1931 ई॰
पाइअ सद्द महण्णवो	—	सेठ हरगोविन्द दास	— कलकत्ता संवत् 1985
प्राकृत पैंगलम् (भाग-1)	—	संपा॰ डॉ॰ भोला शंकर व्यास	— वाराणसी 1960 ई॰
बौद्धगान ओ दोहा	—	संपा॰ म॰ म॰ हर प्रसाद शास्त्री	— —
भविसत्त कहा	—	—	— याकोबी संस्करण 1918 ई॰
भविसत्त कहा	—	संपा॰ गुणे और दलाल	— बड़ौदा संस्करण 1923 ई॰
लीलाबाई कहा भूमिका सहित	—	डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाध्ये	— बम्बई
वर्णरत्नाकर	—	संपा॰ एस॰ के॰ चटर्जी	
विक्रमोर्वशीय	—	कलिदास	— वाराणसी
वैराग्य सार	—	सुप्रभाचार्यकृत, संपा॰ प्रो॰ वेलणकर	
सनत कुमार चरित	—	संपा॰ डॉ॰ हरमन याकोबी	— जर्मनी 1921 ई॰
संदेश रासक	—	संपा॰ मुनि जिनविजय तथा हरि॰ भयाणी	— बम्बई 1945
संदेश रासक	—	संपा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी	— 1959 ई॰

हिन्दी

अपभ्रंश दर्पण	— जगन्नाथ राय शर्मा	—	पटना–1955 ई.
अपभ्रंश प्रकाश	— देवेन्द्र कुमार	—	वाराणसी 1954 ई.
अपभ्रंश भाषा	— बाबू सत्यजीवन वर्मा	—	ना. प्र. सभा, काशी
अपभ्रंश साहित्य	— डॉ. हरिवंश कोछड़	—	दिल्ली सं. 2013
जायसी ग्रंथावली	— संपा. पं. रामचन्द्र शुक्ल	—	ना. प्र. सभा, काशी, संवत् 1981
जैनसाहित्य और इतिहास	— नाथू राम प्रेमी	—	बम्बई 1956 ई.
तुलसी ग्रन्थावली	— पं. रामचन्द्र शुक्ल	—	ना. प्र. सभा काशी, संवत् 1981
नाथ-संप्रदाय	— पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी		
पालि महाव्याकरण	— भिक्षु जगदीश कश्यप		
पुरातत्व निबंधावली	— राहुल सांकृत्यायन	—	पटना
पुरानी राजस्थानी	— तेस्सी तोरी, अनु. नामवर सिंह	—	ना. प्र. सभा, काशी, 1950
पुरानी हिन्दी	— चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'	—	ना. प्र. सभा, काशी, संवत् 2005
पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ	— संपा. वासुदेव शरण अग्रवाल		
प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव–	— डॉ. रामसिंह तोमर	—	प्रयाग, 1963 ई.
प्राकृत पैंगलम्–भाषा शास्त्रीय और छन्दः शास्त्रीय अनुशीलन (भाग-2)	— डॉ० भोलाशंकर व्यास	—	वाराणसी 1962 ई०

प्राकृत भाषा	पं बेचरदास	—	वाराणसी 1954 ई॰
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	पिशेल— अनु॰ हेमचन्द्र जोशी	—	पटना 1960 ई॰
प्राकृत साहित्य का इतिहास	डॉ॰ जगदीश चन्द्र जैन	—	वाराणसी 1962 ई॰
बीसलदेव रास	संपा॰ डॉ॰ माता प्रसाद गुप्त	—	हिन्दी परिषद विश्वविद्यालय, प्रयाग 1953 ई॰
भारत का भाषा सर्वेक्षण	डॉ॰ ग्रियर्सन, अनु॰ डा॰ उदय नारायण तिवारी	—	लखनउ 1959 ई॰
भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी	डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी	—	दिल्ली 1954 ई॰
भारतीय कृष्टि का क ख	जयचन्द विद्यालंकार	—	इलाहाबाद 1955 ई॰
भाषा का इतिहास	भगवद्दत्त	—	लाहौर, सन 1927 ई॰
भोजपुरी भाषा और साहित्य	डॉ॰ उदय नारायण तिवारी	—	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1954 ई॰
मध्यप्रदेश और उसकी संस्कृति	डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा		
राजपूताने का इतिहास	दूसरा खण्ड— म॰ म॰ गौरी शंकर हीराचन्द ओझा	—	सन 1925 ई॰
राजस्थानी भाषा	डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी	—	उदयपुर 1949 ई॰
राजस्थानी भाषा और साहित्य	मोतीलाल मेनारिया	—	प्रयाग सं॰ 2006

विद्यापति की पदावलियाँ	—	संपा० रामवृक्ष बेनीपुरी	— लहेरियासराय (द्वितीय संस्करण)
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य	—	डॉ॰ शिव प्रसाद सिंह	— 1958 ई॰
संस्कृत का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन	—	डॉ० भोलाशंकर व्यास	— काशी, 1957 ई॰
संस्कृत साहित्य का-इतिहास	—	ए० बी० कीथ, अनु॰ डॉ॰ मंगल देव शास्त्री	— वाराणसी 1960 ई॰
हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास	—	शमशेर सिंह 'नरूला'	— —
हिन्दी काव्यधारा	—	पं० राहुल सांकृत्यायन	— प्रयाग 1954 ई०
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान	—	डॉ० नामवर सिंह	— प्रयाग 1955 ई०
हिन्दी भाषा-उद्गम और विकास	—	डा० उदय नारायण तिवारी	— भारती भंडार, प्रयाग सं० 1955 ई०
हिन्दी साहित्य	—	पं० हजारी प्र० द्विवेदी	
हिन्दी भाषा का इतिहास	—	डा० धीरेन्द्र वर्मा	— प्रयाग
हिन्दी साहित्य और बिहार	—	शिवपूजन सहाय	— पटना 1960 ई०
हिन्दी साहित्य का अतीत	—	पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	— वाराणसी 1961 ई०
हिन्दी साहित्य का आदिकाल	—	पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी	— पटना 1954 ई०
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	—	डा० रामकुमार वर्मा	— 1954 ई०

हिन्दी साहित्य का इतिहास	—	प्र० रामचन्द्र शुक्ल	— ना० प्र० सभा, काशी, सं० 2007
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास प्र० 1	—	डा० भोलाशंकर व्यास	— ना० प्र० सभा, काशी 1958 ई०
हिन्दी साहित्य की भूमिका	—	पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी	— बम्बई 1940 ई०

गुजराती

अपभ्रंश पाठावली	—	मधुसूदन प्र० मोदी	— अहमदाबाद 1933 ई०
प्राकृत मार्गोपदेशिका	—	पं० बेचरदास	— अहमदाबाद 1947 ई०
प्राचीन गुर्जरकाव्य	—	केशवलाल हर्षद् राय ध्रुव बी० ए०	— अहमदाबाद, सं० 1983 गुजरात
वाग्व्यापार	—	डा० हरिबल्लभ भयाणी, भारतीय विद्याभवन	— बम्बई, 1954 ई०
सिद्धहेमगत अपभ्रंश व्याकरण	—	हरिबल्लभ चु० भयाणी	— बम्बई 1960 ई०

अंग्रेजी

ओन दि इन्डो आर्यन वर्नाक्युलर्स	—	जी० ए० ग्रियर्सन	— —
ओरिजिन एण्ड डेभलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज	—	एस० के चटर्जी	— कलकत्ता 1926 ई०
इन्ट्रोडक्शन टु प्राकृत	—	आल्फ्रेड सी० उलनर	— लाहौर 1927 ई०
ए कम्परेटिव ग्रामर ऑफ दी गॉडियन लैंग्वेज	—	आर० हार्नले	— लंदन 1880 ई०

ए कम्परेटिव ग्रामर आफॅ मोडर्न आर्यन लैंग्वेज ऑफ इण्डिया	—	जे० बीम्स	— लंदन, 1975 ई०
ए ग्रामर आफॅ दी प्राकृत लैंग्वेज	—	दिनेश चन्द्र सरकार	— कलकत्ता 1943 ई०
ए ग्रामर ऑफ हिन्दी लैंग्वेज	—	एस० एच० केलौग	— लंदन 1893 ई०
ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर	—	एच० विन्टरनित्स	— कलकत्ता 1933 ई०
ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	—	(क्लासिकल पीरियड) एस० एन० दासगुप्ता एण्ड एस० के० डे	— कलकत्ता 1957 ई०
ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	—	डा० ए० बी० कीथ	— ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस
कम्परेटिव ग्रामर ऑफ मिडिल इन्डो आर्यन	—	सुकुमार सेन	— पूना 1960 ई०
कीथ ओन अपभ्रंश	—	के० पी० मिश्र	-- (इन्डियन एन्टी०) 1930 ई०
कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया	—		— लंदन,
क्लासिक पोइट्स ऑफ गुजरात	—	जे० एम० त्रिपाठी	— बॉम्बे
गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर	—	के० एम० मुंशी	— बॉम्बे 1954 ई०
गुजराती लैंग्वेज ऐण्ड लिटरेचर	—	एन० वी० दिवातिया	-- बॉम्बे 1921 ई०
ग्रामेटिक डर प्राकृत स्प्राचेन	—	आर० पिशेल	— 1900 ई०

जसहर चरिउ ऑफ पुष्पदन्त	—	पी० एल० वैद्य	—	करंजा 1931 ई०
दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज	—	एच० एल. जैन	—	बम्बई
दि कम्परेटिव प्राकृत ग्रामर	—	वी० जे० चोकशी	—	अहमदाबाद 1941 ई०
दि प्राकृत धातु	—	ग्रियर्सन	—	—
दि लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य	—	डा० ब्युलर—अनु० मणिलाल पटेल	—	बाम्बे
दि लिंगग्विस्टिक स्पेकुलेशंस ऑफ हिन्दूज	—	पी० सी० चक्रवर्ती	—	कलकत्ता
दि रूलिङ चीफ्स ऐण्ड लीडिङ पर्सोनेजेज इन राजपूनाना (भाग-6)				
देशी नाममाला ऑफ हेमचन्द्र	—	मुरलीधर बनर्जी	—	कलकत्ता—1931 ई०
पउम चरिउ ऑफ स्वयंभू	—	एच० सी० भयाणी	—	एस० जे० एस० बाम्बे, 1953 ई०
प्राकृत ग्रामर ऑफ त्रिविक्रम	—	संपा० पी० एल० वैद्य	—	शोलापुर, 1954 ई०
प्राकृत प्रकाश ऑफ वररूचि	—	संपा० पी० एल० वैद्य	—	—
प्राकृत लैंग्वेज एण्ड देयर कन्ट्रीब्यूसन टु इंडियन कल्चर	—	एस० एम० कात्रे	—	बाम्बे 1945 ई०
प्रिफेस टु मृच्छकटिक	—	जी० के० भट	—	—

प्री आर्यन ऐण्ड प्री द्रवेडियन (इन्ट्रोडक्शन)	—	डा० बागची	—	—
भविसत्त कहा	—	हर्मन जैकोबी	—	—
भविसयत्त कहा ऑफ धनपाल	—	पी० डी० गुणे जी० ओ० एस० बड़ौदा	—	1923 ई०
माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर	—	के० एम० झवेरी	—	बाम्बे, 1914 ई०
लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टु संस्कृत	—	श्री बटेकृष्ण घोष	—	कलकत्ता 1937 ई०
लिंग्विस्टिक पिक्युलियारिटीज ऑफ ज्ञानेश्वरी	—	एम० जी० पंसे	—	पूना 1951 ई०
लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इन्डिया	—	जी० ए० ग्रियर्सन	—	बो० 11, कलकत्ता 1905 ई०
वर्णरत्नाकर ऑफ ज्योतिरीश्वर	—	एडिटेड बाई एस० के० चटर्जी	—	कलकत्ता 1940 ई०
विल्सन्स फाइलोलोजिकल लेक्चर्स	—	आर० जी० भण्डारकर	—	—
वैदिक इंडेक्स	—	मैकडोनेल ऐण्ड कीथ	—	1912 ई०
वैदिक ग्रामर	—	डा० मैकडोनेल	—	4 प्रकाशन, 1955 ई०
सन्देशरासंक	—	एडिटेड बाई मुनि जिनविजय, लिंग्विस्टिक स्टडी बाइ एच० बी० भयाणी	—	बाम्बे 1946 ई०
साइंटिफिक हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लैंग्वेज	—	एस॰ एस॰ नरूला	—	1955

संस्कृत लैंग्वेज	—	टी॰ बुरो	—	लंडन 1955
हिस्ट्री ऑफ इंडिया	—	ए॰ आर॰ हार्नले ऐण्ड एच॰ ए॰ स्टार्क	—	कलकत्ता 1904 ई॰
हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश	—	जे॰ बी॰ तगारे	—	पूना 1948 ई॰
हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ इन्सक्रिपसनल प्राकृत्स	—	एम॰ ए॰ महेन्डले	—	पूना 1948 ई॰
हिस्टोरिकल लिंग्विस्टिक्स इन इन्डो आर्यन	—	एस॰ एम॰ कात्रे	—	बाम्बे 1954 ई॰

पत्र पत्रिकायें

अनेकान्त	—	सरसावा, सहारनपुर
इंडियन एंटीक्वैरी	—	बम्बई
इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली	—	—
एनल्स	—	भंडारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना
जर्नल ऑफ दि रायल ऐशियाटिक सोसाइटी	—	कलकत्ता
नागरी प्रचारिणी पत्रिका	—	काशी
सम्मेलन पत्रिका	—	प्रयाग

— — — —

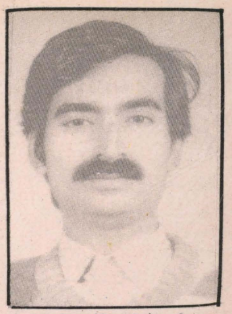

संपादक परिचय

डॉ० रमानाथ पाण्डेय का जन्म बिहार प्रान्त के नालन्दा जिलान्तर्गत मुरारपुर गाँव में एक श्रोत्रिय ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनकी स्कूली शिक्षा उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ शहर में और विश्वविद्यालयीय शिक्षा दिल्ली में हुयी। वर्तमान समय में ये बौद्ध विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली में शोध अध्येता के रूप में 'गाँधीवाद, बौद्ध, जैन एवं वेदान्त दर्शनों में कर्मसिद्धान्त' विषय पर शोध कार्य में संलग्न हैं।

ये संस्कृत, बौद्ध संस्कृत, पालि एवं प्राकृत के अच्छे विद्वान् हैं। इनको यह विद्या अपने पिताश्री स्वर्गीय डा० रघुनाथ पाण्डेय से उत्तराधिकार में भी मिली है जो संस्कृत-व्याकरण, भारतीय दर्शन एवं बौद्ध विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। संस्कृत के समान ही भोट भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था जिनकी असामयिक मृत्यु से भारतीय विद्या तथा संस्कृत जगत की अपूर्णीय क्षति का अनुभव देश विदेश के सभी विद्वानों को हुआ था।

संपादक की प्रकाशित अन्य कृतियाँ

(i) कालिदास के रूपकों की भाषा संरचना

(ii) विपश्यना विमर्श (अभिधम्मत्थ संगहो पर आधारित)

(iii) मिलिन्द टीका (संपादन एवं लिप्यान्तरण)

शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थ

(i) प्रमाण समुच्चय – (मूल एवं वृत्ति सहित)

(ii) विग्रह व्यावर्तनी – (हिन्दी अनुवाद विस्तृत भूमिका के साथ)

(iii) पालि-व्याकरण

लेखक

प्रस्तुत पुस्तक के मूल लेखक डॉ० परममित्र शास्त्री की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू और फारसी की घर पर ही दिलायी गयी तथा इन्होंने अपने पिता से हिन्दी भी सीखी थी। बाद में इन्हें गुरुकुल अयोध्या, फैजाबाद (उत्तर प्रदेश) में प्रवेश दिलाया गया। आर्य समाजी पद्धतियों से संस्कृत की बुनियादी तालीम मिली। गुरुकुलीय प्रणाली की संस्कृत शिक्षा प्राप्त करते हुये इन्होंने संस्कृत व्याकरण से संपूर्ण मध्यमा (चार खण्ड) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। संस्कृत के प्राचीन व्याकरण से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर बनारस आ गये। डी० ए० वी० इण्टर कॉलेज, बनारस से मैट्रिक और इण्टर की परीक्षा पास करते हुये वहाँ के प्राचार्य श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बेढव बनारसी जो कि हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य हास्यरस के कवि एवं कथाकार थे) के सम्पर्क में आये। वहीं पर अध्यापन कार्य में रत तथा बाद में वहीं के प्राचार्य पंडित सुधाकर पाण्डेय (भूतपूर्व सांसद तथा नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधानमंत्री) के सम्पर्क में आने पर इनका लगाव हिन्दी साहित्य की ओर हुआ। तत्पश्चात् बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से बी० ए० और एम० ए० करते समय हिन्दी के प्रख्यात विद्वान् आचार्य पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के सान्निध्य में आये।

संस्कृत की पृष्ठभूमि होने के कारण आचार्य द्विवेदी जी ने इन्हें हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों पर गवेषणा करने के लिये प्रेरित किया। एम० ए० की कक्षा में पढ़ाते हुये आचार्य द्विवेदी ने अपभ्रंश के प्रसिद्ध काव्य **पौउमचरिउ** (पद्मचरितम्) के पद्यों को तथा संदेशरासक के दोहों को पढ़ाते हुये अपभ्रंश के शब्दों की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति करने का निर्देश करते थे। इस कारण लेखक का अपभ्रंश के प्रति अत्यन्त अगाध निष्ठा एवं आकर्षण हुआ। बाद में इन्हीं निष्ठाओं के कारण शोध करते समय नागरीप्रचारिणी सभा काशी के प्रधान मंत्री पंडित सुधाकर पाण्डेय (भूतपूर्व सांसद) एवं इनके गुरू ने नागरीप्रचारिणी सभा में रहकर विस्तृत रूप से अपभ्रंश भाषा एवं व्याकरण पर शोधकार्य करने के लिए प्रेरित किया और सुविधायें भी प्रदान करवायी। उन्होंने आचार्य द्विवेदी के निर्देशन में **सूत्रशैली और अपभ्रंश व्याकरण** पर किये गये शोध कार्य को नागरीप्रचारिणी सभा से पुस्तक रूप में प्रकाशित भी करवाया।

लेखक की अन्य प्रकाशित कृतियाँ

आंचलिक उपन्यास

(i) करवटें
(ii) नैना निहारे तेरे ऑगन
(iii) गंगा की रेत

भाषा एवं व्याकरण

(i) व्याकरण पारिजात (हिन्दी व्याकरण)
(ii) हिन्दी भाषा का रचना विधान
(iii) सूत्र शैली एवं अपभ्रंश व्याकरण
(iv) हेमचन्द्र के अपभ्रंश सूत्रों की पृष्ठभूमि
(अपभ्रंश भाषा का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन)

शीघ्र प्रकाश्य

(i) तेरे द्वारे (आंचलिक उपन्यास)
(ii) अतीत के रेखाचित्र (संस्मरण)
(iii) हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
(iv) पाणिनि (उपन्यास)